राजशास्त्र के मूल सिद्धान्त

भाग २

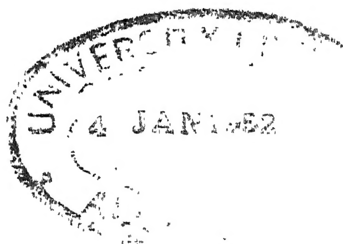
लेखक

डा० ब्रजमोहन शर्मा

एम. ए., एल-एल. बी., पी-एच. डी., डी. लिट्.

रीडर, राजनीति विभाग,

लखनऊ विश्वविद्यालय



प्रकाशक

जी० आर० भार्गव एन्ड सन्स

पुस्तक प्रकाशक तथा विक्रेता

चन्दौसी

१९५०]

[मूल्य ६)

मुद्रकः—पं० बन्नूलाल भार्गव
भार्गव [इलेक्ट्रिक] प्रिंटिंग वर्क्स, चन्दौसी।

दो शब्द

हमारा देश एक नवयुग में पदार्पण कर रहा है। राजनीतिक क्षेत्र में ही नहीं, वरन् प्रत्येक क्षेत्र में राष्ट्र की सर्वाङ्ग उन्नति की आवश्यकता दृष्टिगोचर हो रही है। किसी भी देश की उन्नति के लिये उसकी राष्ट्रीय भाषा की साहित्यिक वृद्धि परमावश्यक है। हिन्दी साहित्य में अभी तक राजनीतिक विषय की पुस्तकों का अभाव ही समझना चाहिये। राजशास्त्र का अध्यापक होने के नाते मैंने अपना धर्म समझा कि राजशास्त्र पर हिन्दी में प्रस्तुत पुस्तक लिखूँ। मैं अपने प्रयास में कहाँ तक सफल हुआ हूँ, यह तो पाठक ही निश्चित् कर सकेंगे।

पुस्तक को दो भागों में प्रकाशित किया जारहा है। इस द्वितीय भाग में भी ग्यारह अध्याय हैं जिनमें आदर्श-वाद, उपयोगिता-वाद, व्यक्ति-वाद, समाज-वाद, साम्य-वाद, अराजक-वाद, फासी-वाद, नाज़ी-वाद, राष्ट्र-वाद, अन्तर्राष्ट्र-वाद, साम्राज्य-वाद सिद्धान्तों और उस पर विविध राजशास्त्र वेत्ताओं के विचार प्रकट किये गये हैं। और यत्र-तत्र उनकी व्याख्या भी की गई है।

अभी तक यूरोपीय विद्वानों ने राजशास्त्र का स्रोत यूनान को ही माना है, उनका यह विचार भ्रममूलक है। अरस्तु तो केवल कौटिल्य का समकालीन था, किन्तु प्राचीन भारत में शुक्र, मनु, विदुर आदि ने भी राजशास्त्र पर गहन विचार किया था। उनके ग्रन्थों को ही राजशास्त्र का आदि स्रोत मानना अधिक उचित होगा। फिर रामायण और महाभारत में तो राजशास्त्र के विभिन्न पहलुओं सम्बन्धी बहुत कुछ सामग्री मिलती है। प्रस्तुत पुस्तक में मैंने भारतीय, यूनानी तथा अन्य यूरोपीय विचार-वेत्ताओं के सिद्धान्तों का वर्णन और संतुलन करने का उद्योग किया है।

जो पाठक गण पुस्तक की त्रुटियों को बताने तथा इसे अधिक सुन्दर बनाने में परामर्श देंगे उनका मैं आभारी हूँगा। यदि यह पुस्तक विश्वविद्यालयों और विद्यापीठों के राजनीति के विद्यार्थियों को उपयोगी सिद्ध हुई तो मैं अपने परिश्रम को और भी अधिक सफल समझूँगा।

राजनीति विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय
१५ जून, १९५०

ब्रजमोहन शर्मा

विषय-सूची

राजशास्त्र के मूल सिद्धान्त

अध्याय १२

आदर्शवाद

आदर्शवादी सिद्धान्त का आरम्भ पाश्चात्य राजशास्त्रवेत्ताओं के मतानुसार यूनान से बतलाया जाता है। परन्तु वास्तव में आदर्शवाद सिद्धान्त का मूलभूत आधार अति प्राचीनकाल के हिंदू शास्त्र तथा रामायण और महाभारत ऐतिहासिक पुस्तकें हैं। हिन्दू धर्म-शास्त्रों में आदर्श राज्य को रामराज्य के नाम से संबोधित किया गया है और आदर्श शासक को सदैव धर्मराज के नाम से पुकारा गया है। 'रामराज्य' और 'धर्मराज' ये दो शब्द इस बात के प्रतीक हैं कि अतिप्राचीन काल के मनु, व्यास, शुक्राचार्य, विदुर, आदि राजशास्त्रवेत्ता, और दार्शनिकों के मतानुसार राज्य तथा राजा दोनों को आदर्श समझा जाता था। इन लोगों का मत है कि राजा ही सब प्रकार के नैतिक, धार्मिक, तथा सामाजिक जीवन में प्रजा का आदर्श है और प्रजाजन उसका अनुकरण करते हैं। राजा का कर्तव्य प्रजा के सन्मुख एक ऐसा आदर्श जीवन उपस्थित करना था कि जिसका अनुकरण करके प्रजाजनों की सब प्रकार की उन्नति होसके। राज्य का आदर्श और ध्येय प्रजा की नैतिक तथा राजनैतिक उन्नति करना था। राजा को सदैव इस बात का ध्यान रहता था कि प्रजा की आचारिक, बौद्धिक दैहिक तथा आत्मिक उन्नति हो। राज्य के संपूर्ण विभाग इन्हीं उद्देश्यों के आधार पर कार्य करते थे। यही कारण है कि उस समय नल, नील जैसे यंत्रविद्, व्यासमुनि जैसे ऐतिहासिक, कण्व जैसे ऋषि, शुक्राचार्य जैसे राजनीतिज्ञ, शल्य जैसे शल्य-चिकित्सक उत्पन्न हुए। केवल यही नही, उस समय में वायुयान, वाष्पयान, विद्युत् यंत्र आदि के आविष्कार भी हुए।

आदर्शवाद सिद्धान्त का ध्येय मनुष्य की आत्मिक, आध्यात्मिक, तथा नैतिक उन्नति करना है। इसी लिए कुछ विद्वानों ने इस सिद्धान्त को आध्यात्मवाद सिद्धान्त, दार्शनिक सिद्धान्त, और रहस्यवाद के नाम से संबोधित किया है! इस विचार से कि श्रेष्ठ राजा ही प्रजा का आदर्श होता है और ऐसे ही राजा के रामराज्य में प्रजा की सब प्रकार की उन्नति हो सकती है प्राचीनकाल में आदर्शवाद को पूर्ण स्वैरितावाद के नाम से भी संबोधित किया गया है।

प्राचीनकाल के पाश्चात्य राजशास्त्र दार्शनिकों में प्लेटो और अरस्तु

अधिक प्रसिद्ध हुए हैं। अरस्तू को तो आजकल के राजशास्त्रवेत्ता अपना गुरु मानते हैं और सर फ्रैड्रिक पॉलक ने तो यहां तक कहा है कि जिस प्रकार हिन्दू लोग प्रत्येक श्रेष्ठ कार्य करने के पूर्व गणेश जी का अर्चन करते हैं उसी प्रकार प्रत्येक राजशास्त्रवेत्ता को राजशास्त्र संबंधी कार्य करने के पूर्व अरस्तू का स्मरण करना चाहिए। प्लेटो और अरस्तू का विचार है कि राज्य एक नैसर्गिक और आवश्यक संस्था है। राज्य द्वारा ही मनुष्य की सब प्रकार की उन्नति हो सकती है। प्लेटो और अरस्तू ने राज्य का वही ध्येय माना है जो प्राचीन काल के हिंदू ऋषि, मुनि और दार्शनिकों ने माना था। अरस्तू का विचार है कि राज्य सब से प्राचीन संस्था है, राज्य का आरम्भ कुटुम्ब के रूप में हुआ। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुटुम्ब की स्थापना हुई और नैतिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए राज्य की स्थापना हुई। राज्य सर्वश्रेष्ठ नैतिक संस्था है। अरस्तू का कथन है कि मनुष्य की शारीरिक, बौद्धिक, नैतिक राजनैतिक, आत्मिक और आध्यात्मिक, सब प्रकार की उन्नति राज्य में रह कर ही हो सकती है। मनुष्य जीवन के लिए राज्य अत्यन्त आवश्यक है। जो मनुष्य राज्य की आवश्यकता नहीं समझता अथवा राज्य से पृथक रहना चाहता है वह 'या तो पशु है या देवता'। मध्यकालीन और आधुनिककाल के आदर्शवादियों ने प्लेटो और अरस्तू के इन विचारों को ही अपने सिद्धान्त का आधार माना है। इन आदर्शवादियों पर अरस्तु की अपेक्षा प्लेटो के विचारों का अधिक प्रभाव पड़ा है। इन आदर्शवादियों का मत है कि नैतिकता का राजनीति से घनिष्ट संबंध है, राज्य तथा समाज में कोई भेद नहीं है और राज्य में आवयविक एकता है। जिस प्रकार शरीर के प्रत्येक अवयव का शरीर से घनिष्ट सम्बन्ध है और शरीर से पृथक होकर शरीर का अवयव जीवित नहीं रह सकता उसी प्रकार मनुष्य के राजनैतिक समाज की दशा है। मनुष्य का राजनैतिक समाज से घनिष्ट संबंध है। राज्य से पृथक होकर मनुष्य किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता है। राज्य की उन्नति में प्रत्येक मनुष्य का भाग लेना आवश्यक है। मनुष्य के वैयक्तिक कुकर्म से समाज पर दूषित प्रभाव पड़ता है। अतः आदर्शवादियों ने प्रत्येक मनुष्य के नैतिक जीवन पर बड़ा जोर दिया है। उनका कथन है कि मनुष्य के वैयक्तिक जीवन का कोई अस्तित्व नहीं है। एक राजनैतिक संस्था का अंग बनाकर ही उसका जीवन विशेषता का महत्व रखता है। राज्य से पृथक हुए व्यक्ति को "एक अनैतिक अनुचयन"* बतलाया गया है।

* जेम्स सेथ—एथिकल प्रिंसिपल्स, पृष्ठ २२८।

रोमन लोगों की यूनान विजय के पश्चात् यूनानी दार्शनिक विचारों का अन्त होगया। रोमन लोगों ने भी इस ओर ध्यान न दिया, उनका सिद्धान्त था रोमन साम्राज्य की स्थापना और विधान व्यवस्था और ऐक्य स्थापित करना। रोमन लोगों ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' मनोवृत्ति को जागृत किया। उस समय विश्व-बन्धुता के विचारों की उन्नति हुई और इस काल में हमको आदर्शवाद के अस्तित्व का पता नहीं चलता है।

मध्यकालीन यूरोप में राज्य और ईसाई धर्म का पारस्परिक झगड़ा आरम्भ हुआ। ईसाई धर्म के पादरी ईसाई-संसार में अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते थे, और राजा लोग अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते थे। इस पारस्परिक युद्ध में कभी राजाओं और कभी पोपों की विजय हुई। यह झगड़ा लगभग एक सहस्त्र वर्ष तक चलता रहा। सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में इस झगड़े ने बड़ा विकट रूप धारण किया क्योंकि इस समय लूथर ने प्रौटेस्टेन्ट धर्म का प्रचार किया और रोमन कैथौलिक धर्म के दोषों का भंडाफोड़ किया। राजाओं को पादरियों का विरोध करने का अवसर मिला और नवीन प्रौटेस्टेन्ट धर्म को ग्रहण करके पोपों का विरोध किया। लगभग दो सौ वर्ष तक यूरोप में साम्प्रदायिक युद्ध होते रहे जिनमें बड़े २ अत्याचार तथा हत्याएँ हुईं। राजनैतिक तथा धार्मिक अत्याचारों का प्रभाव यह हुआ कि लोगों के हृदय में धर्म के प्रति कुछ उदासीनता सी उत्पन्न हुई। धार्मिक सुधारों (Reformation) और पुनरुत्थान (Renaissance) के कारण जनता की मनोवृत्ति में परिवर्तन हुआ। प्राचीन यूनानी तथा लेटिन साहित्य के अध्ययन की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ और वास्तविक आत्मिक शांति की खोज की जिज्ञासा ने लोगों को उत्क्रान्त किया और इस ध्येय की प्राप्ति के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयत्न किये गये। इसी समय इंग्लैण्ड में सर टामस मोर (Sir Thomas Moie) ने 'यूटोपिया' (Utopia) नामक ग्रंथ प्रकाशित किया जिसमें रामराज्य का चित्रण किया गया। 'यूटोपिया' में मोर ने एक भावी आदर्श राज्य का चित्र खींचकर जनता के सम्मुख उपस्थित किया। मोर का 'यूटोपिया' प्लेटो के उन भावों से ओत-प्रोत था जो उसने अपने 'रिपब्लिक' (Republic) नामक ग्रंथ में प्रकट किये हैं। परन्तु 'यूटोपिया' के देखने से पता चलता है कि मोर पर प्लेटो के आदर्शवादी विचारों का इतना प्रभाव नहीं पड़ा है जितना उसके साम्यवादी विचारों का प्रभाव उस पर पड़ा है। धार्मिक-सुधार (Reformation) आन्दोलन का लोगों पर यह प्रभाव पड़ा कि उन्होंने राजनैतिक समाज में मनुष्य के व्यक्तित्व की महत्ता को समझा और इस

प्रकार यह आन्दोलन व्यक्तिवादी सिद्धान्त का आधार बना। आधुनिककाल के व्यक्तिवादी सिद्धान्त की आधार शिला सुधार आन्दोलन ही है। इस आन्दोलन के पश्चात् अठारहवीं शताब्दी में औद्योगिक क्रांति हुई। इस क्रांति का परिणाम यह हुआ कि मनुष्यों के सामाजिक संगठन में परिवर्तन हुए और इन परिवर्तनों के साथ साथ उनके राजनैतिक विचारों में भी परिवर्तन हुए। व्यक्तिवाद, राष्ट्र-वाद, प्रतियोगितावाद और व्यापारवाद सिद्धान्तों का उदय हुआ। प्रतियोगितावाद और व्यापारवाद ने "पूंजीवाद पर अप्रतिहत आक्रमण करनेके लिए परस्पर सहयोग किया।" * इसी शताब्दी में रूसो का "सामाजिक अनुबन्ध" (Social Contract) प्रकाशित हुआ जिसके कारण यरोप के राजनीतिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। रूसो ने प्राचीनकाल के यूनानी और रोमन राजशास्त्रों का अध्ययन किया। यूनानी राजनीतिक गण-राज्यों के सिद्धान्तों का उस पर बड़ा प्रभाव पड़ा। यूनानी नगर-राज्यों की ओर उसका ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट हुआ और इन राजनैतिक संस्थाओं का उस पर बड़ा प्रभाव पड़ा। इसी प्रभाव के कारण उसे 'सामाजिक अनुबन्ध' नामक ग्रंथ लिखने की अन्तःप्रेरणा हुई। और उसने सामान्य-इच्छा सिद्धान्त की स्थापना की। रूसो के विचारों पर प्लेटो के आदर्शवादी सिद्धान्तों का सब से अधिक प्रभाव पड़ा है। इसी प्रभाव के कारण उसने लॉक के व्यक्तिवादी सिद्धान्त का खंडन किया है और अपने 'सामाजिक अनुबंध' में उसने समष्टिवाद पर जोर दिया है। उसकी 'सामान्य-इच्छा' समष्टिवाद ही का साकार स्वरूप है। रूसो ने अपने इस ग्रंथ में राज्य को आदर्श अवयव-संस्थान बतलाया है और जनसम्मत सिद्धान्त का स्पष्टी-करण किया है। रूसो का मत है कि राज्य एक आदर्श संवास है, राज्य में रह कर ही मनुष्य की आत्मिक और आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है, समाज से पृथक होकर मनष्य का कोई व्यक्तित्व नहीं रहता है, राज्य में रह कर ही मनुष्य बुद्धि-मान, चतुर और ज्ञानी बन सकता है, राज्य से पृथक रह कर मनुष्य किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता। वर्तमान काल में सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जो उन्नति दिखाई देती है वह सब राज्य में रह कर ही हुई है। मनुष्य की व्यक्तिगत तथा सामूहिक उन्नति के लिए राज्य आवश्यक है। मनुष्य की आचारिक उन्नति का कारण राज्य ही है। आदर्श राज्य में ही मनुष्य की सब प्रकार की नैतिक उन्नति सम्भव है। प्रत्येक मनुष्य राज्य की उन्नति करने में सहायक होता है और राज्य की उन्नति पर ही व्यक्तिगत उन्नति निर्भर है।

* जे. ब्राउन—इंगलिश पोलीटिकल थ्यौरी, पृष्ठ २६।

रूसो का प्रभाव जर्मन आदर्शवादी इमैन्युअल कैन्ट (Emmanuel Kant) जार्ज विल्हैल्म हेगिल (George Wilhelm Hegel), और अंग्रेज आदर्शवादी ग्रीन (Green), बोसांके (Bosanquet) आदि पर पड़ा है। इमैन्युअल कैन्ट (१७२४–१८०८) का मत है कि सब मनुष्य स्वभावतया समान और स्वतन्त्र हैं, लोगों ने अनुबंध द्वारा अपने व्यक्तिगत नैसर्गिक अधिकारों को सब लोगों को सौंप दिया है, और इस प्रकार राज्य की स्थापना हुई है। उसका विचार है कि सर्वोच्च-सत्ता लोगों में विद्यमान है और लोगों की सामान्य इच्छा ही विधानों का स्रोत है। राज्य का कार्य विधान निर्माण करना, कार्यकारिणी संबंधी कार्य करना तथा न्याय संबंधी कार्य करना है। उसका मत है कि विधान-निर्मात्री तथा कार्यकारिणी संस्थाएँ एक दूसरे से स्वतन्त्र रहेंगी तो शासन कार्य में सुगमता होगी और जनता की स्वतन्त्रता सुरक्षित रहेगी। राज्य स्वेच्छाचारी, कुलीनतंत्र अथवा जनतंत्र हो सकता है। शासन प्रबंध भी निरंकुश अथवा प्रजा-तांत्रिक हो सकता है। कैन्ट के ऊपर फ्रैंच क्रांति का बड़ा प्रभाव पड़ा, वह क्रांति के विरुद्ध था उसका विश्वास है कि राज्य में सुधार करने के लिए क्रांति की आवश्य-कता नहीं है। राजा स्वयं वैधानिक रीति से सुधार कर सकता है। राष्ट्रीय राज्य में सम्मिलित तथा सुसंस्थित जीवन संभव नहीं है। उसने मनुष्य की व्यक्तिगत इच्छा की स्वतन्त्रता पर जोर दिया है। उसका कथन है कि राज्य को मनुष्य के जीवन के प्रत्येक कार्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। वाह्य विषयों में राज्य अन्य राज्यों से पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं रह सकता। संसार में स्थायी रूप से शांति स्थापित रखने के लिए यह आवश्यक है कि किसी निश्चित सीमा तक राज्य एक दूसरे से सम्बद्ध रहें। अतः वह संघीय संगठन के पक्ष में था। वह चाहता था कि यूरोप में एक ऐसा राष्ट्र-संघ स्थापित किया जाय जिसके सब राज्य सदस्य हों। वह एक विश्व-संघ स्थापित करने के पक्ष में था। युद्ध से राज्यों को सुर-क्षित रखने के लिए वह राज्यों की आर्थिक दशा को सुधारने के पक्ष में था। उसका विचार था कि यदि राज्यों की आर्थिक दशा सुधर जायगी तो वे युद्ध का विचार कभी नहीं करेंगे।

जॉन फिख्टे (John Fichte) कैन्ट का समकालीन था। वह भी एक जर्मन आदर्शवादी था। उसने मनुष्य के नैसर्गिक अधिकारों, व्यक्तिगत अधिकारों और जनतंत्र पर अधिक जोर दिया है। उसके विचार समाजवाद की ओर झुके हुए प्रतीत होते हैं। उसका विचार है कि राज्य को मनुष्य की बौद्धिक, नैतिक, आत्मिक और आध्यात्मिक उन्नति की ओर ध्यान देना चाहिए।

हैगिल (१७७०–१८३१) पर कैंट के विचारों का प्रभाव पड़ा था।

हैगिल का विचार है कि राज्य एक प्राकृतिक अवयव संस्थान है। वह राज्य को एक जीवित संस्था समझता था। उसके मतानुसार मनुष्य का व्यक्तिगत अस्तित्व राज्य में रह कर ही स्थापित रह सकता है। यूनानी दार्शनिकों के समान वह नागरिक को समाज का एक विशिष्ट अंग समझता था। उसका मत है कि नागरिक का अस्तित्व राज्य के लिए है। राज्य की प्रगति में प्रत्येक मनुष्य का भाग है। वैधानिक राजतंत्रीय राज्य को वह आदर्श राज्य समझता था। जनतंत्र की अपेक्षा राजतन्त्र को वह अधिक श्रेष्ठ समझता था। वह कैन्ट की भांति अधिकार-विभाजन के पक्ष में नहीं था। उसका विचार था कि राज्य में ऐक्य स्थापित रखने के लिए शासन कार्यों का परस्पर सहयोग आवश्यक है। एक राजतंत्र में वह राज्य की विधाननिर्माण, कार्यकारिणी तथा न्याय का एकत्रीकरण समझता था। वैदेशिक विषयों में प्रत्येक राज्य को वह एक दूसरे से स्वतन्त्र समझता था। उसका मत है कि प्रत्येक राज्य पूर्णरूप से एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं और सब राज्य एक-दूसरे से संधि कर सकते हैं और आवश्यकता पड़ने पर उस संधि की अवहेलना भी कर सकते हैं। कोई शक्ति राज्यों को एक दूसरे से संबद्ध नहीं कर सकती। राज्य में सदैव शांति स्थापित रहने से अकर्मण्यता आ जाती है और भ्रष्टाचार फैल जाता है। अतः राज्यों में पारस्परिक युद्ध आवश्यक है। राज्य को शक्तिशाली बनाने के लिए युद्ध अनिवार्य है। कभी कभी युद्ध करने से राज्य में आन्तरिक अशांति का अवरोध होता है और राज्य की शक्ति बढ़ती है। राज्य में वीर तथा साहसी नागरिकों का एक सुसंगठित समुदाय होना चाहिए जिनका कार्य युद्ध करना तथा अपने देश के लिए अपने प्राणों की बलि देना होना चाहिए। फिख्टे के समान उसका भी यह विचार है कि प्रत्येक राष्ट्र के विशिष्ट भाष और संस्कृति होती है। अपने देश की स्वतन्त्रता ही प्रत्येक नागरिक का आदर्श होना चाहिए।

विल्हैल्म वान हम्बोल्ट (Wilhelm Von Humbolt) भी एक प्रसिद्ध जर्मन आदर्शवादी था। उसका मत है कि मनुष्यों ने अपने व्यक्तिगत हितों को सुरक्षित रखने के लिए एक अनुबन्ध द्वारा राज्य की स्थापना की है। उसका मत है कि राज्य ही स्वयं ध्येय नहीं है वह तो मनुष्यों की सब प्रकार की उन्नति का एक साधन है। मनुष्य की शारीरिक, नैतिक, बौद्धिक तथा आत्मिक उन्नति केवल राज्य द्वारा ही हो सकती है। मनुष्य को व्यक्तिगत उन्नति करने का अवसर देना राज्य का कर्तव्य है। मनुष्य को पूर्ण व्यक्तिगत स्वतंत्रता होनी चाहिए। राज्य का कर्तव्य यह है कि वह मनुष्यों की व्यक्तिगत उन्नति में बाधा डालने वाले अवरोधों का निरोध करे और पारस्परिक झगड़ा करने वाली

बातों को रोके। उसे सार्वजनिक हित के लिए सक्रियात्मक कार्य करने की आवश्यकता नहीं है। नागरिकों के व्यक्तिगत कार्यों में राज्य को अधिक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से लोगों में प्रेरणा-शक्ति का ह्रास होता है और उनमें अकर्मण्यता आती है। राज्य को केवल उसी समय हस्तक्षेप करना चाहिए जब बाह्य आक्रमणों से रक्षा करने की आवश्यकता हो अथवा राज्य में आन्तरिक शांति और व्यवस्था स्थापित करनी हो। वह जनतंत्र के विरुद्ध था।

अधिकांश जर्मन आदर्शवादियों ने नागरिकों की अपेक्षा राज्य को अधिक महत्व दिया है। राज्य के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने प्राण तक न्यौछावर कर देने चाहिए। उन्होंने राज्य को पृथ्वी पर देवता के तुल्य समझा है, राज्य की आज्ञा का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्तव्य है। राज्य को महान बनाने में ही राष्ट्र महान बन सकता है। राज्य को महान बनाने के लिए राज्य का शक्तिशाली होना आवश्यक है। इसके साथ साथ राज्य का विस्तार भी बढाना चाहिए। वैदेशिक विषयों में राज्य पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है। अन्तर्राष्ट्रीय विधानों को मानना राज्य के लिए आवश्यक नहीं है। राज्य अन्तर्राष्ट्रीय संधियां कर सकता है परन्तु यदि कोई संधि राज्य के लिए अहितकर हो तो उसका उल्लंघन किया जा सकता है। राज्य का हित सब से पहले है। राज्य के हित के लिए ही राज्य की स्थापना हुई है। जनतन्त्र की अपेक्षा राजतन्त्र राज्य के लिए अधिक हितकर है अतः प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि राज्य की आज्ञाओं का पालन निःसंकोच किया जाय। इन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर जर्मनी में लगभग एक सौ वर्षों से कार्य हो रहा है। लोगों में राष्ट्रीयता के भाव जागृत किये जा रहे हैं और राज्य तथा राष्ट्र के लिए सर्वस्व बलिदान करने की शिक्षा दी जा रही है। सन् १९३९–४५ के महायुद्ध ने इस बात को पूर्णरूप से सिद्ध कर दिया है।

अंग्रेजी आदर्शवादी सिद्धांत—अंग्रेजी आदर्शवादियों के सिद्धान्त के आधार, यूनानी आदर्शवाद, रूसो तथा जर्मन आदर्शवाद हैं। अंग्रेजी आदर्शवादियों में टी. एच. ग्रीन (T.H. Green), एफ. एच. ब्रैडले (F. H. Bradley), और बी. बोसांके (B. Bosanquet) सब से प्रसिद्ध हैं। जब प्लेटो और अरस्तू की पुस्तकों का पठन पाठन औक्सफर्ड (Oxford) विश्वविद्यालय में आरम्भ हुआ तभी से आदर्शवाद के विचारों का वहां उदय हुआ। यूनानी दार्शनिकों के इस विचार का कि "मनुष्य स्वभावतया राजनैतिक समुदाय का सदस्य है और राज्य एक ऐसा अवयवी-संस्थान हैं जिसमें इच्छा-शक्ति विद्यमान है और श्रेष्ठ-जीवन की प्रगति के लिए जिसका अस्तित्व है" इंग्लैण्ड के दार्शनिकों के विचारों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने इन्हीं विचारों को अपने सिद्धान्त का मूलभूत आधार

बनाया है। रूसो की 'इच्छा' तथा 'स्वतन्त्रता' की नैतिक कल्पना ही जर्मन आदर्शवाद का आधार है। जर्मन आदर्शवाद में भी राज्य को नैसर्गिक अवयवी संस्थान माना गया है और रूसो की सामान्य इच्छा का स्रोत भी जन-साधारण को माना गया है। इन बातों को अंग्रेज आदर्शवादियों ने अपने सिद्धान्त में सम्मिलित कर लिया है। जर्मन आदर्शवादी सिद्धान्त में थोड़ा सा संशोधन करके अंग्रेज आदर्शवादियों ने अपने सिद्धान्त की स्थापना की है।[२] जर्मन आदर्शवाद का स्वेच्छाचारी राजतन्त्र में पूर्ण विश्वास है। परन्तु अंग्रेजी आदर्शवाद में वैधानिक राजतन्त्र पर जोर दिया गया है।[१] जर्मन आदर्शवाद अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की अवहेलना करता है। अंग्रेजी आदर्शवाद उसको सम्मान की दृष्टि से देखता है और अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्यों के पालन करने का आदेश करता है। उन्नीसवीं शताब्दी की इंग्लैण्ड की आर्थिक दशा तथा भौतिकवादी सभ्यता का वहां के आदर्शवाद पर बड़ा प्रभाव पड़ा। अंग्रेजी आदर्शवाद इस बात के पक्ष में है कि मनुष्य की सब प्रकार की व्यक्तिगत उन्नति राज्य ही की सहायता से हो सकती है।[३] राज्य एक सुसंगठित अवयवी शरीर है जिसके अवयव मनुष्य हैं। प्रत्येक मनुष्य राज्य रूपी शरीर का एक अवयव है और राज्य का यह कर्तव्य है कि मनुष्यों के व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा करे। इस सिद्धान्त के अनुसार राजनैतिक सिद्धान्त की नैतिक सिद्धान्त की दृष्टि से कल्पना की गई है।

टी० एच० ग्रीन (१८३६–१८८२)—ग्रीन इंगलैण्ड का बड़ा प्रसिद्ध आदर्शवादी था, इसके सिद्धान्त का आधार यूनानी दार्शनिक प्लेटो और अरस्तू हैं। इसके ऊपर प्लेटो और अरस्तू का बड़ा प्रभाव पड़ा। उसका विचार है कि राज्य एक स्वाभाविक और आवश्यक वस्तु है। मनुष्य सामुदायिक जीवन का एक अभिन्न अंश है। मनुष्य समुदाय में रह कर ही सब प्रकार की उन्नति कर सकता है। राज्य तथा मनुष्य समुदाय में कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और समाज से पृथक रह कर मनुष्य का जीवन व्यर्थ है उसी प्रकार मनुष्य एक राजनैतिक प्राणी है और राजनैतिक संगठन से पृथक होकर मनुष्य की उन्नति नहीं हो सकती है। यूनानी दार्शनिकों और ग्रीन के आदर्शवादी सिद्धान्तों में थोड़ा सा भेद है। प्लेटो और अरस्तू के मतानुसार राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को सब प्रकार की उन्नति करने के अधिकार प्राप्त न थे। केवल यूनानी नागरिकों (हैलन्स) को ही सब प्रकार के राजनैतिक अधिकार प्राप्त थे। दासों (हैलट्स) और अदेशियों को राजनैतिक अधिकार प्राप्त न थे। और न इन लोगों की बौद्धिक, शारीरिक, आत्मिक और आध्यात्मिक उन्नति की ओर ही अधिक ध्यान दिया जाता था। परन्तु ग्रीन के

आदर्शवाद में राज्य के प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान स्थान है। ग्रीन का मत है कि राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को शारीरिक, बौद्धिक, आत्मिक और आध्यात्मिक उन्नति करने का अधिकार है। राज्य के सब मनुष्य समान हैं। उनमें किसी प्रकार का भेदभाव नहीं है। प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तिगत हितों का संबंध समुदाय के हितों से है। समुदाय की भलाई ही में व्यक्तिगत भलाई है। प्लेटो की अपेक्षा ग्रीन पर अरस्तू का अधिक प्रभाव पड़ा है। अरस्तू का यह मत है कि राज्य का यह कर्तव्य है कि प्रत्येक व्यक्ति को लोक-हित का कार्य करने के लिए प्रेरित करे और इसी ध्येय को सामने रख कर लोगों को शिक्षा दी जाय कि प्रत्येक व्यक्ति आत्मतुष्टि और आत्म-अनुभूति को अपना ध्येय बनाये क्योंकि जब प्रत्येक मनुष्य इस प्रकार अपनी आत्मोन्नति करेगा तो समाज की अपने आप उन्नति हो जायगी। अतः ग्रीन ने मनुष्य की व्यक्तिगत उन्नति की ओर अधिक ध्यान दिया है और इसी में लोकहित बतलाया है। सामान्यहित को ही उसने सर्वश्रेष्ठ कार्य और मनुष्य का परम धर्म समझा है। ग्रीन के सिद्धान्त के अनुसार आत्मोन्नति, आत्म-तुष्टि, स्वहित लोकहित, लोकोपकार आदि शब्दों का अर्थ एक ही है और एक दूसरे का परस्पर घनिष्ट संबंध है।

रूसो के सिद्धान्त का भी ग्रीन पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। ग्रीन ने रूसो के आचारिक अथवा नैतिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी सिद्धान्त को अपनाया है। रूसो के समान ग्रीन ने भी इस बात पर जोर दिया है कि मनुष्य को नैतिक-स्वतन्त्रता होनी चाहिए। नैतिक-स्वतन्त्रता प्रत्येक व्यक्ति का नैसर्गिक अधिकार है। बिना नैसर्गिक स्वतन्त्रता के मनुष्य का जीवन व्यर्थ है। राज्य का यह कर्तव्य है कि प्रत्येक मनुष्य को नैसर्गिक स्वतन्त्रता प्राप्त कराने में सहायक हो। ग्रीन ने इस विषय में रूसो के सिद्धान्त में संशोधन किया है। उसने दो प्रकार की स्वतन्त्रता बतलाई है, एक नकारात्मक और दूसरी वास्तविक। ग्रीन ने स्वतन्त्रता की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि वास्तव में मनुष्य की स्वतन्त्रता का उद्देश्य आत्म-चेतना की प्राप्ति करना है। प्रत्येक सदेच्छा ही स्वतन्त्रता है। कुचेष्टा स्वतन्त्रता नहीं है। मनुष्य को अपनी बुद्धि का प्रयोग करके प्रत्येक कार्य करना चाहिए, प्रेक्षा और विचार-शक्ति का प्रयोग करके प्रत्येक कार्य को करना ही वास्तविक स्वतन्त्रता है। मनुष्य की विचारशक्ति युक्ति का प्रयोग करते हुए आत्मोन्नति करनी चाहिए। यही नैतिक स्वतन्त्रता है। इच्छा तथा प्रेक्षा द्वारा प्रत्येक कार्य को करना ही नैतिक स्वतन्त्रता कहलाता है। अनुचित तथा दूषित कार्य करना स्वतन्त्रता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को इस प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त कराना राज्य का परम कर्तव्य है। राज्य का यह ध्येय है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुद्धि तथा युक्ति के

अनुसार कार्य करने का अवसर दे और जो जो बाधाएँ उसके मार्ग में आये उन्हें हटाने का प्रयत्न करे। प्रेक्षा-युक्त कार्य ही स्वतन्त्र कार्य है। यही सिद्धान्त हैगिल का भी है। इस प्रकार ग्रीन पर हैगिल का भी प्रभाव पड़ा है। रिशी (Ritchie) का कथन है कि ग्रीन ने हैगिल के इस सिद्धान्त को अपनाया है कि राज्य का ध्येय मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की प्राप्ति है और किसी विशेष इच्छा की पूर्ति ही स्वतन्त्रता नहीं है बल्कि सब प्रकार की सदेच्छाओं की पूर्ति करते हुए पूर्ण आत्मोन्नति करना ही वास्तविक स्वतन्त्रता है। ग्रीन के सिद्धान्त में कैन्ट के सिद्धान्त का भी समावेश है। कैन्ट का मत है कि "वह व्यक्ति स्वतन्त्र है जिसे इस बात की आत्मचेतना है कि मैं अपने बनाये हुए विधानों का पालन करता हूँ।" परन्तु ग्रीन हैगिल के इस मत को नहीं मानता है कि "प्रत्यक्ष ही युक्तिमूलक तथा युक्तिमूलक ही प्रत्यक्ष है।" ग्रीन का मत है कि व्यक्तिगत उन्नति के लिए नैतिकता का होना अत्यन्त आवश्यक है।

ग्रीन का राज्य-सिद्धान्त--ग्रीन का विचार है कि मनुष्य की व्यक्तिगत नैतिक उन्नति के लिए राज्य एक परम आवश्यक संस्था है। मनुष्य की सामान्य इच्छा ही राज्य है। राज्य सर्व शक्तिमान सत्ता नहीं है। राज्य अनेक प्रकार के वाह्य तथा आन्तरिक प्रतिबंधों के कारण एक परिमित शक्ति है। वाह्य विषयों में राज्य अन्तर्राष्ट्रीय अनुबंधों तथा संधियों द्वारा सीमित है। अन्तर्राष्ट्रीय संधियों को मानना राज्य का कर्तव्य है। आधुनिक काल में औद्योगिक उन्नति तथा अन्य आविष्कारों के कारण राज्यों में पारस्परिक संबंध स्थापित रहना अनिवार्य हो गया है। अतः ग्रीन का विचार है कि अन्तर्राष्ट्रीय औद्योगिक, व्यावसायिक, आर्थिक तथा अन्य प्रकार की आवश्यक संधियों का मानना और निभाना राज्यों के लिए परम आवश्यक है। आन्तरिक विषयों में भी राज्य का कार्यक्षेत्र सीमित है। उसका विचार है कि राज्य में मनुष्य को सब प्रकार की व्यक्तिगत तथा सामूहिक उन्नति करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। जहां जहां लोगों की व्यक्तिगत तथा सामूहिक उन्नति में बाधाएँ उपस्थित हों, वहीं वहीं राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिए और उन बाधाओं का निरोध अथवा निवारण करना चाहिए। मनुष्य के श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने में राज्य को किसी प्रकार से बाधक नहीं होना चाहिए, अपितु उसके श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने में बाधक होने वाले निग्रहों का निवारण करना चाहिए। अतः राज्य का कर्तव्य "अवरोधों का निरोध करना" है। ग्रीन का विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति की आत्मअनुभूति में राज्य को सहायक होना चाहिए और इस प्रकार की परिस्थिति राज्य को उपस्थित

करनी चाहिए जिससे प्रत्येक व्यक्ति आत्म-ज्ञान प्राप्त कर सके। प्रत्येक मनुष्य को व्यक्तिगत व्यापक अधिकारों की रक्षा करनी चाहिए और मनुष्यों के इन अधिकारों में राज्य को किसी प्रकार से हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह जितनी भी उन्नति करना चाहे, करे और राज्य उसे उन्नति करने का अवसर दे और उसमें किसी प्रकार से बाधक न हो। मनुष्य के संपूर्ण अधिकार उसकी नैतिक उन्नति के आधार है। इन्हीं अधिकारों के द्वारा मनुष्य की आचारिक उन्नति होगी, अतः राज्य का यह कर्तव्य है कि ऐसे व्यापक अधिकारों को प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त कराने में सहायता करे जिससे प्रजा का नैतिकस्तर ऊँचा हो और जन-साधारण में सद्विचार और सद्भावनायें उत्पन्न हों।

ग्रीन का कथन है कि समाज से पृथक हुए मनुष्य के अधिकारों का कोई अस्तित्व नहीं। केवल समाज में रह कर ही मनुष्य के अधिकार उत्पन्न होते हैं। परन्तु उसका मत है कि प्रत्येक समाज में मनुष्य के अधिकार उत्पन्न नहीं होते। उसके मतानुसार केवल उसी समाज में मनुष्य के अधिकार उत्पन्न होते हैं जिस समाज के सदस्य लोकहित को अपना हित समझें और यह समझें कि जन-साधारण के सामान्य-हित में ही उनका व्यक्तिगत हित भी सम्मिलित है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य के अधिकार और कर्तव्य समाज में उत्पन्न होते हैं और समाज पर ही निर्भर हैं। अतः यह आवश्यक है कि प्रत्येक समाज में मनुष्य एक दूसरे के अधिकारों को समझें और उन्हें स्वीकार करें। अतः राज्य का यह कर्तव्य है कि वह बलपूर्वक मनुष्यों के अधिकारों को प्रचलित कराये और मनवाये। मनुष्यों की नैतिक उन्नति के लिए यह बात अत्यन्त आवश्यक है और अनिवार्य है। राज्य बल का प्रयोग कर सकता है और उसे बल प्रयोग करने का अधिकार है क्योंकि राज्य मनुष्यों की सामान्य इच्छा का प्रतीक है और सामान्य इच्छा का अभिप्राय है लोक-हित के ध्येय की सामान्य चेतना। अर्थात् जन-साधारण के हित को ध्यान में रखते हुए राज्य के प्रत्येक कार्य का संचालन होना चाहिए। राज्य का ध्येय सदैव लोकहित होना चाहिए। और राज्य के कर्ता-धर्ता सर्व-साधारण ही होते हैं, अतः सामान्य इच्छा ही राज्य की सर्वोच्च सत्ता है। इसीलिए ग्रीन ने एक स्थान पर लिखा है कि "बल नहीं बल्कि इच्छा ही राज्य का आधार है" (Will, not force, is the basis of the state).

ग्रीन का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार है। यदि राज्य की आज्ञायें विधान के विरुद्ध हों, अथवा राज्य ऐसे कार्य करे जिससे लोक का अहित हो और जनसाधारण को कष्ट पहुँचे अथवा लोगों में नैतिक

दोष फैलने की संभावना हो तो ऐसी दशा में प्रत्येक व्यक्ति का यह अधिकार और कर्तव्य है कि वह राज्य का विरोध करे। अनुचित आज्ञाओं और विधानों को उलटना अथवा उनका अंत व संशोधन करने का प्रयत्न करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य तथा अधिकार है।

ग्रीन ने राज्य को "समाजों का समाज" कहा है। समाज के अधिकारों का विकास राज्य ही से होता है और राज्य ही इन अधिकारों का समनुनय करता है।

ग्रीन का युद्ध सम्बन्धी विचार—युद्ध के संबंध में भी ग्रीन के विचार विलक्षण हैं। उसके आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार युद्ध करना राज्य का पूर्ण अधिकार नहीं है। उसका मत है कि युद्ध एक "क्रूर आवश्यकता है।" यह एक अनुचित कार्य है। युद्ध वह प्रणाली है जिसके द्वारा एक भूतपूर्व अन्याय अथवा अपकार का एक दूसरे अपकार अथवा अन्याय द्वारा शोधन किया जाता है। और इसी सिद्धान्त के आधार पर युद्ध को न्याय-संगत बतलाया जाता है। युद्ध में मनुष्य के स्वतन्त्र जीवन के अधिकार का उल्लंघन होता है। मनुष्यों को लड़ाई में भर्ती करना आदर्शवाद के विरुद्ध है क्योंकि इससे मनुष्यों को मृत्यु के लिए आवाहन किया जाता है। यह कार्य अनैतिक है। आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार यह एक हिंसक कार्य है। इस हिंसा के लिए कौन दोषी है? इसमें हिंसक कौन है? युद्ध में दो राज्यों की सेनाओं के व्यक्ति एक दूसरे की हत्या करते हैं। इस हत्या का दोषी कौन है? क्या एक सैनिक जो अपने देश के लिए युद्ध करता है, हिंसा का दोषी है? वास्तव में वह दोषी नहीं है क्योंकि हिंसा करने में सैनिक के स्वार्थ की सिद्धि नहीं होती है, वह राज्य के लिए युद्ध करता है इसलिए राज्य ही इस हिंसा के लिए दोषी है। आदर्शवाद सिद्धान्त के अनुसार युद्ध को नैतिक अन्याय बतलाया जाता है परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है क्योंकि नैतिक अन्याय उस समय होता है जब आपस के पारस्परिक द्वेष-भाव के कारण युद्ध किया जाता है और जानबूझ कर एक दूसरे के अधिकारों पर आक्रमण किया जाता है। युद्ध में दोनों पक्ष के सैनिकों का यह विचार नहीं होता है। वे एक दूसरे को न तो जानते ही हैं और न उनमें किसी प्रकार की द्वेष की भावना होती है। परन्तु ग्रीन का मत है कि वास्तव में राज्य दोषी है। क्योंकि युद्ध में मनुष्य के "जीवन के अधिकार" की अवहेलना होती है। जिस प्रकार मनुष्य को अपने जीवन का अन्त करने का अधिकार नहीं है उसी प्रकार सैनिक बन कर भी उसे अपने जीवन का अन्त कर देने का अधिकार नहीं है। राज्य को युद्ध नहीं करना चाहिए।

जो लोग युद्ध के पक्ष में हैं उनका मत है कि नैतिक अधिकारों की रक्षा

करने के लिए भौतिक अधिकार का बलिदान करना उचित है अर्थात् राज्यों को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। ये अधिकार प्रत्येक राज्य के नैतिक अधिकार हैं। इन अधिकारों की रक्षा करना राज्य का कर्तव्य है और इनकी रक्षा के लिए मनुष्य के भौतिक शरीरों का बलिदान किया जा सकता है। ग्रीन इस बात के विरुद्ध है। कुछ भी तर्क युद्ध के पक्ष में किया जाय, वास्तव में युद्ध एक दूषित कार्य है। जिस कार्य में 'मनुष्य के जीवन के अधिकार' पर आक्रमण होता है वह कार्य वास्तव में अनुचित है।

कुछ लोगों का यह मत है कि मनुष्यों के नैतिक स्तर को उच्च बनाने के लिए कभी कभी युद्ध करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि ऐसा करने से लोगों की कायरता और अकर्मण्यता दूर होती है और लोग वीर बनते हैं और उनमें उत्साह, परमार्थ, लोकहित, तथा परोपकार के भाव जागृत होते हैं तथा मनुष्य समाज की उन्नति होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रेसीडेन्ट टी.रूजवैल्ट (T.Roosevelt) का भी यही विचार था कि बहुत काल तक युद्ध न होने से लोगों में अकर्मण्यता आती है और वीरता का ह्रास होता है। बहुत से लोगों का यह मत है कि युद्ध से देश तथा मनुष्य समाज की उन्नति होती है। सीजर (Caesar) ने युद्ध करके गेल (Gaul) को विजय किया, अंग्रेजों ने युद्ध करके भारतवर्ष को विजय किया। इन विजयों के पश्चात दोनों देशों में सभ्यता की उन्नति हुई। ग्रीन का मत है कि ऐसे विचार निर्मूल हैं। मनुष्यों की सभ्यता युद्ध पर निर्भर नहीं है। यदि युद्ध न हुए होते तब भी इन देशों में कालान्तर में इसी प्रकार सभ्यता की उन्नति होती। सभ्यता की उन्नति के लिए युद्ध की आवश्यकता नहीं है। अन्य अनेक ऐसे उपाय हैं जिनके द्वारा उन्हीं उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सकता है जो युद्धद्वारा प्राप्त होते हैं। ग्रीन का विचार है कि किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए युद्ध करना प्राचीनकाल की असभ्य तथा अनुन्नत जातियों के रिवाज के अनुसार उचित समझा जा सकता है, परन्तु आधुनिक काल में युद्ध की बिल्कुल अवश्यकता नहीं है। युद्धसे मनुष्य का नैतिक स्तर उच्च नहीं होता है। वास्तव में लोग अपने स्वार्थ के लिए ही युद्ध में भाग लेते हैं, परमार्थ के लिए नहीं। सभ्य समाज में युद्ध की आवश्यकता नहीं है। अभी मनुष्य समाज की पूर्ण रुप से उन्नति नहीं हुई है। जब पूर्ण उन्नति हो जायगी तब युद्ध की भी आवश्यकता नहीं रहेगी।

कुछ लोगों का मत है कि संसार में अनेक राज्य हैं और अनेक राज्यों के होने के कारण युद्ध भी अनिवार्य है, क्योंकि भिन्न भिन्न राज्यों के भिन्न-भिन्न प्रकार के हित होने के कारण उनमें संघर्ष होने की पूर्ण संभावना है। ग्रीन का मत है कि हितों की विभिन्नता के कारण संघर्ष होने की संभावना नहीं है क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय

प्रश्नों को युद्ध की अपेक्षा शांतिपूर्वक विचार-विनिमय से हल किया जा सकता है। अतः किसी बात का युद्ध द्वारा निर्णय करना युक्तसंगत नहीं है।

युद्ध के कुछ समर्थकों का यह कहना है कि ग्रीन जैसे आदर्शवादियों के सिद्धान्त के अनुसार राष्ट्रीयता के भावों का ह्रास होगा, लोगों में देशभक्ति के भावों का भी ह्रास होगा। देशभक्ति और राष्ट्रीयता का अभाव होने से देश तथा राष्ट्र की उन्नति में बाधा पड़ेगी। इसके उत्तर में ग्रीन का कहना है कि वास्तविक राष्ट्रीयता 'विश्वव्यापक राष्ट्रीयता' है। 'विश्व बान्धव' के भाव जागृत होने पर ही उचित राष्ट्रीय उन्नति हो सकती है। संसार में यंत्र तथा अन्य विज्ञान संबंधी आविष्कारों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय संबंध अधिक घनिष्ट हो गया है। अब वह समय नहीं है जब कि मनुष्य संकुचित राष्ट्रीय विचारों की कल्पना करे, आधुनिक काल में मनुष्यों को अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से प्रत्येक बात पर विचार करना पड़ेगा।

एफ० एच० ब्रैडले (१८४६)—ब्रैडले के विचारों पर हेगिल का अधिक प्रभाव पड़ा है। ब्रैडले ने समाज को एक नैतिक अवयव संस्थान माना है। उसका विचार है कि समाज में मनुष्य का महत्वपूर्ण स्थान है। उसके मतानुसार समाज एक सावयव संस्था है। और जिस प्रकार शरीर के भिन्न भिन्न अंग होते हैं उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य भी समाज का प्रत्येक अंग है। समाज में रहता हुआ मनुष्य अपने ही नियमों तथा विधानों की आज्ञा का पालन करता है। समाज से पृथक रह कर मनृष्य किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता है। उसका समाज में रहना आवश्यक है। कोई भी मनुष्य समाज से पृथक होकर जीवित नहीं रह सकता, जिस प्रकार शरीर से किसी अंग को पृथक करने के पश्चात् वह जीवित नहीं रह सकता। ब्रैडले ने समाज को एक नैतिक सावयव प्राणी के समान समझा है। वह मनुष्य को नैतिक समाज का महत्वपूर्ण अंग समझता है। समाज की उन्नति में प्रत्येक व्यक्ति का भाग होता है जिस प्रकार शरीर को स्वस्थ्य रखने में शरीर का प्रत्येक अंग अपना अपना कार्य करता है। आत्मोन्नति में ही समाज की उन्नति है। अतः समाज की उन्नति करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत उन्नति करनी चाहिए। केवल अपनी ही उन्नति समाज की उन्नति के लिए पर्याप्त नहीं बल्कि उसे समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को भी पालन करना चाहिए। जब प्रत्येक व्यक्ति समाज क प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करेगा तभी समाज की पूर्णरूप से नैतिक उन्नति हो सकती है। अतः व्यक्तिगत नैतिकता का तात्पर्य यही है कि प्रत्येक मनुष्य समाज में अपने अपने कर्तव्यों का पालन करता रहे।

ब्रैडले के मतानुसार राज्य भी समाज की भांति एक नैतिक सावयव संस्थान है। राज्य संपूर्ण संवासों तथा समाजों का समूह है। राज्य के अन्तर्गत राज्य की सब व्यक्तिगत तथा सामूहिक संस्थाएँ सम्मिलित हैं। राज्य की प्रत्येक संस्था तथा व्यक्ति राज्य का एक अंग है। राज्य तथा संस्थाओं का घनिष्ट संबंध है। इन संस्थाओं की उन्नति पर राज्य की उन्नति निर्भर है। प्रत्येक व्यक्ति राज्य में अपनी सब प्रकार की उन्नति करता है और उसकी व्यक्तिगत उन्नति के साथ साथ राज्य की उन्नति होती है। अतः राज्य को "समग्र प्रणाली" कहा गया है। राज्य एक सम्पूर्ण वस्तु है। प्रत्येक व्यक्ति राज्य को एक संपूर्ण वस्तु समझते हुए अपने आप को उसका एक महत्वपूर्ण अंग समझता है। यही ब्रैडले का सिद्धान्त है। वह राज्य को एक महान आदर्श संस्था समझता है। आदर्श नैतिकता को वह राज्य का आधार मानता है। वह इस बात को मानता है कि राज्य का नैतिक-स्तर कभी जनसाधारण क नैतिक स्तर से ऊँचा और कभी नीचा हो सकता है। कभी ऐसा भी हो सकता है कि एक व्यक्ति संकुचित राष्ट्रीय भावों से ऊँचा उठकर विश्वबांधव भावों से प्रभावित हो और यह अनुभव करे कि संपूर्ण संसार के प्राणी भी एक सार्व-भौम सावयव संस्था के अभिन्न अवयव हैं। इस प्रकार ब्रैडले के विचार अत्यन्त उच्च है। वह संपूर्ण संसार को एक सावयव-संस्थान के समान संगठित देखना चाहता है और यही उसका आदर्शवाद है।

ब्रैडले के सिद्धान्त में एक त्रुटि यह है कि उसने समाज तथा राज्य के भेद को भली प्रकार से नहीं दर्शाया है। वह राज्य को समाज और समाज को राज्य समझता है। इसका परिणाम यह होता है कि ब्रैडले का नागरिक सामाजिक नियमों तथा राज्यों के विधानों से इतना जकड़ा हुआ है कि उसे किसी कार्यक्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं है। दूसरी त्रुटि ब्रैडले के सिद्धान्त में यह है कि इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का समाज में एक निश्चित स्थान है। उस निश्चित स्थान पर निश्चित कार्य करना उसका परम कर्तव्य है। उसे अपना निर्दिष्ट कार्य करना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति की समाज में यही दशा है। उसे अपने वर्तमान भाग्य से संतुष्ट रह कर, अपना निर्दिष्ट कार्य करना पड़ता है। जिस प्रकार एक घड़ी के प्रत्येक भाग (पुर्जे) का कार्य निश्चित है और जब प्रत्येक पुर्जा अपना निश्चित कार्य ठीक प्रकार से करता है तभी घड़ी ठीक चल सकती है, ऐसा ही विचार ब्रैडले का है। जब प्रत्येक मनुष्य अपना अपना कार्य ठीक प्रकार से करेगा तभी समाज स्थापित रह सकता है, वरना समाज के नष्ट होने की संभावना है। इस प्रकार ब्रैडले के सिद्धान्त में मनुष्य को अधिक व्यक्तिगत उन्नति करने का अवसर नहीं प्राप्त होता।

बी० बोसांके (१८४८-१९२३)---बोसांके के आदर्शवादी सिद्धान्त आधार रूसो की सामान्य इच्छा है। उसने अपने सिद्धान्त में रूसो की स्व नैतिक इच्छा की व्याख्या की है और इसी के आधार पर उसने अपना आ वादी सिद्धान्त स्थापित किया है। अतः बोसांके के सिद्धान्त को भली प्र समझने के लिए बोसांके के 'इच्छा सिद्धान्त' को समझना आवश्यक उसके आदर्श-वादी सिद्धांत के तीन मूलतत्व हैं (१) व्यक्तिगत विवेकश इच्छा तथा 'विवेक शील इच्छा का भेद, (२) व्यक्तिगत विवेकशी इच्छा तथा समाज की सामान्य इच्छा का संबंध, और (३) राज्य, सर्वसाधारण की सामान्य इच्छा का प्रतीक है।

(१) बोसांके ने स्वाभाविक इच्छा और विवेकशील इच्छा की विशि व्याख्या की है। उसका मत है कि मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा का सं मनुष्य की अन्तःप्रेरणा से है। मनुष्य की वह इच्छा जो उसके साधार स्वभाव अथवा भावुकता से प्रभावित होती है उसकी स्वाभाविक इच्छ कहलाती है। स्वाभाविक इच्छा में स्वार्थ का समिश्रण होता है। इस इच्छ में उसके अविवेक का प्रदर्शन होता है। बिना विचारे और बि बुद्धि के प्रयोग किये जो इच्छा केवल भावुकता से प्रभावित होती है व स्वाभाविक इच्छा कहलाती है। मनुष्य जब इस इच्छा को प्रक करता है उस समय उसमें स्वार्थ का भाव होता है। यह इच्छा शुद्ध इच्छा न है, यह दूषित इच्छा है। प्रत्येक मनुष्य समय समय पर इसी इच्छा द्वा प्रेरित होकर प्रत्येक कार्य करता है। परन्तु जब मनुष्य विवेक का प्रयोग कर स्वार्थ तथा परमार्थ का भेद समझते हुए अपनी इच्छा प्रकट करता है उस सम वह विवेकशील इच्छा कहलाती है। विवेकशील इच्छा सर्वसाधारण के हित क ध्यान में रखते हुए प्रकट की जाती है। इस इच्छा में न्याय, प्रेक्षा तथा युक्ति क सम्मिश्रण होता है, यही सर्वश्रेष्ठ इच्छा समझी जाती है। इसका मूल आधा लोकहित है। (२) स्वाभाविक इच्छा सदैव व्यक्तिगत होती है। उसका अन्य पुरुष की स्वाभाविक इच्छा से कोई सम्बन्ध नहीं होता है परन्तु विवेकशील इच्छ इसके बिल्कुल विपरीत है। विवेकशील इच्छा का संबंध अन्य लोगों की विवेक-शील इच्छा से होता है। जब एक व्यक्ति की विवेकशील इच्छा अन्य व्यक्तियों की विवेकशील इच्छा से संबद्ध हो जाती है तब उसे सामान्य इच्छा कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि अकेले मनुष्य का कोई जीवन नहीं है। मनुष्य का सामाजिक जीवन ही वास्तविक जीवन है। समाज में रहकर ही मनुष्य लोकहित का कार्य कर सकता है और अपना और दूसरों का भला कर सकता है। सामान्य इच्छा

केवल समाज में ही संभव हो सकती है अतः मनुष्य के जीवन के लिए समाज अत्यंत आवश्यक है। (३) राज्य वास्तव में समाज का ही एक रूप है। बोसांके का मत है कि समाज और राज्य में कोई भेद नहीं। राज्य भी एक समाज है। राज्य और समाज में केवल भेद इतना ही है कि राज्य समाज से अधिक उन्नत है, समाज का राजनैतिक स्वरूप ही राज्य है। मनुष्य का समाजिक जीवन राज्य पर ही निर्भर है। राज्य सामान्य इच्छा का प्रतीक है। मनुष्य का सर्वसामान्य जीवन राज्य के विधि-विधानों पर ही निर्भर है। बिना राज्य-व्यवस्था के मनुष्य का सामाजिक जीवन असंभव है। राज्य ही जनसाधारण में व्यवस्था और शांति स्थापित रखता है और राज्य में रहकर ही मनुष्य को व्यक्तिगत तथा सामूहिक उन्नति करने का अवसर प्राप्त होता है।

बोसांके ने मनुष्य के सामाजिक जीवन पर बड़ा जोर दिया है। उसका मत है कि मनुष्य का जीवन आदि से अन्त तक पूर्ण रूप से समाजिक है। उसके जीवन का कोई भी भाग ऐसा नहीं है जो सामाजिक न हो। सम्मिलित जीवन व्यतीत करना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। अकेला रहकर मनुष्य अपना जीवन कभी नहीं व्यतीत कर सकता। न तो अकेले जीवन में मनुष्य सुख तथा शांतिपूर्वक रह सकता है, न वह किसी प्रकार की उन्नति ही कर सकता है। अतः मनुष्य सर्वसामान्य हित के लिए समाज के रूप में संगठित हुआ है क्योंकि वह जानता है कि सर्वसामान्य हित में ही उसका व्यक्तिगत हित गर्भित है। अतः मनुष्य सदैव सम्मिलित जीवन पसन्द करता है।

बोसांके ने एक स्थान पर लिखा है कि "एक संस्था एक से अधिक मनुष्यों के मनों के मनोभावों तथा प्रयोजनों का प्रतीक है, वह स्थायी रूप से उनका सामूहिक रूप है।" आगे चलकर वह फिर लिखता है कि "संस्थाओं में हमको व्यक्तिगत मनों का वह संयुक्त बिन्दु मिलता है कि जिसे सामाजिक मन कहते हैं। यहां हमको एक ऐसा आदर्श तत्व मिलता है जोकि एक विश्वव्यापी दृष्टि से सामाजिक है तथा विशिष्टरूप में वह व्यक्तिगत मन है।" *

बोसांके के संस्थासंबन्धी विचार—बोसांके का मत है कि प्रत्येक सामाजिक संस्था अथवा संवास व्यक्तियों के चित्तों की पारस्परिक संबद्ध चित्त-वृत्तियों का एक जटिल सामूहिक रूप है। प्रत्येक व्यक्ति का चित्त संवास अथवा समाज की सामूहिक चित्तवृत्तियों से प्रभावित है। समुदाय अथवा समाज का प्रत्येक सदस्य अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण का प्रभाव अन्य सदस्यों पर डालता है। समाज

*बी० बोसांके, फिलासफीकल थ्यौरी आफ दी स्टेट, पृ० २७७

की भिन्न भिन्न नैतिक संस्थाएँ कुटुम्ब, पड़ोसी, समुदाय तथा राष्ट्रीय रा
इनमें राज्य सर्वश्रेष्ठ संस्था है। यह संस्था वास्तव में नैतिक आदर्श है।
सब प्रकार के समुदायों तथा संवासों के समनुनय का प्रतीक है। यह अ
संस्थाओं का संचालन करता है और व्यवस्था तथा शांति स्थापित रख
मनुष्य के जीवन के लिए राज्य अत्यन्त आवश्यक संस्था है।

आलोचना—आदर्शवादी सिद्धान्त को विरोधियों ने इस सिद्धा
कोरा सिद्धान्त बतलाया है। उनका मत है कि यह सिद्धान्त आध्यात्मव
सम्बन्ध रखता है। वास्तविकता से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह सि
मनुष्यों के व्यावहारिक जीवन में प्रयोग नहीं किया जा सकता। इन लोगों ने अ
वाद को स्वप्नदर्शी बतला कर इसका खंडन किया है। विलियम
(James) का कथन है कि आदर्शवादी सिद्धान्त एक ऐसा हेतुवादी सि
है जो वास्तव में धार्मिक कहा जा सकता है, परन्तु उसका वास्तविक उ
के व्यावहारिक कार्यों तथा सुख दुख से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह नितांत बौ
सिद्धान्त है। यह केवल काल्पनिक है। यह सिद्धान्त मनुष्यों की बौद्धिक शक्ति
से सम्बन्ध रखता है। मनुष्य संबंधी अन्य व्यावहारिक विषयों से इस सिद्धान्त
कोई संबंध नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य को जनसमूह की प्रेक्षा त
इच्छा का प्रतीक समझा गया है और मानव प्रकृति की अन्य बातों की उपे
की गयी है। इसमें संदेह नहीं कि आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य को
अत्यन्त उच्चादर्श संस्था समझा गया है।

कुछ लोगों का मत है कि आदर्शवादी सिद्धान्त केवल काल्पनिक
इसमें वास्तविक तत्व कुछ नहीं है, और 'रामराज्य' एक काल्पनिक विचार है
आदर्शवाद के विरोधियों के ये विचार युक्तिसंगत नहीं हैं। आधुनिक काल तक उ
कुछ सभ्यता तथा अन्य सब प्रकार की उन्नति हुई है वह सब कल्पना तथा विचार
शक्ति के आधार पर ही हुई है। वास्तविक उन्नति से पूर्व मनुष्य कल्पना ही करत
हैं, फिर कल्पना को कार्य रूप में परिणत करते हैं। संसार में जितनी औद्योगिक
उन्नति हुई है और जितने भी आविष्कार हुए हैं इन सबका आधार कल्पना ही है
मनुष्य की विचारशक्ति में इन सब उन्नतियों और आविष्कारों ने प्रवेश किया और
विचारशक्ति द्वारा ही मनुष्य इन कार्यों में सफल हुए। 'रामराज्य' की कल्पना
के आधार पर आधुनिक काल में समाज के दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया
जाता है। राज्य के दोषों को भी 'रामराज्य' के आधार पर ही दूर करने का
प्रयत्न दार्शनिक कर रहे हैं। वे इस कार्य में बहुत कुछ अंश तक सफल भी हुये हैं।
दासता की प्रथा को दूर करना तथा यंत्रकलों, तथा कर्मशालाओं में कार्य करने

वाले स्त्री-पुरुषों तथा बच्चों की दशा को सुधारना, आदर्शवादी लोगोंके प्रयत्नों का ही फल है ।

कुछ लोगों का मत है कि आदर्शवाद कोरा सिद्धान्त है, आध्यात्मवाद से और राज्य से इसका कुछ संबंध नहीं है । वास्तव में यह विचार निर्मूल है । आदर्शवाद ने वास्तविक तथा व्यावहारिक कार्यों का मूल आधार सिद्धांत को ही माना है, आदर्शवादियों का मत है कि व्यावहारिक उन्नति सिद्धान्त के आधार पर ही होती है । वैज्ञानिक उन्नति का आधार भी विज्ञान सिद्धान्त है । बिना सिद्धान्त के विज्ञान साक्षात्कार होना असम्भव है । इसी प्रकार साकार अथवा व्यावहारिक राजनीति का आधार भी राजनीति सिद्धान्त है । गार्नर (Garner) का कथन है कि राजनैतिक सिद्धान्त के समान आचार-शास्त्र यह बतलाता है कि किस प्रकार कार्य करना चाहिए और कैसी स्थिति होनी चाहिए, और यह भी बतलाता है कि वास्तव में दशा क्या है । जब किसी वस्तु की पूर्ण उन्नति हो जाती है तब उस वस्तु की क्या दशा होती है और उसके क्या लक्षण होते हैं । अतः राजनीतिक दार्शनिक समुचित रूप से आदर्शवाद की कल्पना कर सकता है और अपनी विचारशक्ति के अनुसार उसका निरूपण कर सकता है* । वास्तव में आदर्शवादियों की कल्पनाओं को कार्यरूप में परिणत किया जा सकता है । आदर्शवाद कोरा सिद्धान्त नहीं है । इस सिद्धान्त के अनुसार कार्य करने से वास्तव में 'रामराज्य' की स्थापना हो सकती है ।

यथार्थवादियों का मत है कि आदर्शवाद सिद्धान्त के अनुसार कोई रचनात्मक कार्य नहीं किया जा सकता और आदर्शवादियों के विचार तथा कार्य केवल काल्पनिक हैं । ये कल्पनाएँ और विचार कभी सफलतापूर्वक कार्यरूप में परिणत नहीं किये जा सकते । केवल इस सिद्धान्त के आधार पर कि 'मनुष्यों को समाज में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, राजनीतिक समस्या का हल नहीं होता है । वास्तव में यथार्थवादियों ने अपने कथन में अतिशयोक्ति की है । आदर्शवाद को कार्यरूप में परिणत किया जा सकता है । यथार्थवादियों के मत का सर हेनरी जोन्स (Sir Henry Jones) ने इस प्रकार खंडन किया है † यथार्थवादियों ने अपना निजी सिद्धान्त स्थापित नहीं किया है बल्कि आदर्शवाद के दोषों पर ही अपना अस्तित्व स्थापित रक्खा है और जो जो समस्याएँ आदर्शवाद से हल नहीं हुई हैं, उन्हीं पर वे प्रकाश डालते हैं ।'

आदर्शवादियों का मत है कि मनुष्य की प्रेक्षा तथा विचारशक्ति के कारण

---

* जे. डब्लयू० गार्नर—पोलीटिकल साइंस ऐन्ड गवर्नमेन्ट पृष्ठ २३८ ।

† सर हेनरी जेम्स—आइडियलिज्म ऐज ए प्रक्टिकल क्रीड, पृष्ट १३

और विवेकशील प्रेछा के कारण राज्य की उत्पत्ति हुई है। यदि मनुष्यों ने अपनी युक्तिमूलक विचार शक्ति से कार्य न लिया होता तो आज राज्य इस रूप में दिखाई न देता। यदि अति प्राचीनकाल से अब तक मनुष्यों की प्रगति तथा राज्य के विकास पर विचार किया जाय तो पता चलता है कि मनुष्यों की सभ्यता की उन्नति और राज्य की उत्पत्ति और विकास मनुष्यों की प्रेक्षा तथा विचारशक्ति के विकास के साथ साथ हुआ है। राज्य के विकास तथा उत्पत्ति का आधार वास्तव में मनुष्य की युक्ति अथवा प्रेक्षा है। यदि यह न होती तो विकास का परिणाम यह न होता कि आज एक सुसंगठित जीवन युक्तिमूलक प्रणाली के रूप में दिखाई देता जिसे, हमारी विचारशक्ति अनुभव कर रही है, बल्कि एक निषिद्ध, परिभ्रांत तथा आन्तरिक प्रेरणा द्वारा संचालित असभ्य और असंगठित रूप में यह जीवन दिखाई देता जिसका प्रेक्षा तथा विचारशक्ति से कुछ संबंध न होता और ऐसा जीवन निरर्थक होता।* आदर्शवादी इस बात को स्वीकार करते हैं कि जितनी भी उन्नति आज संसार में दिखाई देती है वह केवल प्रेक्षा के आधार पर ही नहीं हुई है बल्कि इस उन्नति में मनुष्य के स्वभाव तथा उसकी आन्तरिक प्रेरणा ने भी बड़ा कार्य किया है। परन्तु उनका यह विश्वास अवश्य है कि प्रेक्षा के दृष्टिकोण से भी इस प्रगति का अनुमान लगाया जा सकता है, अर्थात् प्रेक्षा और विचारशीलता का भी इस प्रगति में बहुत कुछ अंश तक एक विशेष भाग है क्योंकि मनुष्य की विचार शक्ति उसकी टेव तथा आन्तरिक प्रेरणा का पथ प्रदर्शन करती है। टेव और आन्तरिक प्रेरणा मनुष्य की विचारशक्ति पर विजय प्राप्त नहीं कर सकतीं।

हाबसन (Hobson) ने आदर्शवाद को 'पुराणप्रियता का प्रबंध' कहा है क्योंकि आदर्शवादी वस्तुओं के दिव्य अधिकार का प्रचार करते हैं, अरस्तू ने दासता को आदर्शप्रथा माना है। हैगिल ने युद्ध की बड़ी प्रशंसा की है और उसे अनिवार्य बतलाया है। ग्रीन ने अपने उदारवाद में कुछ पूंजीवादी सिद्धान्तों का भी सम्मिश्रण किया है। परन्तु वास्तव में शुद्ध आदर्शवाद इससे भिन्न है। शुद्ध आदर्शवाद में इन बातों के लिए कोई स्थान नहीं है आदर्शवाद में राज्य विधानों की अधिक आवश्यकता नहीं है। इस सिद्धान्त में मनुष्य स्वयं सत्कर्म करता हुआ आत्मिक तथा आध्यात्मिक उन्नति करता है। राज्य मनुष्यों के व्यक्तिगत तथा सामूहिक कार्यों में कम-से-कम हस्तक्षेप करता है। इसीलिए इस सिद्धान्त के विरोधी कहते हैं कि आदर्शवाद नकारात्मक सिद्धान्त है।

बोसांके का मत है कि आदर्शवाद एक संकुचित तथा कठोर सिद्धान्त है

---

* ई० बारकर-पोलीटिकल थौट इन इंगलैंड फ्रोम स्पेन्सर टू टुडे, पृष्ठ ८६।

आदर्शवाद के विरोधियों का विचार है कि आदर्शवादी सिद्धान्त यूनान के समान छोटे छोटे नगर राज्यों में कार्यरूप में परिणत किया जा सकता है परन्तु आजकल की परिस्थिति में, जब कि बड़े बड़े राज्य और साम्राज्य स्थापित होगये हैं, आदर्शवादी सिद्धान्त की स्थापना असम्भव है। प्राचीनकाल में यूनान में समाज तथा राज्य में कोई भेद न था। उस समय आजकल के समान भिन्न भिन्न प्रकार के समाज तथा संवास न थे, मनुष्य का जीवन अत्यन्त साधारण था। उस समय आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार राज्य कार्य हो सकता था, और जिस प्रकार राजनीतिक संगठन यूनानी लोग चाहते अपने समय में स्थापित कर सकते थे। उस समय आजकल की सी अन्तर्राष्ट्रीय अथवा औद्योगिक व्यावसायिक तथा श्रम-संबंधी समस्याएँ न थीं। परन्तु आधुनिककाल में अनेक प्रकार की संस्थाएँ, संवास तथा समाज अस्तित्व में आगये हैं। अनेक प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं। इन समस्याओं के कारण तथा अनेक प्रकार के धर्मों की स्थापना के कारण कोई राज्य आदर्शवादी सिद्धान्त के अनुसार सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकता। आदर्शवादियों की यह युक्ति न्यायसंगत प्रतीत नहीं होती है। वास्तव में यह युक्ति बहुलवादियों की है जो यह कहते हैं कि राज्य भी अन्य संवास तथा समाजों के समान एक संवास अथवा समाज है। वास्तव में राज्य अन्य सब प्रकार के संवासों से श्रेष्ठ है। राज्य अन्य संवासों में समनुनय स्थापित कर सकता है। राज्य शांति और व्यवस्था स्थापित करने के लिए बल का प्रयोग करता है। यदि राज्य बल का प्रयोग न करे तो अराजकता फैल जायगी। मनुष्यों में अच्छे कम होते हैं और बुरे अधिक, यदि राज्य बल का प्रयोग करके व्यवस्था स्थापित न करेगा तो बुरे लोग अच्छे लोगों पर अत्याचार करने लगेंगे। आधुनिक काल के सब संवासों को ठीक ठीक चलाने के लिए राज्य को ऐसे विधान बनाने की आवश्यकता है जिनसे सब संवासों में परस्पर समन्वय स्थापित हो और किसी प्रकार के दूषित कार्य न किय जायँ। आधुनिककाल में जितनी बुराइयां मनुष्य समाज में फैली हुई हैं उनका अन्त करने के लिए आदर्शवाद ही का आश्रय लेना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। महात्मा गांधी का अहिंसावाद आदर्शवाद से ही संबंध रखता है। आधुनिक काल के बड़े बड़े राजशास्त्रवेत्ताओं का मत है कि देश तथा विश्व का हित गांधीवाद द्वारा ही हो सकता है। यदि गांधीवाद का आश्रय लेकर राजनीति का सचालन किया जाय तो वास्तव में विश्वव्यापी शांति स्थापित हो सकता है।

आदर्शवाद भौतिकवाद के विरुद्ध है। संसार की उन्नति भौतिकवाद द्वारा नहीं हो सकती। मनुष्यों की बौद्धिक आत्मिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए

आदर्शवाद ही सहायक हो सकता है। अनुभव इस बात का प्रतीक है कि भौतिकवाद विश्व में शांति स्थापित रखने में बाधक है। दो महायुद्ध भौतिकवाद की उन्नति के कारण ही हुए हैं, और तीसरा युद्ध होने की संभावना है। यदि लोग भौतिकवाद की ओर अपनी चित्त-वृत्ति को लगायेंगे तो संसार में कदापि शांति स्थापित न रह सकेगी और लोगों में नास्तिकता के विचार फैलेंगे। यह आवश्यक है कि अब आत्मिक तथा आध्यात्मिक उन्नति की ओर ध्यान दिया जाय। नैतिक अथवा आचारिक उन्नति की ओर ध्यान देने से ही संसार में शांति स्थापित हो सकती है। बोसांके का कथन है कि आदर्शवादी सिद्धान्त इतना कठोर और असंभव नहीं है जैसा कि इस सिद्धान्त के विरोधियों का विचार है। यह सिद्धान्त समय समय पर परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार ग्रहण किया जा सकता है और आधुनिक-काल के बहुलवाद के अनुसार भी उसे संयोज्य बनाया जा सकता है।

जोड (Joad) ने इस सिद्धांत का यह कहकर खंडन किया है कि यह सिद्धांत असत्य, अस्थिर तथा निर्मूल है और राज्यों के वैदेशिक नीति संबंधी कार्यक्षेत्रों में विवेक शून्य कार्यों के करने की भयानक अनुज्ञप्ति प्रदान करता है। जोड का कथन है कि आदर्शवादी सिद्धांत के अनुयायी राज्य तथा समाज को समान समझते हैं। मैकईवर का भी यही विश्वास है कि आदर्शवादी समाज तथा राज्य में कोई भेद नहीं मानते हैं। इसलिए इस सिद्धांत को निर्मूल तथा काल्पनिक बतलाया गया है। मैकईवर का यह भी विश्वास है, कि 'समुदाय का मन तिनिक्षता पूर्ण होता है परन्तु राज्य रूपी समुदाय का नहीं।' वास्तव में जोड और मैकईवर ने इस सिद्धांत को निर्मूल कहकर इसका खंडन किया है, परन्तु हमारा विचार है कि यह सिद्धांत इतना दोषपूर्ण नहीं है। यदि ठीक प्रकार से आदर्शवाद का अनुकरण किया जाय और कार्य रूप में परिणत किया जाय तो वर्तमान काल के जितने भी प्रचलित दोष समाज में दिखाई देते हैं उनका अन्त हो जाय और मनुष्यों का जीवन सुख तथा शांतिमय हो जाय।

जोड का यह विश्वास है कि आदर्शवादी राज्य को सर्व शक्तिमान संस्था मानते हैं और राज्य को ही मनुष्य की सब प्रकार की उन्नति का साधन मानते हैं। वास्तव में जोड का यह विश्वास मिथ्या है। अदर्शवादियों का यह मत नहीं है, वे राज्य को सर्वशक्तिशाली कदापि नहीं मानते न उनका यही विश्वास है कि केवल राज्य ही मनुष्य की सब प्रकार की उन्नति का साधन है। ऊपर बतलाया जा चुका है कि ग्रीन आदि अंग्रेज दार्शनिकों ने राज्य के कार्यक्षेत्र को कितना सीमित किया है। अतः जोड का यह कथन कि "राज्यका अस्तित्व व्यक्तियों के लिए है, व्यक्तियों का अस्तित्व राज्य के लिए नहीं है" बिल्कुल असत्य है। ग्रीन, बोसांके आदि ने

राज्य का ध्येय मनुष्यमात्र की व्यक्तिगत उन्नति करना अवश्य बतलाया है परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि राज्य का अस्तित्व मनुष्यों के लिए ही है अथवा मनुष्यों का अस्तित्व राज्य के ही लिए है। कुछ जर्मन आदर्शवादियों ने तो राज्य के हित को मनुष्यों के व्यक्तिगत हित से पृथक तथा उच्च समझा है। इसलिए हम जोड के मत से सहमत नहीं हैं।

मैकईवर (Mac Iver) का मत है कि आदर्शवादी सिद्धांत में राज्य के मूर्तिकरण की पराकाष्ठा है, राज्य के व्यक्तित्व को बहुत महत्व दिया गया है। व्यक्तियों के समूह को व्यक्ति का रूप दिया है। मानव समाज का मानवीकरण किया है। मनुष्यों की भौतिक दशा की मानसिक दशा से तुलना की है। मैकईवर का विचार है कि इस प्रकार की तुलना करना युक्तिसंगत नहीं है। उसका विचार है कि 'स्वाभाविक इच्छा' और 'विवेकशील इच्छा' का जो भेद आदर्शवादियों ने बतलाया है वह भी निर्मूल तथा काल्पनिक है। मैकईवर के 'इच्छा' संबंधी विचार भी निराधार हैं। ऊपर स्वाभाविक इच्छा तथा विवेकशील इच्छा की आलोचना में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि आदर्शवादियों का यह मत न्यायसंगत है, आदर्शवादियों ने राज्य को सावयव-संस्थान माना है। वास्तव में राजनीतिक समाज एक सावयव संस्थान है। प्रत्येक संवास, समुदाय तथा समाज संगठित रूप में एक सावयव-संस्थान का प्रतीक है। इनका बहुमत ही सामान्य इच्छा अर्थात् सामूहिक इच्छा है। इस सामान्य इच्छा की अवहेलना नहीं की जा सकती। सामान्य इच्छा की आज्ञा का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का परम धर्म है। यही समाज की नैतिक व्यवस्था है। वास्तव में राज्य एक जीवित अवयवी शरीर है।

आदर्शवाद का वास्तविक स्वरूप—इसमें सन्देह नहीं जर्मन आदर्शवाद और अंग्रेजी आदर्शवाद में बड़ा भेद है। जर्मन आदर्शवाद को हम उग्र आदर्शवाद और अंग्रेजी आदर्शवाद को संयत आदर्शवाद कह सकते हैं। आधुनिक काल के राजशास्त्रवेत्ता उग्र आदर्शवाद के विरुद्ध हैं, उनका मत है कि उग्र आदर्शवाद में राज्य को दैवीय रूप दिया गया है। मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामूहिक अस्तित्व को राज्य ही के लिए बतलाया है। राज्य के हित को बहुत महत्व दिया गया है और राज्य के लिए बलिदान होना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य बतलाया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में भी राज्य के व्यक्तित्व को ही अधिक महत्व दिया है। राज्य के व्यक्तिगत हित के लिए अन्तर्राष्ट्रीय विधानों की अवहेलना की जा सकती है। राज्य की सर्वोच्च सत्ता को स्वेच्छाचारी माना है। इन आदर्शवादियों ने एक सत्तात्मक राज्य को सर्वश्रेष्ठ समझा है। इन सब बातों के साथ साथ राष्ट्रीय राज्य को आदर्श राज्य माना है। आधुनिक काल की राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को

देखते हुए यह सिद्धांत व्यावहारिक नहीं प्रतीत होता है। जर्मन आदर्शवादियों ने मनुष्यों को राज्य के ध्येय की पूर्ति का साधन माना है। यह बात अनुचित तथा अव्यावहारिक है। अंग्रेजी आदर्शवाद वास्तव में व्यावहारिक और युक्तिसंगत प्रतीत होता है। अंग्रेजी आदर्शवादी सिद्धांत में मनुष्यों की व्यक्तिगत तथा सामूहिक उन्नति का साधन राज्य को बतलाया गया है। राज्य का यह कर्त्तव्य बतलाया गया है कि वह मनुष्यों की व्यक्तिगत बौद्धिक, नैतिक तथा भौतिक प्रगति में सहायता दे। जो बाधाएं मनुष्य की व्यक्तिगत तथा सामूहिक उन्नति में बाधक हों उनका निरोध करे। मनुष्यों को स्वतन्त्रता पूर्वक अपने अपने कार्य करने दे। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि राज्य मनुष्यों को दुष्कर्म करने की आज्ञा देता है। ऐसे कार्यों को रोकना राज्य का परम कर्त्तव्य है। केवल रोकना ही परम कर्त्तव्य नहीं है बल्कि ऐसे कार्य करने वालों को समुचित दंड देना भी राज्य का परम कर्त्तव्य है। दंड व्यवस्था भी एक विशेष प्रकार की गयी है। दंड ऐसा हो कि जिससे अन्य लोगों को शिक्षा मिले और वैसा अपराध करने का साहस न करें, और दंड संशोधनात्मक भी होना चाहिए। अपराधी को सुधारना भी राज्य का परम कर्त्तव्य बतलाया गया है। एक अपराधी को ऐसा दंड देने की व्यवस्था की है कि वह समाज में एक सुयोग्य पुरुष बनकर पुनः प्रवेश कर सके। अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में राज्य को बहुत सी अन्तर्राष्ट्रीय बातों पर ध्यान रखते हुए राज्य कार्यों का संचालन करना आवश्यक बतलाया है। राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय संबंध स्थापित करना और अन्तर्राष्ट्रीय विधानों को मानना भी आवश्यक समझा है। अतः ग्रीन आदि अंग्रेज आदर्शवादियों का सिद्धांत अधिक श्रेष्ठ तथा व्यावहारिक है। यह कोरा काल्पनिक आदर्श नहीं है। आधुनिक पाश्चात्य तथा अमेरिका के राज्य-शास्त्र-वेत्ताओं ने इसी आदर्शवाद का समर्थन किया है।

विशेष अध्ययन के लिए देखिए :—

टी० एच० ग्रीन—लैकचर्स आन दी प्रिंसिपल्स आफ पोलीटिकल आब्लिगेशन
एम० पी० फॉलैट—न्यू स्टेट
जे० डयूई—जर्मन फिलॉसॉफर्स ऐण्ड पालिटिक्स
एफ० एच० ब्रैडले—ऐथिकल स्टडीज़
बी० बोसांके—फिलासाफिकल थ्यौरी आफ दी स्टेट
ई० बारकर—पोलीटिकल थॉट इन इंगलैंड फ्रॉम स्पेन्सर टु डे
जे० डब्ल्यू० गार्नर—पोलीटिकल साइन्स ऐण्ड गवर्नमेण्ट
आर० एम० मैकईवर—माडर्न स्टेट
सी० ई० एम० जोड—माडर्न पोलीटिकल थ्यौरी
सर हैनरी जोन्स—आइडीयलिज्म एज ए प्रक्टिकल क्रीड

अध्याय १३

उपयोगितावाद (Utilitarianism)

सत्रहवीं शताब्दी में इंगलैंड में एक नवीन सिद्धांत का संस्थापन हुआ। सन् १६७२ में रिचार्ड कम्बरलैंड (Richard Cumberland) ने एक नवीन ग्रंथ प्रकाशित किया। उसमें उसने उपयोगितावाद सिद्धांत पर अपने आरम्भिक विचार प्रकट किए। ये विचार इतने उन्नत तथा परिपक्व न थे और न विशेष रूप से इतने संगठित थे कि उन्हें सिद्धांत के नाम से संबोधित किया जाता। फ्रांसिस हचिसन (Francis Hutchison) पर इन विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने इन विचारों को अधिक उन्नत किया और सर्वप्रथम इस सिद्धांत को सूत्रबद्ध किया। इस उपयोगितावाद सिद्धांत को हचिसन ने "अधिकतम् लोगों का अधिकतम् हित" नाम से संबोधित किया। उसने इस सूत्र का प्रयोग करके दार्शनिक संसार में हलचल मचा दी। उस समय के दार्शनिकों तथा राजशास्त्रवेत्ताओं पर इस सूत्र का बड़ा प्रभाव पड़ा। इंगलैंड के प्रसिद्ध राजशास्त्रवेत्ता तथा दार्शनिक जेरमी बेन्थम (Jeremy Bentham) ने वास्तव में इस सूत्र को एक सिद्धांत का रूप दिया। बेन्थम के विचारों पर प्रीस्टले (Priestley) के लेखों का बड़ा प्रभाव पड़ा। प्रीस्टले के लेखों के आधार पर बेन्थम ने वास्तव में अपने उपयोगितावाद सिद्धांत को उन्नत किया। बेन्थम से पूर्व रिचार्ड कम्बरलैंड, फ्रांसिस हचिसन, प्रीस्टले आदि दार्शनिकों ने उपयोगितावाद सिद्धांत पर अपने विचार प्रकट किये थे परन्तु उन लोगों की व्याख्या इतनी पूर्ण न थी कि उनमें से सब अथवा किसी एक को उपयोगितावाद सिद्धांत का प्रवर्त्तक कहा जा सके। उपयोगितावाद सिद्धांत का प्रवर्तक कहलाने का श्रेय केवल बेन्थम को ही है क्योंकि उसने उपयोगितावाद को वास्तव में सिद्धांत के रूप में संसार के सामने रखा है। बेन्थम ने उपयोगितावाद सिद्धांत की परिभाषा हमारे सामने रखी। उसकी पूर्ण रूप से व्याख्या की और उस सिद्धांत का उस समय की राजनीतिक स्थिति में प्रयोग किया।

उपयोगितावाद सिद्धांत के मतानुयायियों का विचार है कि मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है। मनुष्य के सम्पूण कार्य केवल एक ही भावना से संचालित होते हैं। वह भावना है सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति। अतः जब मनुष्य

कोई कार्य करता है तो उस में केवल यही भावना रहती है कि कम से कम दुःख और अधिक से अधिक सुख की प्राप्ति हो। यही भावना मनुष्यों को समाज के रूप में संगठित किये हुए है। इसी भावना को लिए हुए मनुष्य एक दूसरे से अपना संबंध स्थापित रखते हैं। समाज में मनुष्यों का व्यक्तिगत संबंध इसी भावना पर निर्भर है। राज्य की स्थापना भी इसी आधार पर हुई है। उपयोगितावादियों का मत है कि राज्य के विधानों का निर्माण भी इसीलिए किया जाता है कि अधिकतम् लोगों को सुख की प्राप्ति हो। "अधिकतम् लोगों का अधिकतम् सुख" सूत्र को ही उपयोगितावादी राज्य का आधार मानते हैं। उनका मत है कि इस सिद्धांत के अनुसार राज्य मनुष्यमात्र के लिए एक अत्यंत आवश्यक संस्था है। राज्य द्वारा ही लोकहित संभव है, अन्यथा नहीं।

अठारहवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रांति ने इंगलैंड के लोगों की सामाजिक तथा राजनीतिक दशा में बड़ा परिवर्तन कर दिया। औद्योगिक कर्मशालाओं (Factories) के स्थापित हो जाने से कृषि तथा पशुपालन का कार्य छोड़कर बहुत से लोगों ने कर्मशालाओं में जीविकोपार्जन के लिए कार्य करना आरम्भ कर दिया क्योंकि यंत्रकलों के आविष्कार के कारण भूमिपतियों ने यंत्रों से कृषि का कार्य करना आरम्भ कर दिया। बीस बीस से लेकर पचास पचास तक लोगों का कार्य एक कल से लिया जा सकता था, परिणाम यह हुआ कि बहुत से लोगों का जीविकोपार्जन का साधन जाता रहा और उन्होंने कर्मशालाओं में कार्य करना आरम्भ कर दिया। कर्मशालाओं के स्वामी इन श्रमिकों से अधिक से अधिक कार्य लेते थे और इन्हें कम से कम वेतन देते थे। इनको अवकाश भी कम देते थे। श्रमिकों की ऐसी शोचनीय दशा देखकर लोगों ने इंगलैंड में आन्दोलन किया और श्रमिकों के लिए उपयोगी विधान निर्माण कराने के लिए प्रयत्न किया गया। इस प्रयत्न में उपयोगितावादियों ने विशेष रूप से भाग लिया और वे इस कार्य में सफल भी हुए। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से सुधार आन्दोलन की प्रगति हुई। राजनीतिक क्षेत्र में 'यद्भाव्यंनीति' (Laissez Faire) की ओर राजशास्त्रवेत्ताओं का ध्यान आकृष्ट हुआ। पूंजीपति अपने लाभ के लिए विधान निर्माण कराने का प्रयत्न करने लगे, दूसरी ओर व्यक्तिवादियों ने यह आन्दोलन आरम्भ किया कि राज्य को उद्योग व्यापार में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। ऐसे समय में बेन्थम और उसके अनुयायियों ने तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति से लाभ उठाया और अपने उपयोगितावाद सिद्धांत का स्पष्टीकरण किया और इस सिद्धांत को शासन प्रणाली में प्रयोग करने पर जोर दिया। बेन्थम ने इस प्रकार अपने सिद्धांत की व्याख्या की 'उपयोगिताही लोकहित है' मनुष्य के सुख को निर्धारित करने वाली

यही वस्तु है और इसी के द्वारा मनुष्य को सुख प्राप्त हो सकता है। उपयोगितावादियों का मत है कि उपयोगिता ही मनुष्य के जीवन का मूल सिद्धांत है, मनुष्य के सम्पूर्ण कार्यों का आधार उपयोगिता ही है। इसी सिद्धांत के द्वारा मनुष्य का हित हो सकता है। मनुष्य का उद्देश्य सुख प्राप्त करना है। प्रत्येक व्यक्ति सदैव सुख प्राप्त करने की भावना रखता है। इसी उद्देश्य से उसके संपूर्ण कार्यों का संचालन होता है। सुख की प्राप्ति समाज में रहकर ही संभव हो सकती है। समाज से पृथक होकर सुख प्राप्त करना असंभव है अतः मनुष्य के लिए सामाजिक जीवन अनिवार्य तथा अत्यंत आवश्यक है। परन्तु प्रत्येक सभ्य समाज राजनीतिक रूप से संगठित है इसलिए 'राजनीतिक समाज' अथवा 'राज्य' में मनुष्य के सुख की प्राप्ति राज्य के विधानों पर निर्भर है। राज्य का आधार नैतिक सिद्धांत है। बिना नैतिक सिद्धांत के राजनीतिक सिद्धांत अपूर्ण है। इस प्रकार उपयोगितावादी आचार-शास्त्र को राज्य की शासन प्रणाली का आधार मानते हैं।

जैरमी बेन्थम (१७४८-१८३२)—जिस प्रकार अरस्तू आधुनिक राजनीतिक विज्ञान का पिता कहा जाता है उसी प्रकार बेन्थम को उपयोगितावाद सिद्धांत का पिता कहा जाता है। बेन्थम से पूर्व कुछ अंग्रेज दार्शनिकों ने उपयोगितावाद पर अपने विचार प्रकट किये थे परन्तु उनमें से किसी ने उपयोगितावाद को एक सिद्धांत का रूप नहीं दिया था। बेन्थम ने उपयोगितावाद को सिद्धांत का रूप दिया और उस सिद्धांत को तत्कालीन राजनीतिक क्षेत्र में प्रयोग किया और वह ऐसा करने में पूर्ण रूप से सफल हुआ। बेन्थम बाल्यावस्था से ही बड़ा कुशाग्र बुद्धि था। उसके पिता ने उसे शिक्षा प्राप्त करने के लिए आक्सफोर्ड (Oxford) भेजा परन्तु वहां की शिक्षा से वह संतुष्ट न हुआ। इसके पश्चात् वह लंदन के लिन्कन्स इन (Lincoln's Inn) विद्यालय में विधिसंबंधी शिक्षा प्राप्त करने के लिये गया। वहां उसने बड़ी रुचिपूर्वक विधि संबंधी शास्त्रों का अध्ययन किया और इस विषय में निपुणता प्राप्त की। उसने ब्लैक्स्टन (Blackstone) का लिखा हुआ एक ग्रंथ पढ़ा जिसमें उसने ब्रिटिश विधि तथा विधानों की बड़ी प्रशंसा की थी। इस ग्रंथ का उस पर उलटा प्रभाव पड़ा। उसका यह विश्वास हो गया कि ब्रिटिश विधि तथा विधान वास्तव में प्राचीन काल के लोगों के रीति रिवाजों पर निर्भर हैं। उसका विश्वास था कि वे विधि, विधान इंगलैंड की तत्कालीन राजनीतिक दशा के लिए अपर्याप्त तथा अपूर्ण हैं और उनमें क्रांतिकारी परिवर्तन करने की आवश्यकता है। इससे पूर्व वह प्रीस्टले की 'एसे आन गवर्नमेंट, (Essay on Government) का अध्ययन कर चुका था। उसमें उसने एक स्थान पर यह पढ़ा कि 'राज्य का वास्तविक ध्येय अधिकतम् लोगों के अधिकतम्

सुख का अभिवर्द्धन करना है, यदि राज्य इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए शासन करता है तो राज्य श्रेष्ठ है अन्यथा नहीं।' प्रीस्टले के इन वाक्यों का उस पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने इस सूत्र की पूर्ण रूप से विवेचना करके इसके आधार पर उपयोगितावाद सिद्धांत की स्थापना की। वैज्ञानिक दृष्टि से इस सिद्धांत की व्याख्या करते हुए उसने कई बड़े बड़े ग्रंथ लिखे। इस प्रकार उसने उपयोगितावाद सिद्धांत का प्रचार किया। सन् १७७६ में उसने 'फ्रेग्मेंट आन गवर्नमेंट' (Fragment on Government) नामक एक ग्रंथ लिखा। उसमें उसने इंगलैंड की तत्कालीन शासन-पद्धति तथा विधि, विधानों का खंडन किया और उनमें समूल परिवर्तन करने का आग्रह किया। उसने इसी उद्देश्य को सामने रखकर अन्य अनेक ग्रंथ लिखे जिनमें निम्नलिखित तीन ग्रंथ अधिक प्रसिद्ध हैं—

(१) इन्ट्रोडक्शन टु दी प्रिंसिपल्स आफ मॉरल्स ऐण्ड लैजिस्लेशन (Introduction to the Principles of Morals and Legislation)

(२) डिस्कोर्स आन सिविल ऐण्ड पीनल लैजिस्लेशन (Discourse on Civil and Penal Legislation) और

(३) ए थ्यौरी आफ पनिश्मेंट्स ऐण्ड रिवार्ड्स (A Theory of Punishments and Rewards)

बेन्थम ने इन ग्रंथों में इंगलैंड की राजनीतिक तथा सामाजिक दशा सुधारने के लिए बहुत सी योजनाओं का आयोजन किया है। उसने केवल इंगलैंड के लिए ही विधि तथा विधानों का निर्माण नहीं किया। उसने रूस, फ्रांस, मैक्सिको, चिली आदि अन्य देशों के लिए भी विधान-निर्माण का कार्य किया। उसका यह विचार था कि उसके सिद्धांत केवल इंगलैंड के लिए ही नहीं हैं बल्कि इनका प्रयोग बिना भौगोलिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का विचार किये संसार के प्रत्येक राज्य में किया जा सकता है। अतः उसने संसार के अनेक देशों की विधि-स्मृतियां तैयार कीं और इन्हीं स्मृतियों के आधार पर उन देशों ने अपने विधान-निर्माण का कार्य किया। उसका मत था कि किसी राज्य के लिए विधान-निर्माण करने के लिए उस देश के प्राचीन रीति रिवाजों पर ही निर्भर नहीं रहना चाहिए बल्कि उस देश की वर्तमान परिस्थितियों को ध्यान में रखकर विधान-निर्माण का कार्य करना चाहिए। अठारहवीं शताब्दी में इंगलैंड निवासियों ने बेन्थम के सिद्धांत पर कुछ ध्यान न दिया क्योंकि फ्रांस की राज्य-क्रांति का इंगलैंड पर विपरीत प्रभाव पड़ा। फ्रांस में क्रांतिकारियों ने अपने राजा रानी को गिलोटीन (कुल्हाड़ी द्वारा गला कटवाने की प्रथा) की भेंट चढ़ा दिया और अनेक हत्याएं कीं। परिणाम यह हुआ कि इंगलैंड में राजनीतिज्ञों ने सब प्रकार के राजनीतिक परि-

वर्तनों का विरोध किया क्योंकि उन्हें इस बात का भय था कि कहीं इंगलैंड में भी ऐसा ही भयंकर परिणाम न हो। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में वहां के लोग बेन्थम के सिद्धांतों की ओर आकर्षित हुए और जिन जिन सुधारों की बेन्थम ने प्रस्तावना की थी वे सब सुधार इंगलैंड में किये गये।

बेन्थम का उपयोगितावाद सिद्धांत (Utilitarianism)—बेन्थम का मत है कि प्रत्येक मनुष्य दुःख, सुख रूपी दो सर्व प्रधान स्वामियों के अधीन है, ये दोनों स्वामी प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह निर्णय करते हैं कि अमुक कार्य अच्छा है और अमुक बुरा, अर्थात् मनुष्य के लिए कार्य की उपयोगिता ही यह निर्धारित करती है कि कौन सा कार्य उचित है और कौन सा अनुचित। कोई कार्य जितना अधिक सुख देगा उतना ही अधिक अच्छा समझा जायगा और जितना अधिक दुःखदायी होगा उतना ही अधिक बुरा। इस प्रकार प्रत्येक कार्य की उपयोगिता पर उस कार्य का गुण निर्भर है। उपयोगिता वह गुण है जो मनुष्य को लाभ, प्रसन्नता, सुख और शांति देता है और उसके व्यक्तिगत तथा सामूहिक सर्व प्रकार के हितों का कारण बनता है। अथवा यों कह सकते हैं कि उपयोगिता ऊपर वर्णन किये हुए गुणों के विपरीत जो अवगुण हैं उनका निरोध करती है। बेन्थम का कथन है कि 'सुख' का अर्थ 'आनन्द' है। सम्पूर्ण आनन्दों में समान गुण हैं परन्तु उन गुणों के प्राबल्य तथा कार्यकाल में अन्तर हैं। कोई आनन्द अधिक प्रबल होता है और कोई कम। इसी प्रकार कोई आनन्द अधिक काल तक रहता है और कोई क्षणिक होता है। अथवा यों कह सकते हैं कि सुख का अर्थ है दुःख की अनुपस्थिति अथवा दुःख पर सुख का प्राबल्य। इस प्रकार उपयोगितावाद सिद्धांत की व्याख्या करते हुए बेन्थम ने सुख दुःख की विवेचना की है और अन्त में यह सिद्ध किया है कि आनन्द के स्रोत चार हैं—भौतिक, धार्मिक, नैतिक और राजनीतिक। इन चारों स्रोतों द्वारा मनुष्य को जो सुख प्राप्त होता है उसका माप भी उपयोगिता ही है। इन चारों स्रोतों द्वारा मनुष्य को सुख तो प्राप्त होता है, परन्तु बेन्थम ने इसमें मनुष्य की चित्तवृत्ति के लिए कोई स्थान नहीं रखा है। सुख, दुःख अधिकतर मनुष्य की चित्त-वृत्ति पर निर्भर है। जो मनुष्य संतोषी है वह केवल थोड़े से धन की प्राप्ति से ही पूर्ण सुखी हो सकता है और पूर्ण आनन्द का अनुभव कर सकता है। इसके विपरीत एक अत्यंत लोभी और कृपण बहुत सा धन होते हुए भी दुखी रहता है और उसे अधिकाधिक धन प्राप्त करने की लालसा बनी रहती है। बेन्थम ने आत्मा के प्रभाव को उपयोगितावाद में कोई स्थान नहीं दिया है। सुख, दुख तो

वास्तव में आत्मा (मन) पर निर्भर है। गीता में श्रीकृष्ण जी ने कहा है कि "प्रीति और द्वेष को त्याग कर जिसने अपनी इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया है उसने विषय का सेवन किया तो भी वह आनन्द ही पाता है। चित्त के प्रसन्न होने से सब दुखों का नाश हो जाता है और प्रसन्न-चित्त वालों की बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है। जिसका मन शांत नहीं रहता उसे आत्मज्ञान की बुद्धि नहीं रहती, जो आत्मा का ध्यान (आत्म-चिन्तन) नहीं करता उसे शांति प्राप्त नहीं होती। जिसे शांति नहीं मिलती उसे सुख किस प्रकार मिल सकता है।"* बेन्थम के उपयोगितावाद में सुख के परिमाण की ओर ध्यान दिया गया है उसके गुण की ओर नहीं। बेन्थम ने उपयोगितावाद सिद्धांत का प्रयोग विधान-निर्माण कार्य और राजनीतिक क्षेत्र में किया और वह उसमें पूर्ण रूप से सफल हुआ। उसका कथन है कि विधान का निर्माण इस उद्देश्य से होना चाहिए कि मनुष्य समाज में प्रत्येक व्यक्ति को उस विधान से लाभ पहुँचे और सबको समान सुख पहुँचाने का प्रयत्न किया जाय। राजनीतिक संस्था का संगठन इस प्रकार किया जाय कि राज्य के प्रत्येक व्यक्ति (जो वास्तव में इस योग्य है) को शासन प्रबंध में भाग लेने का अवसर प्राप्त हो। अर्थात् उपयोगितावाद सिद्धांत के अनुसार जनतंत्र शासन सर्वश्रेष्ठ है। जनतंत्र शासन पद्धति ही एक ऐसी पद्धति है जिसमें जनसाधारण को शासन-कार्य में भाग लेने का अवसर प्राप्त हो सकता है। वास्तव में उपयोगितावाद सिद्धांत व्यक्तिवाद का पक्षपाती है। बेन्थम ने इस सिद्धांत को व्यक्तिवाद के दोष से बचाने के लिए इस सिद्धांत का नाम "अधिकतम् लोगों का अधिकतम् सुख" रखा और अब उपयोगितावाद का यही अर्थ समझा जाता है।

बेन्थम के मतानुसार राज्य की उत्पत्ति—बेन्थम के मतानुसार राज्य की उत्पत्ति किसी प्रकार के सामाजिक अनुबन्ध के अनुसार नहीं हुई है। उसका

---

* राग द्वेष वियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥
प्रसादे सर्व दुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥
—गीता, अध्याय २

कथन है कि उपयोगिता ही के कारण मनुष्य राजनीतिक समाज के रूप में संगठित हुआ है। राज्य स्थापित करने का ध्येय यह है कि मनुष्य को लाभ पहुँचे। राज्य मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक हितों की रक्षा करता है इसलिए मनुष्य के लिए उपयोगी है। राज्य में रहकर मनुष्य को राज्य द्वारा निर्माण किये हुए विधानों का पालन करना पड़ता है। इससे मनुष्य की स्वतंत्रता में बाधा पड़ती है। स्वतंत्रता में बाधक होते हुए भी राजनीतिक संगठन में रहना अधिक श्रेष्ठ है। अराजकता की दशा अत्यंत भयंकर और दुखदायी है अतः अराजकता की दशा की अपेक्षा राजनीतिक दशा में संगठित रहना अधिक न्यायसंगत तथा उचित है। क्योंकि राज्य की स्थापना मनुष्यों के व्यक्तिगत तथा सामाजिक हितों की रक्षा के लिए उपयोगी होने के कारण हुई है, इसलिए उपयोगिता ही बेन्थम के मतानुसार राज्य की स्थापना का कारण है। बिना उपयोगिता के राजनीतिक समाज की कल्पना करना असंभव है।

बेन्थम के मतानुसार अधिकार—बेन्थम के उपयोगितावाद सिद्धांत के अनुसार नैसर्गिक अधिकार कोई वस्तु नहीं है। उसका कथन है कि जिस प्रकार नैसर्गिक अधिकार कोई वस्तु नहीं है उसी प्रकार नैसर्गिक विधान भी कोई वस्तु नहीं है। उसके मतानुसार राज्य की सर्वोच्च सत्ता विधान निर्माण करती है, विधानों का निर्माण लोकहित के लिए होता है। विधानों द्वारा अधिकतम् लोगों का हित होता है। अधिकतम् लोगों के हितों की उपयोगिता ही विधानों का वास्तविक ध्येय है। जितना अधिक ये विधान इस ध्येय को पूर्ण करने में सफल होंगे उतने ही अधिक श्रेष्ठ ये समझे जायेंगे। मनुष्य के अधिकारों की उत्पत्ति इन्हीं विधानों द्वारा होती है। बिना विधानों के अधिकार का अस्तित्व संभव नहीं है। स्वतन्त्रता, समानता तथा अन्य सब प्रकार के मानव अधिकारों का आदिस्रोत राज्य के विधान हैं। ये सब अधिकार विधानों पर ही निर्भर हैं और ये ही विधान मनुष्य को सब अधिकारों को प्राप्त कराने में सहायक होते हैं। विधानों का वास्तविक ध्येय लोकहित की रक्षा करना, समानता स्थापित रखना और अधिकतम् लोगों को अधिकतम् सुख प्राप्त कराना है। विधान निर्माण राज्य की सर्वोच्च सत्ता द्वारा होता है। बेन्थम के मतानुसार विधान सर्वोच्च सत्ता की इच्छा का प्रतीक है। सर्वोच्च सत्ता की आज्ञा ही विधान है। सर्वोच्च सत्ता विधान का निर्माण करती है। बेन्थम का यह विचार हाब्ज के विचारों से बहुत कुछ समानता रखता है। हाब्ज भी राज्य की सर्वोच्च सत्ता ही

को विधान का निर्माता और आदिस्रोत समझता है। भेद केवल यही है कि बेन्थम उपयोगिता को विधान का ध्येय समझता है अतः लोकहित के लिए उपयोगी होना ही विधानों का वास्तविक ध्येय है।

बेन्थम के मतानुसार सर्वोच्च सत्ता—बेन्थम के मतानुसार सर्वोच्च सत्ता का अधिकार अपरिमित तो नहीं है परन्तु अनिश्चित अवश्य है। जब तक सर्वोच्च सत्ता का अधिकार किसी प्रत्यक्ष अनुबन्ध द्वारा सीमित न किया जाय तब तक वह पूर्ण सत्ता का अधिकारी है। राजा सर्व-सर्वा है। यदि राजा को क्रांति का भय है तो वह अपने कार्यों को सीमित कर सकता है परन्तु उसके कार्यों का ध्येय लोकहित होता है। लोकहित के लिए वह विधान निर्माण करता है। बेन्थम ने अधिकार-विधान-लिपियों (Bill of Rights) का विरोध करते हुए सर्वोच्च सत्ता को पूर्ण अधिकार सौंपा है। सर्वोच्च सत्ता एक-सत्तात्मक भी हो सकती है और लोक-सत्तात्मक भी। यदि जनतंत्र राज्य है तो सर्वोच्च सत्ता जनता के चुने हुए लोगों के हाथ में रह सकती है। जनतंत्र में भी जिन लोगों के हाथ में शासन की बागडोर है वे पूर्ण रूप से राज्य के संचालक तथा सर्वोच्च सत्ताधारी हैं। बेन्थम विधानों के विरुद्ध है। उसका मत है कि अलिखित विधान द्वारा शासन नहीं करना चाहिए। वह लिखित विधान के पक्ष में है। उसका कथन है कि शासन लिखित विधान द्वारा होना चाहिए। लिखित विधान द्वारा शासन करने से जनता को अपने अधिकार और कर्त्तव्यों का पूर्ण रूप से बोध होता है। प्रत्येक अधिकार के साथ तत्संबंधी (Corresponding) कर्त्तव्य है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने अधिकारों का उपभोग करते हुए तत्संबंधी कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए। अधिकारों और कर्त्तव्यों का आधार लोकहित तथा उपयोगिता है। यदि अधिकतम लोगों के अधिकतम हित के आधार पर अधिकारों का उपभोग और कर्त्तव्यों का पालन होता है तो विधान ठीक है, यदि विधानों द्वारा इन ध्येयों की पूर्ति नहीं होती तो विधान दूषित है। विधान-निर्माण कार्य में उपयोगिता का ध्यान रखना पड़ता है। मनुष्य के व्यक्तिगत अधिकारों का स्रोत सर्वोच्च सत्ता है। ऊपर बतलाया जा चुका है कि बेन्थम नैसर्गिक अधिकारों को स्वीकार नहीं करता है। उसका कथन है कि वास्तव में नैसर्गिक अधिकारों का कोई अस्तित्व नहीं है। ये केवल कल्पना मात्र हैं। वह केवल दो प्रकार के अधिकारों को मानता है—एक नैतिक अधिकार और दूसरे वैधानिक अधिकार। इनके अतिरिक्त वह और किसी प्रकार के अधिकारों को नहीं

मानता। इसी प्रकार उसने तीन प्रकार के कर्त्तव्यों के पालन करने का आदेश किया है—एक नैतिक दूसरे राजनैतिक और तीसरे धार्मिक। इन कर्त्तव्यों के अतिरिक्त मनुष्य को और किसी कर्त्तव्य का पालन करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। इन अधिकारों के संभोग और कर्त्तव्यों के पालन करने में उपयोगिता का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि नैतिक, राजनीतिक तथा धार्मिक कर्त्तव्यों और नैतिक तथा वैधानिक अधिकारों का आधार उपयोगिता ही है।

बेन्थम का विचार है कि सर्वोच्च सत्ता का आज्ञा-पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का वैधानिक कर्त्तव्य है। यदि कोई व्यक्ति सर्वोच्च सत्ता की आज्ञा का उल्लंघन करता है तो वह विधान की अवहेलना करता है और दंड का भागी है। किसी व्यक्ति को सर्वोच्च सत्ता अथवा राजा की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए और न उसका विरोध ही करना चाहिए। राजा का विरोध करने का किसी को भी वैधानिक अधिकार प्राप्त नहीं है परन्तु उपयोगिता के आधार पर यदि कोई व्यक्ति यह समझता है कि कि राजा की आज्ञा पालन करने की अपेक्षा उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने में हित है तो उसे राजा की आज्ञा का उल्लंघन करने का नैतिक अधिकार और उसका नैतिक कर्त्तव्य है। यहां भी बेन्थम ने उपयोगिता पर अधिक जोर दिया है अर्थात उसने यह स्पष्ट कहा है कि इन दोनों बातों पर भली प्रकार विचार कर लेना चाहिए कि राजा की आज्ञा पालन करने में अधिक अहित है अथवा उसका विरोध करने में। यदि राजा का विरोध करने की अपेक्षा उसकी आज्ञा पालन करने में अधिक अहित है तो लोगों का यह नैतिक अधिकार और नैतिक कर्त्तव्य है कि उसका विरोध किया जाय। इस प्रकार मनुष्य राजा के विरुद्ध क्रांति कर सकते हैं परन्तु क्रांति का आधार भी उपयोगिता ही है। बेन्थम के उपयोगितावाद सिद्धांत में राजा को बड़ा उच्च स्थान दिया गया है। प्रत्येक दशा में उसकी आज्ञा पालन करने का आदेश किया गया है परन्तु इस सिद्धांत द्वारा राजा के विरुद्ध क्रांति करने की भी आज्ञा दी गयी है।

बेन्थम और शासन सुधार—बेन्थम इंगलैंड की तत्कालीन शासन-प्रणाली से असंतुष्ट था। उसका विचार था कि इंगलैंड की शासन प्रणाली दूषित है और उसमें सुधार करने की आवश्यकता है। उसने इंगलैंड की राजतंत्र शासन प्रणाली के विरुद्ध अपने विचार प्रगट किये और

वहां के अभिजात-भवन (House of Lords) के प्रति भी अपना असंतोष प्रगट किया। बेन्थम को इन दोनों प्रकार की संस्थाओं में विश्वास न था। उसने इंगलैंड की शासन प्रणाली में कुछ सुधार करने की योजना की प्रस्थापना की। उसने यह अभिस्तुति (Recommendation) की कि पार्लिमेंट का अधिवेशन वार्षिक होना चाहिए। उस समय इंगलैंड में सब वयस्क स्त्री पुरुषों को मताधिकार प्राप्त न था अतः उसने यह भी संस्तुति की कि व्यापक वयस्क मताधिकार सबको प्राप्त होना चाहिए और गुप्त मत पत्र द्वारा मतदान प्रणाली प्रचलित करनी चाहिए। बेन्थम के जीवन काल में तो ये सुधार न हो सके परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में इंगलैंड में ये सब सुधार कार्यरूप में परिणत किये गये। वह जनतंत्र अथवा गणराज्य के पक्ष में था। उसका मत है कि जनतंत्र अथवा गणराज्य सर्व श्रेष्ठ शासन प्रणाली है। इस शासन प्रणाली में सर्वोच्च सत्ता जनता के हाथ में रहती है। इस शासन प्रणाली द्वारा लोकहित संबंधी कार्य अधिक सफलता पूर्वक हो सकते हैं। जहां सर्वोच्च सत्ता जनता के हाथ में होती है वहां राज्य में सब प्रकार की उन्नति हो सकती है। ऐसे राज्य में लोग अधिक सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकते हैं और लोगों को व्यक्तिगत अथवा सामाजिक उन्नति करने का अवसर प्राप्त होता है। एक अच्छे जनतंत्र अथवा गणराज्य ही में लोग शारीरिक, बौद्धिक, आत्मिक और आध्यात्मिक उन्नति कर सकते हैं। बेन्थम का मत है कि सरकार को व्यापार संबंधी कार्यों में 'यद्भाव्यं नीति' (Laissez faire) का अनुसरण करना चाहिए। उसने यद्भाव्यं नीति का समर्थन करते हुए कहा है कि सरकार को उन्मुक्त व्यापार (Free Trade) नीति को अपनाना चाहिए और राज्य को जनता के व्यक्तिगत व्यापार में और व्यापार संघों के कार्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

बेन्थम ने केवल राजनीतिक सुधार ही करने का प्रयत्न नहीं किया, उसने इंगलैंड के लिए एक विशाल विधि-संग्रह (Code) प्रकाशित किया। उसने विधि, विधान संबंधी अनेक ग्रंथ रचे। उसने अन्तर्राष्ट्रीय-विधान-स्मृति बनायी, संविधान-शास्त्र का निर्माण किया, अर्थ-विधान, व्यवहार-विधान (दीवानी कानून) दंड-विधान, न्याय-शास्त्र आदि अनेक ग्रंथ लिखे। वह उस समय में इंगलैंड में प्रचलित दंड-विधान से बहुत असंतुष्ट था, उसने जो दंड-विधान रचा उसमें अपराधियों को सुधारने की बहुत सी नवीन योजनाएं शासकों के सामने रखीं। उसका अभिप्राय केवल दंड-विधान का

निर्माण करना ही नहीं था, उसने अपराधियों के भविष्य जीवन के सुधारने के लिए बड़ी अच्छी योजनाएं तैयार कीं, जिनके द्वारा अपराधियों को कारागार में जीवनोपार्जन के साधनों की शिक्षा देने और कारागार से बाहर निकलकर श्रेष्ठ लोगों की भांति जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देने की योजना बनायी। कारागार के सुधार की योजना में उसने एक विशेष प्रकार के कारागार निर्माण कराने का आदेश किया। उसका कथन है कि कारागार एक चक्र के रूप में निर्माण किया जाना चाहिए जिसके मध्य (केन्द्र) में कारागार के अध्यक्ष का गृह तथा कार्यालय होना चाहिए जिससे वह सम्पूर्ण कारागार के निवासियों का सरलता पूर्वक निरीक्षण कर सके और अपने कार्यालय से सब ओर को दृष्टिपात कर सके। उसका मत है कि अपराधियों को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए कि जिसके द्वारा वह कारागार से बाहर जाकर अपराध न करें और सम्मान पूर्वक परिश्रम करके अपना जीविकोपार्जन कर सकें। अतः उन्हें कारागार में भिन्न भिन्न प्रकार के उद्यम और व्यवसायों की शिक्षा दी जाय। दंड ऐसा दिया जाय जिससे लोगों को शिक्षा मिले और लोग अपराध करने का साहस न करें। बेन्थम की इस प्रकार की योजनाओं को लोगों ने ग्रहण किया और शनैः शनैः उसकी योजनाएं कार्यान्वित की गयीं। जो जो सुधार की योजनाएं उसने बनायीं वे सब आज कार्य रूप में परिणत दिखायी देती हैं। उसका विचार है कि राज्य के विधि, विधानों का पूर्ण ज्ञान साधारण जनता को होना चाहिए जिससे वे उनका पालन करें और उनका उल्लंघन न करें। वर्तमान समय में जितनी लोकहित संबंधी योजनाएं शासन प्रणालियों में दिखायी देती हैं उनमें से अधिकतर बेन्थम की ही प्रचलित की हुई हैं। उसका मत है कि मुद्रण यंत्रालयों को प्रकाशन की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए और शासन को उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

जेम्स मिल (James Mill) १७७३–१८३६—जेम्स मिल बेन्थम का अनुयायी और साहचर्यात्मक मनोविज्ञान का ज्ञाता था। उसने उपयोगितावाद सिद्धांत में साहचर्यात्मक मनोविज्ञान का प्रयोग किया और उपयोगितावाद सिद्धांत का प्रचार किया। उसका कथन है कि वाह्य परिस्थिति और शिक्षा का मानव समाज के जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। जन्म के समय मनुष्यों की योग्यता समान होती है परन्तु पालन पोषण, शिक्षा और अन्य परिस्थितियों के कारण उनके जीवन में अत्यंत

परिवर्तन और असमानता हो जाती है अतः मनुष्य की शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। मनुष्य की रुचि का निरीक्षण करके उसे उसकी चित्तवृत्ति के अनुसार उपयुक्त शिक्षा देकर उसकी अन्तःस्थित तथा प्रसुप्त मानसिक शक्तियों का विकास करना चाहिए। उसका मत है कि प्रत्येक कार्य की नैतिक श्रेष्ठता उस कार्य की उपयोगिता पर निर्भर है। जितना अधिक कोई कार्य उपयोगी होगा उतनाही वह श्रेष्ठतम समझा जायगा। अतः, विधि तथा विधानों की अच्छाई उनकी उपयोगिता पर निर्भर है। वही विधि और विधान श्रेष्ठ हैं जिनके द्वारा अधिकतम् लोगों को अधिकतम् सुख की प्राप्ति होती है और यदि उनका प्रभाव इसके विपरीत है तो वे दूषित हैं। इस प्रकार उपयोगिता के आधार पर उसने विधानों की अच्छाई और बुराई को निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। इसके साथ साथ मिल का यह भी विश्वास है कि स्वाभाविकतया मनुष्य दुखों से बचने और उनके निवारण तथा सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। इस प्रकार अपने ही हित को ध्यान में रखकर प्रत्येक मनुष्य कार्य करता है और ऐसा करने में वह अन्य पुरुषों के हितों को आघात पहुँचाता है। ऐसी दशा में शासन का यह कर्त्तव्य है कि मनुष्यों को इस प्रकार के अनधिकृत कार्य करने से वञ्चित रखे। इसीलिए शासन को विधि, विधान बनाने की आवश्यकता होती है। इन विधि, विधानों द्वारा शासन मनुष्यों को एक निश्चित सीमा के भीतर अपने कार्यों को सीमित रखने का आदेश करता है। और मनुष्यों के व्यक्तिगत तथा सामूहिक हितों की रक्षा करता है। इस उद्देश्य के लिए राज्य में सुव्यवस्थित शासन-प्रणाली की आवश्यकता है।

मिल के उपयोगितावाद में राजतंत्र, कुलीनतंत्र अथवा जनतंत्र को कोई विशेष वरीयता (Preference) नहीं दी गयी है। उसके सिद्धांत के अनुसार प्रतिनिधिक शासन पद्धति सर्व श्रेष्ठ शासन प्रणाली है। उसका विचार है कि इस प्रकार की शासन प्रणाली में शासन कर्त्ता पक्षपात तथा स्वार्थ सिद्धि के कार्य नहीं कर सकते क्योंकि लोगों के प्रतिनिधि उनके कार्यों का निरीक्षण करते रहेंगे और लोकसभाओं द्वारा उचित विधानों का निर्माण करके शासकों के कार्यों पर अवरोध स्थापित करते रहेंगे। मिल का कथन है कि प्रतिनिधि भी अधिक नहीं होने चाहिए और उनका कार्यकाल भी अधिक नहीं होना चाहिए जिससे वे स्वेच्छाचारी होकर मनमाना कार्य न करने लगें। यदि प्रजा के प्रतिनिधि न्यून संख्या में होंगे और थोड़े काल

के लिए निर्वाचित होंगे तो वे अपने पदों पर योग्यता पूर्वक कार्य करेंगे और उन्हें इस बात का भी ध्यान रहेगा कि यदि वे अच्छा कार्य करेंगे तो उन्हें पुनः निर्वाचन का अवसर प्राप्त होगा। मिल उन लोगों को मताधिकार देने के पक्ष में नहीं है जो लोग दूसरों पर आश्रित हैं अथवा किसी प्रकार से दूसरों के प्रभाव में है क्योंकि उसका विचार है कि ऐसे लोग स्वतंत्रता पूर्वक अपने विवेक के अनुसार अपने मताधिकार का प्रयोग नहीं कर सकते हैं और इस प्रकार का मत देना व्यर्थ है। अतः स्त्रियों और बच्चों को तथा अन्य ऐसे व्यक्तियों को जो दूसरों पर आश्रित हैं मत प्रदान करने का अधिकार नहीं देना चाहिए। बेन्थम व्यापक वयस्क मताधिकार के पक्ष में है। मिल व्यापक वयस्क मताधिकार का विरोध करता है। वह तो व्यापक पुरुष-मताधिकार के भी विरुद्ध है। उसका विश्वास है कि सब मनुष्यों में मताधिकार का प्रयोग करने की समान योग्यता नहीं होती है। बहुत से लोग ऐसे हैं जो मताधिकार का उचित प्रयोग नहीं कर सकते। ऐसे लोगों को मताधिकार से वञ्चित रखना चाहिए अन्यथा उनको मताधिकार देने से लाभ की अपेक्षा हानि होने की अधिक संभावना है। मिल मध्यम वर्ग के लोगों को मताधिकार तथा शासनाधिकार देने के पक्ष में है। उसका विचार है कि मध्यम श्रेणी का मानव-समाज ही राष्ट्र का उचित नेतृत्व कर सकता है। मिल ने अपने एक ग्रंथ में लिखा है कि एक अन्तर्राष्ट्रीय स्मृति संग्रह करने की आवश्यकता है। बेन्थम की भांति उसने भी इंगलैंड के न्याय संबंधी कार्यों में सुधार करने की इच्छा प्रकट की है। उसका विश्वास था कि इंगलैंड के तत्कालीन विधि तथा विधान दोष-युक्त थे और उनमें सुधार करने की आवश्यकता थी। उसने अन्तर्राष्ट्रीय अधिकरण (अदालत) स्थापित करने के लिए अपना विचार प्रकट किया है।

जॉन आस्टिन (John Austin) १७९०–१८५९—आस्टिन न्याय-शास्त्र मर्मज्ञ था। उसने न्याय-शास्त्र संबंधी अनेक ग्रंथ लिखे हैं। उसने न्यायशास्त्र की सहायता से उपयोगितावाद सिद्धांत की पुष्टि की है। जो सिद्धांत बेन्थम ने आचार शास्त्र द्वारा स्थापित किया, उसी को आस्टिन ने न्याय शास्त्र द्वारा सिद्ध किया। बेन्थम ने न्याय संबंधी मूल सिद्धांतों की स्थापना की और आस्टिन ने उन सिद्धांतों को न्याय शास्त्र द्वारा सिद्ध किया और उनकी पुष्टि की। वास्तव में आस्टिन न्याय शास्त्र मर्मज्ञ राज-शास्त्रवेत्ता था। उसने न्याय को ही राजशास्त्र सिद्धांत का आधार बतलाया

है। उसने नसर्गिक और राजनैतिक विधानों की विवेचना करके इन दोनों प्रकार के विधानों में भेद बतलाया और उस भेद को पूर्ण रूप से स्पष्ट किया। उसने विध्यात्मक विधि (Positive law) और वास्तविक नतिकता (Positive morality) के भेद को भी स्पष्ट किया। उसका कथन है कि वास्तव में विधान के दो भेद हैं---एक ईश्वरीय विधान और दूसरा मानवीय। फिर उसने मानवीय अर्थात् मनुष्य-कृत विधान के भी दो भेद किये हैं---एक तो वे विधि जो राजनीतिक संस्था द्वारा निर्माण किये जाते हैं और दूसरे वे जो राजनीतिक संस्था द्वारा निर्माण नहीं किये जाते बल्कि अन्य संस्थाओं द्वारा निर्माण किये जाते हैं। जो विधान राजनीतिक संस्था द्वारा निर्माण किये जाते हैं वही विध्यात्मक विधान हैं। राजनीतिक संस्था को अन्य संस्थाओं से विशिष्ट समझा गया है। आस्टिन ने विध्यात्मक विधि की परिभाषा इस प्रकार की है कि "मनुष्य के आचरण का नियमन करने के लिए विधि एक निर्धारित श्रेष्ठ व्यक्ति द्वारा अभिव्यक्ति की हुई इच्छा है जिसमें इस इच्छा की अवहेलना करने पर दंड देने की व्यवस्था भी सम्मिलित है।" अर्थात् राजनीतिक दृष्टि से 'विधान' में तीन बातें आवश्यक हैं---(१) विधि एक 'आज्ञा' है। यह ऐसी साधारण आज्ञा नहीं है जो किसी व्यक्ति द्वारा किसी भी व्यक्ति को दी जा सके। वह एक विशेष प्रकार की आज्ञा है। क्योंकि उसी आज्ञा को विधि कहा जा सकता है जिसकी अभिव्यक्ति एक निर्धारित और निश्चित श्रेष्ठ-व्यक्ति-विशेष द्वारा की जाय। इसलिए उस आज्ञा की अभिव्यक्ति (२) एक निर्धारित श्रेष्ठ-व्यक्ति-विशेष द्वारा होगी। यह व्यक्ति निश्चित रूप से सर्व श्रेष्ठ व्यक्ति होगा। सर्व श्रेष्ठ निश्चित होने पर उसे आज्ञा देने का पूर्ण अधिकार है। उसकी इच्छा ही आज्ञा है। उसकी आज्ञा का पालन करना सब व्यक्तियों का परम धर्म है उसकी आज्ञा की अवहेलना करना पाप है। इसलिये उसकी इच्छा अथवा आज्ञा की अवहेलना करने वाले अथवा उसकी आज्ञा का उल्लंघन करने वाले के लिये (३) दंड की व्यवस्था की गयी है। जो व्यक्ति उसकी आज्ञा की अवहेलना करेगा अथवा उसका उल्लंघन करेगा वह दंड का भागी होगा। अतः आस्टिन के मतानुसार राजनीतिक दृष्टि में एक सर्वश्रेष्ठ पुरुष को विधि निर्माण करने का पूर्ण अधिकार है और उसका उल्लंघन करने वाले को उसे दंड देने का पूर्ण अधिकार है। यही विध्यात्मक विधान है। इस प्रकार विधि की व्याख्या करके आस्टिन ने विध्यात्मक

विधि और नैतिक अथवा नैसर्गिक विधि (वास्तविक नैतिकता) का भेदपूर्ण रूप से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है और वह इस कार्य में सफल भी हुआ है। आस्टिन पहला राज-शास्त्र-वेत्ता है जिसने न्याय-शास्त्र और आचार शास्त्र के भेद को स्पष्ट किया और विधि तथा आचार-शास्त्र की विभिन्नता को प्रकट किया। इन दोनों के कार्यक्षेत्रों का स्पष्टीकरण करने में आस्टिन सफल हुआ है।

आस्टिन और उपयोगितावाद सिद्धांत—हाब्ज, लॉक और रूसो के विपरीत, आस्टिन इस बात को नहीं मानता कि राज्य की उत्पत्ति सामाजिक अनुबन्ध द्वारा हुई है। सामाजिक अनुबन्ध सिद्धांत में उसका विश्वास नहीं है। वह उपयोगितावाद सिद्धांत के आधार पर राज्य की उत्पत्ति मानता है। उसका मत है कि राज्य एक सावयव संस्था है। राज्य मनुष्य समाज के लिये उपयोगी है। राजनीतिक शासन संगठन की उपयोगिता के कारण राज्य की स्थापना हुई है। मनुष्य समुदाय के अधिकांश लोग अराजकता की अपेक्षा किसी प्रकार के शासन संगठन को अधिक श्रेष्ठ समझते हैं इसलिये उपयोगिता के कारण राज्य की स्थापना हुई है। राज्य में रह कर ही मनुष्य शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करता हुआ सब प्रकार की शारीरिक, आत्मिक और बौद्धिक उन्नति कर सकता है। मनुष्य राज्य में रहकर इसलिये उसकी आज्ञाओं का पालन नहीं करता कि वह ऐसा करने के लिये किसी प्रकार के अनुबन्ध द्वारा वाध्य है बल्कि वह इसलिये उसकी आज्ञाओं का पालन करता है कि वह बहुत काल से उसकी उपयोगिता के कारण ऐसा करता चला आ रहा है और अब आज्ञा पालन करना उसका स्वभाव बन गया है। एक विवेकशील पुरुष राज्य की स्थापना और उसके अस्तित्व का कारण उसकी उपयोगिता ही समझता है। ध्येय 'अधिकतम् लोगों का अधिकतम् सुख' है। जब तक राज्य इस उद्देश्य को पूरा करता है तब तक उसका अस्तित्व न्याय संगत है, अन्यथा नहीं। आस्टिन के मतानुसार राज्य से पृथक किसी व्यक्ति का कोई नैसर्गिक अधिकार नहीं है और न सुख ही किसी एक वस्तु पर निर्भर है। सुख प्राप्ति के आधार अनेक हैं। राज्य के विधानों से पृथक मनुष्य का कोई अधिकार नहीं है। मनुष्य के सम्पूर्ण अधिकारों का स्रोत राज्य के विधान हैं। राज्य के विधानों द्वारा स्वीकृत अधिकारों का उपभोग करने का प्रत्येक व्यक्ति अधिकारी है। अथवा यों कह सकते हैं कि मानव अधिकारों की उत्पत्ति राज्य के विधानों द्वारा होती है। मनुष्य के सम्पूर्ण अधिकार विधानों

के आधीन हैं और विधानों का पालन करते हुए ही मनुष्य अपने अधिकारों को प्राप्त कर सकता है और राज्य द्वारा उनका संरक्षण करा सकता है।

आस्टिन ने 'सम्राट' की व्याख्या इस प्रकार की है "यदि एक ऐसा निश्चित श्रेष्ठ पुरुष जो अपने समान किसी (अन्य) श्रेष्ठ व्यक्ति की आज्ञा पालन करने का अभ्यस्त न हो (और जो) एक निश्चित समाज के अधिकांश (भाग) से आज्ञा पालन कराने का अभ्यस्त हो, ऐसा निश्चित श्रेष्ठ व्यक्ति उस समाज का सत्ताधिकारी (Sovereign) है और (उस सत्ताधिकारी सहित) वह समाज एक स्वतंत्र तथा राजनीतिक समाज है।" * और इस व्याख्या से पता चलता है कि आस्टिन के मतानुसार सत्ताधिकारी (अथवा सर्वोच्चसत्ता) कोई व्यक्तिविशेष नहीं है। न उसके मतानुसार सर्वोच्च-सत्ता जनता के ही हाथ में है। उसके मतानुसार सर्वोच्च सत्ता लोगों के उस निश्चित भाग के हाथ में है जो सर्वोच्चसत्ता का प्रयोग करते हैं। उसके मतानुसार (सर्वोच्च सत्ताधिकारी) सम्पूर्ण विध्यात्मक विधानों का स्रोत है। ऐसी सर्वोच्चसत्ता की आज्ञा पालन करने के लिये सब लोग तत्पर रहते हैं। स्वभावतया लोग उसकी आज्ञा का पालन करते हैं। सब प्रकार के रीति रिवाज तथा विधि, विधानों की वह सर्वोच्च-सत्ता स्रोत है। आस्टिन नैसर्गिक अधिकारों को नहीं मानता है। परन्तु सम्पूर्ण वैधानिक अधिकारों और कर्तव्यों का स्रोत वह सर्वोच्चसत्ता को मानता है। आस्टिन वास्तव में सम्पूर्ण राज्य को ही सर्वोच्चसत्ता मानता है। सम्पूर्ण राज्य की सर्वोच्चसत्ता के प्रतीक एक अथवा अनेक व्यक्ति हो सकते हैं। जिस प्रकार हाब्ज ने सर्वोच्चसत्ता को पूर्ण स्वेच्छाचारी और वैधानिक अवरोधों से परे माना है उसी प्रकार आस्टिन ने भी सर्वोच्च-सत्ता को पूर्ण स्वेच्छाचारी, वैधानिक अवरोधों रहित तथा वैधानिक अधिकार और कर्तव्यों के बंधनों से स्वतंत्र माना है क्योंकि वह उनसे परे है तथा उनका स्रोत है। सर्वोच्चसत्ता असीम है अर्थात् उसकी शक्ति और अधिकारों की कोई सीमा नहीं है और ये शक्ति और अधिकार अविभाज्य हैं।

आस्टिन के मतानुसार नागरिक स्वतंत्रता कोई विशेष महत्व नहीं रखती है। वैधानिक विधि, विधानों को पालन करते हुए मनुष्य जिस स्वतंत्रता का अनुभव कर सकता है केवल उतनी ही स्वतंत्रता का उपभोग करने का वह अधिकारी है। इस प्रकार की स्वतंत्रता वह उस रीति, रिवाज और परम्परा-

* जूरिस्प्रूडैस, पुस्तक. १. पृष्ठ २२६।

गत स्वतंत्रता का उपभोग करने का भी अधिकारी है जो लोगों को प्राप्त है और जिनका वे उपभोग करते चले आरहे हैं। वास्तव में आस्टिन जनतंत्र शासन प्रणाली के विरुद्ध है।

जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) १८०६-१८७३— जॉन स्टुअर्ट मिल, जेम्स मिल का पुत्र था। जॉन पर उसके पिता और आस्टिन की शिक्षा का बड़ा प्रभाव पड़ा। उसने बैन्थम के उपयोगितावाद सिद्धांत का बड़ा ध्यान पूर्वक अध्ययन किया। उसने बैन्थम के उपयोगितावाद सिद्धांत को अपूर्ण पाया और उसमें संशोधन किया। बैन्थम के मतानुसार जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, सब सुख समान हैं केवल परिमाण का भेद है अर्थात् कोई सुख थोड़े काल तक रहता है और कोई अधिक काल तक। वह सुख में गुण संबंधी कोई भेद नहीं मानता है। जॉन स्टुअर्ट मिल का मत बेन्थम के मत से भिन्न है। जॉन स्टुअर्ट मिल सुखों में परिमाण तथा गुण संबंधी दोनों प्रकार का भेद मानता है। उसका मत है कि सुख उच्चकोटि के भी होते हैं और निम्न श्रेणी के भी। एक स्थान पर उसने कहा है कि "एक मूर्ख के संतुष्ट जीवन से सुकरात जैसे एक दार्शनिक का सा असंतुष्ट जीवन अधिक श्रेष्ठ है, एक संतुष्ट सूअर के जीवन से एक असंतुष्ट मूर्ख का जीवन अधिक श्रेष्ठ है"। मिल के उपयोगितावाद का दिग्दर्शन करने के लिए उसके दो ग्रंथों का अवलोकन करना अत्यंत आवश्यक है। 'आन लिबर्टी' तथा 'कंसीडरेशन्स आन रिप्रैजैन्टेटिव गवर्नमेंट' (On Liberty and Considerations on Representative Government) में उसने नवीन दृष्टिकोण से उपयोगितावाद सिद्धांत की व्याख्या करके उसे राजनीतिक क्षेत्र में प्रयोग किया है। उसका मत है कि समाज की स्थापना किसी सामाजिक अनुबन्ध द्वारा नहीं हुई है। राजनीतिक संस्थाओं की उत्पत्ति लोकहित के लिए हुई है। यदि लोकहित का ध्येय मनुष्य को सामाजिक संगठन बनाने के लिए प्रेरित न करता तो शासन प्रणाली कभी अस्तित्व में नहीं आ सकती थी। लोकहित और लोक इच्छा ही के आधार पर राजनीतिक समाज और शासन प्रणाली की स्थापना हुई है। एक संकलित मानव समुदाय के सदाचार, सच्चरित्रता, सद्बुद्धि आदि गुणों का अभिवर्द्धन करते हुए लोकहित संबंधी उन्नति करना ही शासन का मुख्य उद्देश्य है। भौतिक सुखों की अपेक्षा वह आध्यात्मिक सुख को अधिक श्रेष्ठ समझता है इसलिये उसने मानव समाज की आत्मिक, आध्यात्मिक तथा बौद्धिक उन्नति को अधिक महत्व दिया है, और उसका विश्वास है कि इन्हीं बातों की

उन्नति पर वास्तव में मनुष्य समाज की उन्नति निर्भर है। अतः वह राज्य को एक आदर्श संस्था मानता है।

मिल के मतानुसार स्वतंत्रता—'लिबर्टी' नामक पुस्तक में मिल का 'स्वतंत्रता' से अभिप्राय 'नागरिक अथवा सामाजिक स्वतंत्रता' से है। इस पुस्तक में उसने इस बात की विवेचना की है कि एक व्यक्ति के अधिकार पर मनुष्य समाज किस सीमा तक और किस प्रकार का अवरोध प्रयोग कर सकता है। उसने मानव स्वतंत्रता के क्षेत्र को तीन भागों में विभाजित किया है—

(१) अन्तःकरण की स्वतंत्रता—इसमें मनुष्य की आन्तरिक अथवा आत्मिक स्वतंत्रता सम्मिलित है। इस स्वतंत्रता से मिल का यह अभिप्राय है कि प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता पूर्वक प्रत्येक बात को अनुभव करने और उस पर विचार तथा मनन करने का अधिकार है।

(२) व्यवसाय करने की स्वतंत्रता—प्रत्येक मनुष्य को अपनी इच्छानुसार व्यवसाय अथवा कार्य करने का अधिकार है। केवल इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि हमारे किसी कार्य से मनुष्य समाज के किसी अन्य पुरुष के व्यक्तिगत अधिकार में किसी प्रकार का हस्तक्षेप तो नहीं होता अथवा किसी पर हमारे कार्य का दूषित प्रभाव तो नहीं पड़ता।

(३) संगठन करने की स्वतंत्रता—मनुष्यों को अपनी इच्छानुसार एक दूसरे के साथ मिलकर संवास बनाने और संगठन करने की पूर्ण स्वतंत्रता है। केवल इतना ही ध्यान रखना आवश्यक है कि इस प्रकार के संगठन अथवा संवासों का समाज पर दूषित प्रभाव न पड़े।

मिल का कथन है कि शासन को मनुष्यों के व्यक्तिगत कार्यों में न्यूनातिन्यून हस्तक्षेप करना चाहिये। वह उद्योग-व्यापार सम्बन्धी विषयों में यद्भाव्यं नीति (Laissez faire) के पक्ष में है। उसका विचार है कि शासन को मनुष्यों के उद्योग-व्यापार में न्यूनातिन्यून हस्तक्षेप करना चाहिये। लोगों को अपनी इच्छानुसार उद्योग-व्यापार करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिये। वह उन्मुक्त व्यापार (Free trade) के पक्ष में है।

शिक्षा प्रणाली के विषय में मिल का विचार है कि प्रत्येक मनुष्य को उसके धर्म के अनुसार शिक्षा मिलनी चाहिये। शिक्षा संबंधी विषयों पर राज्य को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये न राज्य को राजकीय शिक्षा संस्थाएं स्थापित करने की आवश्यकता है। शासन को शिक्षा संबंधी विषयों

में हस्तक्षेप न करके व्यक्तिगत प्रयत्नों को प्रोत्साहित करना चाहिये। उसका कथन है कि शासन द्वारा शिक्षा में हस्तक्षेप करने से सब शिक्षा संस्थाओं में एक सी नीति का अनुसरण करने के कारण एक से ही नागरिक उत्पन्न होंगे और लोगों को व्यक्तिगत प्रयत्न तथा प्रतियोगिता करने का अवसर भी न मिलेगा। संभव है कि व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा शिक्षा संबंधी कार्य अधिक अच्छा हो सके। वास्तव में मिल व्यक्तिवादी सिद्धांत का पुजारी है। उसने अपने उपयोगितावाद सिद्धांत में व्यक्तिवाद का सम्मिश्रण किया है।

मिल के मतानुसार शासन प्रणाली—मिल के मतानुसार प्रतिनिधिक शासन प्रणाली सर्वश्रेष्ठ शासन प्रणाली है। उसका कथन है कि सर्वोच्च-सत्ता सामूहिक रूप से सम्पूर्ण जनता के हाथ में होनी चाहिये। राज्य के प्रत्येक व्यक्ति को कभी कभी शासन में भाग लेना चाहिये जिससे वह इस बात का अनुभव करे कि मेरा शासन में हाथ है। उसका मत है कि "क्योंकि राज्य के सब लोग शासन प्रबंध में भाग नहीं ले सकते हैं इसलिये प्रतिनिधिक शासन प्रणाली ही सर्व श्रेष्ठ शासन प्रणाली है।" राज्य का शासन प्रबंध एक पूर्ण स्वेच्छाचारी सर्वोच्चसत्ता के हाथ में होना, शासन का कार्य केवल देख भाल और व्यवस्था स्थापन करना होना चाहिये। उसका कथन है कि "प्रत्येक अन्य शासन प्रणाली के समान प्रतिनिधिक शासन प्रणाली के दोष और भय को दो शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, अज्ञानता और अयोग्यता, अथवा अधिक सौम्य शब्दों में यों कह सकते हैं कि अधिकारी वर्ग की अपर्याप्त मानसिक योग्यता। द्वितीय, इस बात का भय कि उस (अधिकारी वर्ग) पर ऐसे हितों का प्रभाव हो जो साधारण जन समुदाय के हितों के विरुद्ध हों।" * मिल को इस बात का भय था कि बहुमत अल्पमतों पर अत्याचार कर सकता है और अपने हितों के लिये अल्पमतों के हितों पर आघात कर सकता है अतः उसने प्रतिनिधिक शासन प्रणाली में आनुपातिक प्रतिनिधित्व को अधिक महत्व दिया है। उसका मत है कि यदि 'सर्वोपरि व्यवस्थापक संसद' (Parliament) में आनुपातिक प्रतिनिधित्व निर्वाचन पद्धति द्वारा सदस्य भेजे जायंगे तो बहुमत अल्पमतों पर अत्याचार न कर सकेगा। उसके विधान निर्माता पढे लिखे

---

* यूटलिटेरियनिज्म, लिबर्टी ऐन्ड रिप्रैंजैन्टेटिव गवर्नमेंट आफ जे० एस० मिल, ए० डी० लिन्डसे द्वारा सम्पादित, पृष्ठ २४३।

और श्रेष्ठ पुरुष होने चाहिये जो साधारण लिखना पढ़ना और गणित जानते हों। ऐसे सब स्त्री पुरुषों को व्यापक वयस्क मताधिकार प्राप्त होना चाहिये। उसका यह भी विचार है कि श्रेष्ठ विद्वान पुरुषों को बहुत मताधिकार प्राप्त होना चाहिये। वह गुप्त मत दान प्रथा के विरुद्ध है। क्योंकि उसका विचार है कि मतदान केवल अधिकार ही नहीं है, मतदान तो एक पवित्र प्रन्यास है जिसका उत्तर-दायित्व प्रत्येक मतदाता ही को अनुभव करना चाहिये। लार्ड भवन को वह एक आवश्यक अंग समझता है। उसका कथन है कि विधेयक उपलेखन लार्ड-भवन का महत्व पूर्ण कार्य है। पार्लमन्ट के सदस्यों को किसी भी प्रकार का वेतन देने का उसने विरोध किया है।

मिल का उपयोगितावाद सिद्धान्त--मिल बेन्थम का शिष्य था परन्तु उसका उपयोगितावाद सिद्धांत बेन्थम के सिद्धांत से भिन्न था। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, उसने बेन्थम के सिद्धांत में संशोधन किया। बेन्थम के मतानुसार सब सुख समान हैं केवल परिमाण का भेद है। कोई सुख थोड़े काल तक रहता है और कोई अधिक काल तक। कोई सुख तीव्र होता है और कोई साधारण। मिल सुखों में परिमाण तथा गुण दोनों प्रकार का भेद मानता है। उसके मतानुसार सुख उच्च कोटि के होते हैं और नीच श्रेणी के भी। बेन्थम ने व्यक्तिवाद के आधार पर उपयोगितावाद सिद्धांत को माना है। मिल ने उपयोगितावाद में व्यक्तिवाद और समाजवाद का सम्मिश्रण किया है। उसका मत है कि उत्पादन के लिये सहयोग की आवश्यकता है। अतः मिल की आर्थिक नीति बेन्थम से भिन्न है। बेन्थम ने उद्योग व्यापार में व्यक्तिगत प्रतियोगिता और यदभाव्यं नीति का समर्थन किया है परन्तु मिल ने इसमें 'सहयोग द्वारा उत्पादन' करने की नीति का सम्मिश्रण और कर दिया है।

उपयोगितावाद सिद्धांत का राजनीतिक क्षेत्र में बड़ा प्रभाव पड़ा है। आधुनिक काल के सम्पूर्ण शासन सम्बन्धी सुधार उपयोगितावाद के आधार पर ही हुए हैं। राजनीतिक समाज में आज हम बेन्थम और मिल के सिद्धांत का पूर्णरूप से प्रचार देख रहे हैं। जिन जिन सुधारों को मिल और बेन्थम ने राजनीतिक क्षेत्र में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया था उन सब को आज हम कार्यान्वित होते देख रहे हैं।

विशेष अध्ययन के लिये देखिये–

जे. एस. मिल–आन लिबर्टी
जे. एस. मिल–रिप्रैजन्टेटिव गवर्नमैन्ट
ऐच. जे. लैस्की–पोलीटिकल थॉट इन इंगलैन्ड फ्राम लॉक टु बेन्थम
जेम्स मिल–एसे आन गवर्नमैन्ट
कोलमैन फिलिप्सन–दी क्रिमिनल ला रिफार्मर्ज
जे. एस. रीव्ज–इंगलिश यूटिलिटेरियन्स
ऐल. स्टीफन–इंगलिश यूटिलिटेरियन्स
डब्ल्यू. ग्रेहम–इंगलिश पोलीटिकल फिलॉसफी
आर. जी. गैटिल–हिस्ट्री आफ पोलीटिकल थॉट
डब्ल्यू ए. डनिंग–पोलीटिकल थ्यौरीज फ्राम रूसो टु स्पेन्सर
डब्ल्य. ऐल. डेविड्सन–पोलीटिकल थॉट इन इगलैन्ड, दी यूटिलीटेरियन्स फ्राम बेन्थम टु मिल ।
ऐफ. डब्ल्यू. कोकर–रीडिंग्स इन पोलीटिकल फिलासफी
आई. ब्राउन–इगलिश पोलीटिकल थ्योरी
जेरमी. बेन्थम –फरेगमैन्ट आन गवर्न् मैन्ट
आस्टिन–जूरिस्प्रुडैन्स
ई. आल्बी–हिस्ट्री आफ इँगलिश यूटिलीटेरियनिज्म
सी. एम. ऐटकिन्सन–जेरमी बेन्थम

अध्याय १९

व्यक्तिवाद (Individualism)

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में स्वेच्छाचारी शासकों के अधिकार बहुत विस्तृत हो गये थे। प्रजा को व्यक्तिगत तथा सामाजिक कार्यों में पूर्णरूप से कार्य करने का अधिकारत प्राप्त न था। सम्राट् की इच्छा ही विधान का रूप धारण किये थी। सम्राट् बड़े बड़े सरदारों तथा भूपतियों की सहायता से शासन करते थे। करों का भार जन साधारण पर था। राजकोष की अधिकतर आय जन साधारण से प्राप्त किये हुये करों द्वारा होती थी परन्तु कर दाताओं को शासन में हस्तक्षेप करने का अधिकार न था। ऐसी दशा में साधारण जनता बहुत दुखी थी। सम्राटों के अधिकार इतने अधिक थे कि वे चाहे जो कुछ कर सकते थे, चाहे जिसे पकड़वा कर कारागार में डाल सकते थे और चाहे जितना दंड दे सकते थे। सारे संसार में अधिकतर ऐसी ही शासन प्रणाली कार्य कर रही थी। ऐसे समय में फ्रांस में क्वेने (Quesnay) ने अठारहवीं में शताब्दी एक नवीन सिद्धांत का प्रचार किया। उसका मत था कि नैसर्गिक व्यवस्था के अनुसार शासन प्रबन्ध होना चाहिये। उसके अनुयायी अधिभूतवादी (Physiocrats) कहलाये। अधिभूतवादी अर्थशात्रवेत्ताओं ने प्रकट किया कि राज्य को मनुष्यों के उद्योगधंधों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। राज्य का कर्तव्य केवल उन नैसर्गिक नियमों का पालन करना है और उनकी ही रक्षा करना है जिनके द्वारा राज्य में उत्पादन की वृद्धि हो। अधिभूतवादियों ने राज्य की सर्वोच्चसत्ता पर आक्रमण किया और उद्योग-व्यापार के लिये पूर्ण स्वतंत्रता का आन्दोलन किया। ऐडम स्मिथ (Adam Simth) नामक प्रसिद्ध अंग्रेज अर्थशास्त्रवेत्ता ने अपनी 'वैल्थ आफ नेशन्स' (Wealth of Nations) नामक पुस्तक में इस बात का समर्थन किया कि राज्य को जनता के आर्थिक विषयों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इसके पश्चात् रिकार्डो (Ricardo) माल्थुस (Malthus) आदि अंग्रेज लेखकों, डि टाकविल (De Tocqueville) आदि फ्रैंच लेखकों और कैन्ट (Kant), फिख्टे (Fichte), विल्हैल्म हम्बोल्द

(Wilhelm Humboldt) आदि जर्मन लेखकों ने भी अपने-अपने ग्रंथों में इस बात का समर्थन किया।

सन् १७९१ में विल्हैल्म हम्बोल्ट (Wilhelm Humboldt) ने यह विचार प्रकट किया कि "शासन को जहां तक हो सके न्यूनातिन्यून शासनकार्य करना चाहिए। वही शासन प्रणाली सर्वश्रेष्ठ है जो सबसे कम शासन करती है। शासन का सर्व-प्रथम कर्तव्य यह है कि वह अपने राज्य के व्यक्तियों के व्यक्तित्व का विकास करे।" एक जर्मन विद्वान रिख्टर (Richter) का कथन है कि "व्यक्तित्व का सब स्थानों पर प्रसार करना चाहिए" और स्पर्जन (Spurgon) का कथन है कि "अत्यन्त महान कार्य व्यक्तियों द्वारा ही किये जाते हैं। बहुधा सैकड़ों पुरुष अधिक कार्य नहीं करते हैं और समुदाय (Company) तो ऐसा कभी नहीं करते हैं। इकाइयां—अकेले व्यक्ति ही शक्ति हैं। वस्तुतः वैयक्तिक प्रयत्न ही महान् वस्तु है।" ई०एच० चेपिन (E. H. Chepin) का कथन है कि "सेनाओं ने जातियों की उन्नति नहीं की है और न राष्ट्रों ही ने, बल्कि यत्र-तत्र युगानुसार एक व्यक्ति उठ खड़ा हुआ है और उसने संसार पर अपनी छाया डाली है।" एमर्सन (Emerson) ने अपने 'प्रोग्रैस ऐन्ड कल्चर' नामक ग्रंथ में लिखा है कि "साहित्यिक इतिहास शक्तिशाली अल्पसंख्यक व्यक्तियों अथवा (यों कहिए कि) न्यूनातिन्यून अल्पसंख्यक (अर्थात्) एक ही व्यक्ति का लेख-संग्रह है।"

व्यक्तिवादी राज्य को अनावश्यक समझते हैं। जिस प्रकार अराजकतावादी (Anarchists) राज्य को एक आवश्यक दूषित वस्तु समझते हैं उसी प्रकार व्यक्तिवादी भी राज्य को एक आवश्यक बुराई समझते हैं। व्यक्तिवादियों का मत है कि राज्य का कार्य शांति और व्यवस्था स्थापित रखना है। राज्य का कार्य-क्षेत्र अत्यन्त सीमित कर देना चाहिए। राज्य का कार्य-क्षेत्र जितना विस्तृत होता है उतना ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अवरोध होता है और व्यक्तिगत स्वाधीनता में बाधा पड़ती है। मनुष्य स्वभावतयः अहंकारी और अज्ञानी है। वह इन परम्परागत दोषों के वशीभूत होकर अपने निजी स्वार्थ के लिए अन्य व्यक्तियों के स्वत्वों पर अनधिकृत अतिक्रमण करता है। अतः मनुष्य की इस प्रकार की कुप्रवृत्तियों का अवरोध करने के लिए राज्य की आवश्यकता है। इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध व्यक्तिवादी जे० एस० मिल (J. S. Mill) का कथन है कि "अन्त में राज्य की योग्यता उन व्यक्तियों की योग्यता है जो उसमें निवास करते हैं।" उसने अपनी 'लिबर्टी' नामक पुस्तक की भूमिका में एक स्थान पर लिखा है कि "व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में सामूहिक मत के उचित हस्तक्षेप की एक सीमा है। उस सीमा को ज्ञात करना और अनधिकृत हस्तक्षेप से उसे सुरक्षित रखना मनुष्य सम्बन्धी हितों के लिए

इतना अनिवार्य है जितना कि उसे राजनीतिक स्वेच्छाचारिता से सुरक्षित रखना।" उसने एक स्थान पर लिखा है कि "व्यक्तित्व को कुचलनेवाली वस्तु ही स्वेच्छाचारिता है, चाहे किसी भी नाम से उसे संबोधित किया जाय।" रूसो ने अपनी ऐमाइल (Emile) नामक पुस्तक के पांचवें भाग में लिखा है कि "नगर से पृथक करके लोगों का अध्ययन करो तो तुम वास्तव में उन्हें समझ सकते हो।" रस्किन (Ruskin) ने अपनी 'अन्टू दिस लास्ट' (Unto This Last) नामक पुस्तक के चतुर्थ निबन्ध में लिखा है कि "जो देश अत्यधिक श्रेष्ठ और सुखी व्यक्तियों का पालन पोषण करता है वही देश अत्यन्त धनी है।" एक प्रसिद्ध फ्रांसीसी व्यक्तिवादी ज्यूल्स साइमन (Jules Simon) का कथन है कि "राज्य को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि वह अनुपयोगी हो जाय और अपनी मृत्यु के लिए स्वयं तैयारी करे।"१ एक प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता फ्रीमन (Freeman) ने अपना विचार इस प्रकार प्रकट किया है कि "किसी रूप में भी आदर्श राज्य मनुष्य की अपूर्णता का चिन्ह है।"२

व्यक्तिवादियों के मतानुसार राज्य का अस्तित्व केवल इसीलिए है कि अपराध होते हैं और राज्य का विशेष कर्तव्य केवल अपराधों का निरोध करना है। किसी व्यक्तिगत अथवा सामाजिक कार्य में सहायता करना राज्य का कर्त्तव्य नहीं है। जब कभी राज्य इस प्रकार के कार्य अपने हाथ में लेता है जैसे यातायात, डाक-तार इत्यादि, तो वह मनुष्य के निजी कार्यों, व्यवसायों और व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर अनधिकृत अतिक्रमण करता है, इसी आधार पर व्यक्तिवादी राजकीय शिक्षा, स्वच्छता, टीका लगाना, उद्योग, व्यापार, शुद्ध अन्न आदि संबंधी उन सब विधि विधानों का विरोध करते हैं जो व्यापार आदि में हस्तक्षेप करते हैं और व्यक्तियों के सामाजिक जीवन में बाधा डालते हैं। उनका विचार है कि राज्य को यद्भाव्यं नीति (Laissez faire) का अनुकरण करना चाहिए और व्यक्तिगत व्यापार में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। राज्य का कार्य केवल धन, जन की रक्षा करना और शांति तथा सुव्यवस्था स्थापित रखना है। उसका कार्य है अपराधियों को दंड देना, इन कार्यों

१ "लि गवर्नमैन्त दा ला दिमॉक्रैति" भाग १, पृष्ठ २४, (लावेलिये द्वारा उद्धृत (Quoted by Laveläye)

२ एसेज़—पृष्ठ ३५३

को पूर्ण करने पर राज्य का कर्त्तव्य समाप्त हो जाता है और उसके उद्देश्यों का अन्त हो जाता है ।

इंगलैंड के प्रसिद्ध व्यक्तिवादी हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) का कथन है कि एक राष्ट्र की संस्थाएं और आस्थाएं (beliefs) उसके (व्यक्तिगत) आचरण पर निर्भर हैं ।" * स्पेन्सर कट्टर व्यक्तिवादी था उसका मत है कि 'राज्य का अस्तित्व मनुष्य के जन्मजात तथा परंपरागत अहं भाव और कुप्रवृत्ति का परिणाम है, अतः राज्य रक्षक होने की अपेक्षा कहीं अधिक भक्षक है ।' उसका कथन है कि "चाहे यह बात सत्य हो या असत्य कि मनुष्य अधर्म के ढांचे में ढाला गया है परन्तु यह वास्तव में सत्य है कि राज्य की उत्पत्ति अतिक्रमण से हुई है । राज्य की उत्पत्ति मनुष्य के अप्राकृतिक कार्यों में उचित अवरोध स्थापित करने के लिए और एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के अत्याचारों से बचाने के लिए हुई है । अतः जब मानव समाज अपनी पूर्ण आचारिक अवस्था पर पहुँच जायगा तब शासन की आवश्यकता न रहेगी ।" एक स्थान पर उसने लिखा है कि 'शासन वास्तव में अनैतिक (immoral) है । उसका अस्तित्व इसीलिए ही नहीं है कि अपराध होते हैं । तो अपराधों का अन्त होते ही शासन का अन्त भी हो जाना चाहिए' । उसका विचार है कि यह कल्पना निर्मूल है कि शासन का अस्तित्व सदैव के लिए है । स्पेन्सर का विचार है कि उद्योग, व्यवसाय तथा वाणिज्य आदि के लिए शासन को विधान निर्माण करने का अधिकार नहीं है । शासन को पंजीयन (Registration) संबंधी, संक्रामक रोग-काल में पृथक-करण संबंधी अथवा अनिवार्य शिक्षा संबंधी विधि, विधान निर्माण करने का कोई अधिकार नहीं है । इन कार्यों के करने का अधिकार केवल लोगों को ही होना चाहिए । राज्य को लोगों के इन कार्यों में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है । राज्य के हस्तक्षेप से लोगों के व्यक्तिगत स्वत्वों पर अतिक्रमण होता है ।

कान्ट (Kant), फिख्टे (Fichte), हम्बोल्ट (Humboldt) लेबूले (Laboulaye), जे० एस० मिल (J. S. Mill) आदि व्यक्तियों का विचार भी राजनीतिक क्षेत्र में हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) के समान है । इन लोगों का मत है कि मनुष्य की व्यक्तिगत, शारीरिक, आत्मिक और बौद्धिक उन्नति तभी संभव है जब शासन मनुष्यों के कार्यों में

---

* सोशल स्टैटिक्स, अध्याय १६—५ ।

न्यूनातिन्यन हस्तक्षेप कर। राज्य जनता के कार्यों में जितना अधिक हस्तक्षेप करेगा उतनी ही लोगों की उन्नति में बाधा पड़ेगी।

व्यक्तिवाद की उत्पत्ति और विकास—गार्नर के कथनानुसार "व्यक्तिवाद की उत्पत्ति अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोप में अतिशासन (Over Government) के दोषों के प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुई है *।" अधिभूतवादी (Physiocrat) अर्थशास्त्र-वेत्ताओं ने सर्व प्रथम इस सिद्धांत का परिवर्तन किया था। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में स्वेच्छाचारी निरंकुश शासकों का बोलबाला था। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है इन शासकों का शासनाधिकार इतना बढ़ा हुआ था कि लोगों को वास्तव में किसी प्रकार की भी स्वतंत्रता प्राप्त न थी। सामाजिक, धार्मिक तथा उद्योग व्यवसाय संबंधी सब विषयों में निरंकुश शासकों के विधानों की कठोरता का कष्ट साधारण जनता को अत्यन्त दुःखदायी जान पड़ता था। ऐसे समय में फ्रांस में क्वेने (Quesnay) तथा उसके अनुयायियों ने अधिभूतवाद सिद्धांत (Physiocracy) की स्थापना की। इस सिद्धांत के अनुयायियों ने तत्कालीन निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी शासन की तीव्र आलोचना की और मानव अधिकारों की रक्षा के लिए आन्दोलन आरम्भ किया। अधिभूतवाद सिद्धांत का मूलतत्व यह था कि लोगों के उद्योग व्यापार संबंधी कार्यों के लिए राज्य को विधान बनाकर उनमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। लोगों को उत्पादन का कार्य प्राकृतिक नियमों के अनुसार करने देना चाहिए और राज्य को ऐसे प्राकृतिक नियमों की, जो उत्पादन में सहायक हैं, रक्षा करनी चाहिए। राज्य को इस कार्य में किसी प्रकार के प्रतिबंध न लगाने चाहिए †। सिजविक (Sidgwick) ने भी अपने 'पोलीटिकल इकानामी' नामक ग्रंथ में ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। इन लोगों ने राज्य की सर्वशक्तिमत्ता (Omnipotence of the State) का विरोध किया और उद्योग-व्यापार में स्वतंत्रता की मांग उपस्थित की।

सन् १७७६ में इंगलैड के प्रसिद्ध अर्थशास्त्र वेत्ता ऐडम स्मिथ (Adam Smith) ने 'वैल्थ आफ नेशन्स' नामक ग्रंथ प्रकाशित किया और उसमें इस बात का प्रतिपादन किया कि राज्य को लोगों के अर्थ संबंधी विषयों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। स्मिथ ने "श्रम द्वारा उत्पादन की हुई वस्तुओं के उन्मुक्त आदान-प्रदान तथा श्रमिकों

* जे० डब्ल्यू० गार्नर—इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस—पृष्ठ २७६।

† सिजविक—पोलीटिकल इकानामी पृष्ठ ३९९ से तुलना करो।

से स्वतंत्रता पूर्वक सेवा लेने में अवरोध स्थापित करने वाले तत्कालीन प्रचलित विधि विधानों की निन्दा की, और उन्हें अनिष्टकारी तथा घातक बतलाया* ।" एडम स्मिथ के पश्चात् अंग्रेज अर्थशास्त्रवेत्ता केर्नीज (Cairnes), रिकार्डो (Ricardo), माल्थस आदि, फ्रेंच विद्वान बास्तिया (Bastiat), डि टाकविल (De Tocqueville), डुनायर (Dunnoyer), लियों से (Leon Say), टेन (Taine), आदि, और जर्मन दार्शनिक कान्ट (Kant), फिख्टे (Fichte), वान हम्बोल्ट (Von Humboldt), ईयोटवास (Eotvos) आदि ने इस बात का समर्थन किया कि आर्थिक विषयों में जनता को स्वाभाविक स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए। तत्पश्चात् आधुनिक काल में इसी सिद्धांत का समर्थन लेबुले (Laboulaye), माइकेल (Michel) आदि फ्रेंच विद्वानों ने किया। इसी समय इंगलैंड में हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer), जॉन स्टुआर्ट मिल (John Stuart Mill), वेमिस (Wemiss), आर्जाइल (Argyle), ब्रूस स्मिथ (Bruce Smith), डौनिस्थॉर्प (Donisthorpe), आदि ने इसी व्यक्तिवाद सिद्धांत का समर्थन और प्रचार किया।

हम्बोल्ट (१७७६–१८३५)—व्यक्तिवाद पर सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वप्रथम ग्रंथ प्रशा (Prussia) निवासी विद्वान विलहैल्म हम्बोल्ट (Wilhelm Humboldt) ने लिखा था। उस समय प्रजा की राजनीतिक दशा ऐसी थी कि वहां यह ग्रंथ उसके जीवन काल में प्रकाशित न हो सका। उसकी मृत्यु के पश्चात् यह ग्रंथ सन् १८५२ में प्रकाशित हुआ। उसमें उसने इस प्रमेय (Proposition) का संकलन किया कि राज्य को प्रजा के कार्यों में केवल उतना ही हस्तक्षेप करना चाहिए जितना प्रजा की पारस्परिक शांति तथा व्यवस्था और वाहय शत्रुओं से रक्षा करने में आवश्यक हो। राज्य को इस सीमा से बाहर नहीं जाना चाहिए। केवल इसी उद्देश्य से राज्य लोगों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता में बाधक हो सकता है अन्यथा नहीं। उसका कथन है कि नागरिकों की व्यक्तिगत उन्नति का ध्यान राज्य को सदैव रहना चाहिए। अतः राज्य को ऐसा कार्य करना चाहिए जो स्वयं लोगों से न हो सके जैसे शांति स्थापित रखना। हम्बोल्ट का मत है कि राज्य को जनता के कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उसने अपने ग्रंथ में लिखा है कि राज्य को लोगों के उद्योग, व्यापार, व्यवसाय, शिक्षा, वाणिज्य आदि विषयों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं

* गार्नर—इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस—पृष्ठ २७६–२७७

करना चाहिए और इस प्रकार के कार्यों में लोगों को पूर्ण व्यक्तिगत स्वतंत्रता होनी चाहिए। यद्यपि हम्बोल्ट के ऐसे विचार थे परन्तु अपने जीवन के अन्तिम काल में वह प्रशा का शिक्षामंत्री था और उसने बर्लिन विश्वविद्यालय की स्थापना की और उसे राज्य से आर्थिक सहायता दिलायी गयी। इस विश्वविद्यालय का सम्पूर्ण व्यय राजकीय सहायता द्वारा किया गया।

स्पेन्सर—हम्बोल्ट के पश्चात् इंगलैंड में स्पेन्सर ने व्यक्तिवाद सिद्धांत की विस्तृत रूप से विवेचना करते हुए उसका समर्थन किया और यद्भाव्यंनीति * को लोकप्रिय बनाने का सफल प्रयत्न किया। इस विषय पर उसने "सोशल स्टैटिक्स ऐण्ड मैन वर्सस दी स्टेट" (Socil Statics and Man versus the State) नामक एक महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखा और उसमें इस सिद्धांत की विस्तार पूर्वक विवेचना की। स्पेन्सर ने उसमें लिखा है कि मनुष्य की कुप्रवृत्तियों तथा अहंभाव के कारण राज्य की स्थापना हुई है और वह रक्षक होने की अपेक्षा अभिधावक (aggressor) है मनुष्य की दुष्टता को रोकने के लिए और मनुष्यों को पारस्परिक अनधिकृत अतिक्रमण से बचाने के लिए राज्य की स्थापना हुई है। एक आदर्श राजनीतिक समाज में किसी प्रकार की दुष्टता नहीं होनी चाहिए। ऐसे आदर्श राजनीतिक समाज के स्थापित होते ही राज्य का अन्त हो जाना चाहिए। क्योंकि आदर्श समाज में राज्य की कोई आवश्यकता नहीं है। उसके मतानुसार राज्य एक नैमित्तिक (incidental) संस्था है। पूर्व अनुभव इस बात को सिद्ध करता है कि मनुष्य को सुख की प्राप्ति राज्य कार्य द्वारा नहीं होती, उसे सुख की प्राप्ति तभी होती है जब उसे अकेला छोड़ दिया जाय और उसके साथ किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया जाय। यदि एक ओर से तो मनुष्य की स्वतंत्रता में राज्य शासन द्वारा हस्तक्षेप किया जाय और उसके अनेक कार्यों में बाधा डाली जाय और दूसरी ओर से उसे सहायता देने का प्रयत्न किया जाय तो ऐसी दशा में उससे हानि ही होगी, लाभ न होगा। शासन का कार्यक्षेत्र "नकारात्मक नियमन कर्त्ता" (Negatively regulative) होना चाहिए अर्थात शासन को चाहिए कि वह लोगों के दोषों को दूर करे और जो कार्य वे स्वतंत्रता पूर्वक अधिक भली प्रकार कर सकते हैं उनमें सहायता रूपी हस्तक्षेप करके उन्हें सुखी बनाने का प्रयत्न न करे। "न्याय करना और मनुष्यों के अधि-

*'व्यक्तिवाद' अथवा 'यद्भाव्यंनीति' ये दोनों नाम एक ही सिद्धांत के हैं।

कारों की रक्षा करना" ही राज्य का उचित कर्त्तव्य है। और जब राज्य इससे अधिक करने का प्रयत्न करता है तो वह अपनी सीमा का उल्लंघन करता है और अपने उद्देश्य में असफल होता है। प्राचीन काल से चले आने वाले मनुष्यों के अधिकारों को विधान के रूप में परिवर्तन कर देना चाहिए। उसे नवीन विधान बनाने का कोई अधिकार नहीं है। यदि राज्य नवीन विधि, विधान बनाकर उनको कार्यान्वित करने का प्रयत्न करता है तो वह मनुष्यों के नैसर्गिक अधिकारों पर अनधिकृत अतिक्रमण करता है। उसके मतानुसार "एक व्यक्ति का केवल एक अधिकार है और वह अधिकार है अन्य व्यक्तियों के साथ समान स्वतंत्रता का अधिकार और राज्य का केवल एक कर्त्तव्य है और वह कर्त्तव्य है उस अधिकार की हिंसा तथा कपट (धोखे) से रक्षा करना *।

राज्य का कार्यक्षेत्र—स्पेन्सर के मतानुसार राज्य का कार्यक्षेत्र अत्यंत सीमित रहना चाहिए। उसने राज्य द्वारा निर्माण किये हुए वाणिज्य, व्यापार, स्वास्थ्य, टीका, पंजीयन (Registration), संक्रामक रोग के समय पृथक्करण, राजकीय शिक्षा, दीन-जन-सहायता, डाक-तार, मुद्रिका, आदि संबंधी विधि-विधानों की निन्दा की है क्योंकि उसका विचार है कि इन विषयों में शासन को हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है। उसका विचार है कि राज्य जो धन दीन-जनों की सहायता में व्यय करता है उसे यदि श्रमिकों की दशा सुधारने में लगाये तो अधिक अच्छा होगा। राज्य द्वारा शिक्षा में हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। उसका कथन है कि "अपने बच्चों को शिक्षा देने के लिए अथवा अन्य लोगों के बच्चों को शिक्षा देने के लिए किसी मनुष्य की सम्पत्ति लेने की राज्य को आवश्यकता नहीं है क्योंकि ऐसा करने से उस व्यक्ति के हितों की रक्षा नहीं होती, अतः यह बात दोषपूर्ण है।" अधिकारों की रक्षा करने के लिए राज्य का हस्तक्षेप न्यायसंगत है। बच्चों की शिक्षा की उपेक्षा करने में बच्चों के अधिकारों का उल्लंघन नहीं होता है। इसी प्रकार यह विचार भी मिथ्या है कि राज्य का कर्त्तव्य प्रजा के स्वास्थ्य की रक्षा करना है। हां, राज्य को उपद्रवों को अवश्य रोकना चाहिए। उसने स्वच्छता संबंधी कर लगाने की निन्दा की है और कहा है कि इस प्रकार के कर लेना नैतिक विधानों का उल्लंघन करना है। इसी आधार पर उसने मुद्राचलन (Currency) संबंधी विधानों का विरोध किया है। उसका मत है कि मुद्राचलन संबंधी

*गार्नर—इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस—पृष्ठ २७९–२८०।

हैं बिन बनाकर राज्य मनुष्यों के नैतिक अधिकारों पर आघात पहुँचाता है और मनुष्यों के समान स्वतंत्रता संबंधी नियमों का उल्लंघन करता है क्योंकि वह मनुष्यों के वस्तुओं के अदल बदल तथा विनिमय (Exchange) संबंधी नैसर्गिक अधिकारों में हस्तक्षेप करता है। इसी प्रकार उसने जन-वास्तु-कर्म तथा राजकीय गृह निर्माण कार्यों की भी निन्दा की है। उसका कथन है कि राज्य को केवल उन्हीं गृहों के निर्माण कराने का अधिकार है जो राज्य की रक्षा के लिए आवश्यक हैं। लोक निर्माण का कार्य उसे अपने हाथ में लेने का कोई अधिकार नहीं है। डाक-तार विभाग को अपने हाथ में लेकर राज्य जनता के स्वयं पत्रवाहन कार्य में हस्तक्षेप करता है और उनके अधिकारों पर अतिक्रमण (Encroach) करता है।

डॉनिस्थौर्प (Donisthorpe),आबरन हार्बर्ट (Auberon Herbert) आदि स्पेन्सर के अनुयायियों के विचार और भी अधिक तीव्र हैं। उन्होंने केवल राजकीय शिक्षा, दीन-जन सहायता, कर्मशाला (Factory), तथा खान निरीक्षण, घातक वस्तुओं का व्यापार नियमन, टीका, संक्रामक रोग में पृथककरण, स्वास्थ्य, सार्वजनिक-मनोरंजन, मदिरा क्रय-विक्रय निरोध आदि संबंधी विधि विधानों का ही विरोध नहीं किया है, उन्होंने तो ऐसे विधानों का भी विरोध किया है जैसे विवाह संबंधी विधान, तथा अन्य ऐसे विधान जिनसे मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में बाधा पड़ती है। इन लोगों का मत है कि राज्य को केवल ऐसी ही बातों में हस्तक्षेप करने का अधिकार है जैसे मनुष्य के अन्य मनष्य की अनधिकृत अतिक्रमण से रक्षा करना।

जे० एस० मिल (१८०६-१८७३)—मिल कट्टर व्यक्तिवादी था उसने अपनी 'लिबर्टी' (Liberty) नामक पुस्तक में व्यक्तिवाद का समर्थन किया है और बतलाया है कि जनता के कार्यों में शासन को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। उसने मानव स्वतंत्रता को तीन भागों में विभाजित किया है। (१) उसका कथन है कि मनुष्य की अन्तःकरण संबंधी स्वतंत्रता मनुष्य का जन्म-जात अधिकार है, उसमें किसी को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। मनुष्य को स्वतंत्रता पूर्वक विचार करने और विचार प्रकट करने का अधिकार है। वह सब प्रकार के प्रायोगिक, काल्पनिक, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, नैतिक, भौतिक, आत्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक तथा धार्मिक विषयों पर स्वतंत्रता पूर्वक अपने विचार प्रगट कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार स्वतंत्रता पूर्वक प्रकट करने का अधिकार

है । इस अधिकार का विरोध उसी समय हो सकता है जब उससे दूसरे व्यक्ति को आघात पहुँचे अथवा उसके अधिकार पर अनधिकृत अतिक्रमण हो । जब तक किसी व्यक्ति के अधिकार प्रगट करने से दूसरे को हानि नहीं होती है तब तक उसे ऐसा करने से शासन को नहीं रोकना चाहिए ।

(२) मिल ने इस बात का समर्थन किया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार जीविकोपार्जन संबंधी कार्य करने का पूर्ण अधिकार है । जब तक एक व्यक्ति अपनी जीविकोपार्जन संबंधी कार्य करता हुआ दूसरों के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता है तब तक राज्य को उसके कार्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए चाहे एक व्यक्ति अन्य लोगों की दृष्टि में मूर्खता का कार्य करे अथवा दूषित कार्य करे परन्तु यदि उस कार्य से अन्य व्यक्तियों के कार्य में हस्तक्षेप नहीं होता है तो उसे रोकने का अधिकार किसी को नहीं है । वह व्यक्ति अपने व्यक्तिगत कार्यक्षेत्र की सीमा का उल्लंघन उसी समय करता है जब वह अन्य लोगों के कार्यों में बाधक होता है अन्यथा नहीं ।

(३) मनुष्य को अपनी इच्छानुसार एक दूसरे के साथ सहयोग करने, संवास बनाने और समाज के रूप में संगठित होने का भी पूर्ण अधिकार है । शासन को मनुष्य के इस प्रकार के संगठन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है । परन्तु जब यह संवास अथवा समाज अन्य लोगों के व्यक्तिगत अथवा सामाजिक अधिकारों पर आघात पहुँचाये अथवा, उनपर अनधिकृत अतिक्रमण करे तो राज्य को उसमें हस्तक्षेप करने का पूर्ण अधिकार है ।

मिल का विचार है कि जिस समाज में लोगों को इस प्रकार की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है वे लोग वास्तव में स्वतंत्र नहीं हैं चाहे वे किसी भी प्रकार के शासन द्वारा शासित क्यों न हों । उसका कथन है कि जब हम इच्छानुसार प्रत्येक कार्य करें और दूसरों के अधिकारों पर आघात न पहुँचा कर अपने निजी हित संबंधी कार्यों में संलग्न रहें और ऐसा करने में कोई हमारे कार्यों में बाधक न हो तो वास्तव में हम स्वतंत्र हैं । प्रत्येक व्यक्ति अपने शरीर, स्वास्थ्य, मन और चित्त का पूर्ण स्वामी है ।

मिल के मतानुसार विचार करने की स्वतंत्रता में लिखकर अथवा बोलकर विचार प्रगट करने की स्वतंत्रता भी सम्मिलित है । अर्थात् मनुष्यों को इच्छानुसार विचार करने और भाषण द्वारा अथवा लेख द्वारा स्वतंत्रता पूर्वक विचार प्रगट करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है ।

इस अधिकार की सीमा का उल्लंघन तभी होता है जब वह अन्य व्यक्तियों के इस प्रकार के अधिकारों पर अनधिकृत अतिक्रमण करता है ।

अपनी पुस्तक 'लिबर्टी' के दूसरे अध्याय में मिल मुद्रण-निरोध संबंधी विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखता है कि "एक व्यक्ति के विचार अन्य सब लोगों के विचारों के विरुद्ध हैं । यदि वह एक व्यक्ति (समाचार पत्रों द्वारा) अपने विचार प्रगट करे और अन्य लोग उसके विचार प्रकट करने में बाधा डालें तो वह उतना ही अन्याय करेंगे जितना कि वह एक व्यक्ति अन्य सब लोगों के विचारों को प्रकट करने से रोक कर करता अर्थात् सब लोग यदि एक व्यक्ति को विचार प्रगट नहीं करने देते हैं तो वे उतना ही अन्याय करते हैं जितना कि वह एक व्यक्ति अन्य सब लोगों को विचार प्रकट करने से रोककर करता है । किसी को भी इस प्रकार से बाधक होने का अधिकार नहीं है । मिल का विचार है कि कभी किसी को विचार प्रकट करने से नहीं रोकना चाहिए क्योंकि संभव है कि जिस मनुष्य को अपने विचार प्रगट करने से रोका जा रहा है उसका विचार ठीक हो और उसे रोकने वालों का विचार असत्य हो। यदि किसी व्यक्ति का विचार असत्य है तो भी उसे प्रकट करने देना चाहिए क्योंकि ऐसा करने पर उसकी असत्यता सब पर प्रकट हो जायगी। कभी ऐसा भी हो सकता है कि उसके विचारों में किसी अंश तक सत्य हो तो उसे ग्रहण करने के लिए सबको उद्यत रहना चाहिए। अतः मिल का मत है कि प्रत्येक दशा में प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता पूर्वक विचार प्रकट करने का पूर्ण अधिकार है और राज्य को इसमें मुद्रण-नियंत्रण विधान द्वारा बाधक नहीं होना चाहिए ।

इसी प्रकार मिल का यह भी विचार है कि व्यक्तिगत धर्मसंबंधी विषयों में भी किसी को बाधक नहीं होना चाहिए । न किसी को यही अधिकार है कि वह दूसरों के धर्म को घृणा की दृष्टि से देखे । मादक वस्तुओं के क्रय-विक्रय संबंधी विधानों के विषय में मिल का मत है कि किसी प्रकार का भी निरोधक कानून बनाना अन्याय है । मनुष्यों को विधान बनाकर मादक द्रव्यों का प्रयोग करने से नहीं रोकना चाहिए । बल्कि शिक्षा तथा उपदेश द्वारा मादक द्रव्यों के दोष दिखलाकर लोगों में उससे अरुचि उत्पन्न करना चाहिए । शिक्षा के संबंध में मिल का विचार है कि राज्य को राजकीय शिक्षा संस्थाएं नहीं खोलनी चाहिए । ये कार्य जनता के हैं जनता को ही करने चाहिए क्योंकि राज्य द्वारा शिक्षा देने में एक ही प्रकार के शिक्षित लोग उत्पन्न होंगे जैसे कल द्वारा एक समान

वस्तुएं उत्पादित होती हैं। ऐसा भी संभव हो सकता है कि राज्य द्वारा स्थापित शिक्षा-संस्थाएं इतनी अच्छी और सफल न हो सकें जितनी व्यक्तिगत प्रयत्नों द्वारा हो सकती हैं।

राज्य के साथ व्यक्ति का संबंध—मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। बहुत समय से यह प्रश्न चला आ रहा है कि मनुष्य का अन्य सामाजिक संगठनों के साथ क्या संबंध है? क्या समाज की भलाई के लिए व्यक्तिगत हितों का बलिदान कर सकते हैं? इस संबंध में लोगों के दो प्रकार के विचार हैं। एक प्रकार का विचार तो यह है कि राज्य रूपी राजनीतिक समाज के हित के लिए मनुष्य के व्यक्तिगत हितों का बलिदान कर देना चाहिए। ऐसा विचार जर्मन आदर्शवादियों का है, इन आदर्शवादियों में कान्ट (Kant), हैगिल (Hegel) आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। दूसरे प्रकार के विचार वाले मिल, स्पेन्सर आदि व्यक्तिवादी हैं जिनका मत है कि राज्य का कार्यक्षेत्र केवल शांति और व्यवस्था स्थापित रखना है और इसके अतिरिक्त राज्य को मनुष्य के व्यक्तिगत तथा सामाजिक कार्यों में किसी प्रकार की बाधा नहीं डालनी चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को अपनी इच्छानुसार उन्नति करने का अवसर मिलना चाहिए।

प्रत्येक राज्य में एक सर्वोच्च-सत्ता होती है। उसकी इच्छा सर्वमान्य है। वह इच्छा एक व्यक्ति की, एक सम्राट के रूप में, हो सकती है और वह लोकमत की इच्छा एक निर्वाचित अध्यक्ष (President) के रूप में भी हो सकती है। अर्थात् सर्वोच्च-सत्ता एक, अनेक, अथवा सार्वजनिक संस्था के रूप में हो सकती है। व्यक्तिवादियों का मत है कि सर्वोच्चसत्ता चाहे किसी के हाथ में हो परन्तु उसका कार्य मनुष्यों की सब प्रकार की व्यक्तिगत उन्नति में बाधा डालने वाले अवरोधों का निरोध करना है। गैटिल का मत है कि "अकेली सर्वोच्चसत्ता स्वेच्छाचारिता है और वह स्वतंत्रता की घातक है और अकेली स्वतंत्रता अराजकता है और वह सर्वोच्चसत्ता का नाश करती है।" * उसका कथन है कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता सर्वोच्चसत्ता पर ही निर्भर है। परन्तु व्यक्तिवाद सिद्धांत के अनुयायियों का कथन है कि राज्य को जनता के कार्य में न्यूनातिन्यून हस्तक्षेप करना चाहिए।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लक्षण—व्यक्तिगत स्वतंत्रता दो प्रकार की है।

---

* आर० जी० गैटिल—इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस—पृष्ठ ३८४।

एक सामाजिक स्वतंत्रता (Civil Liberty) और दूसरी राजनीतिक स्वतंत्रता (Political Liberty)।

समाज में मनुष्य के अधिकार हैं। साधारणतया मनुष्य के जीवित रहने के, जीविकोपार्जन करने के और सम्पत्ति रखने के जन्मजात अथवा नैसर्गिक अधिकार समझे जाते हैं। परन्तु बहुधा ऐसा देखा गया है कि कभी कभी इन अधिकारों की उचित सीमा नहीं दिखाई पड़ती है और एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के इसी प्रकार के अधिकारों पर अनधिकृत अतिक्रमण करता है। ऐसी दशा में एक ऐसी शक्ति की आवश्यकता होती है जो बलपूर्वक प्रत्येक व्यक्ति को मनुष्य समाज में अपने अधिकारों की सीमा के भीतर रखे और उसे दूसरे व्यक्तियों के अधिकारों पर अनधिकृत अतिक्रमण करने से रोके। इसलिए राज्य की आवश्यकता होती है। व्यक्तिवादियों का मत है कि राज्य वास्तव में एक आवश्यक दूषित वस्तु है। बर्गेस (Burgess)* के मतानुसार सामाजिक स्वतंत्रता में निम्नलिखित बातें सम्मिलित हैं:—

(१) व्यक्तिगत स्वतंत्रता।
(२) न्यायालय में समानता का व्यवहार।
(३) निजी संपत्ति की सुरक्षा।
(४) विचार करने, और भाषण तथा लेख द्वारा विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता।
(५) अन्तःकरण संबंधी स्वतंत्रता।

राज्य में भी मनुष्यों के अनेक व्यक्तिगत अधिकार हैं। प्रत्येक व्यक्ति को राज्य में अपनी इच्छानुसार जीवन व्यतीत करने का अधिकार है। व्यक्तिवादियों का मत है कि राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार उद्योग, व्यवसाय, व्यापार आदि करने का अधिकार है। राज्य को भिन्न भिन्न प्रकार के विधि, विधान बनाकर उनमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। मनुष्य को राज्य में रहकर अपनी सब प्रकार की व्यक्तिगत उन्नति करने की पूर्ण स्वतंत्रता है। राज्य को स्वास्थ्य, शिक्षा, उद्योग, व्यापार और व्यवसाय संबंधी विधान बनाकर मनुष्य के व्यक्तिगत कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इस प्रकार के विधान बनाकर राज्य मनुष्यों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अपहरण करता है। राज्य को केवल वही विधान बनाने चाहिए जिनके द्वारा मनुष्य के व्यक्तिगत कार्यों में बाधा डालने वाले अवरोधों का निरोध हो।

---

* बर्गेस—पोलीटिकल साइंस ऐण्ड कांन्स्टीट्यूशनल लॉ, पुस्तक १, पृष्ठ १७८।

सामाजिक स्वतंत्रता और राजनीतिक स्वतंत्रता में एक अ.र भी भेद है। प्रत्येक राज्य में देशी और विदेशी दोनों प्रकार के लोग होते हैं। इसके अतिरिक्त बहुत से अवयस्क, अपराधी तथा विक्षिप्त भी होते हैं। ऐसी दशा में सब लोगों को सामाजिक और राजनीतिक अधिकार समान रूप से प्राप्त नहीं हो सकते। अतः यह आवश्यक है कि राज्य में सब व्यक्तियों के साथ समान व्यवहार किया जाय। उन्हें न्याय की दृष्टि में समान समझा जाय। उन्हें मनुष्य समाज में समान सामाजिक अधिकार प्राप्त हों। यही सामाजिक स्वतंत्रता है। परन्तु उन्हें राज्य कार्य में समान रूप से भाग लेने का अधिकार नहीं दिया जा सकता। राज्य के हित के लिए यह आवश्यक है कि विदेशी, विक्षिप्त, अवयस्क तथा अपराधी को राज्य कार्य में भाग लेने से वंचित रखा जाय। ऐसे व्यक्तियों को निकाल कर अन्य व्यक्तियों को राज्य कार्य में भाग लेने का अधिकार हो सकता है। राजनीतिक समानता केवल उन्हीं लोगों को प्राप्त हो सकती है जो वयस्क, नागरिक, ठीक बुद्धि वाले है और अपराधी नहीं हैं। अथवा किसी अन्य राज्य के कर्मचारी नहीं हैं। राजनीतिक समानता के अधिकारी केवल ऐसे ही लोग हो सकते हैं। राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ है शासन कार्य में भाग लेने की समानता। अतः सामाजिक समानता तथा स्वतंत्रता सबको प्राप्त हो सकती है परन्तु राजनीतिक समानता तथा स्वतंत्रता सबको प्राप्त नहीं हो सकती, राजनीतिक समानता और स्वतंत्रता राज्य में एक सीमित जनसंख्या को ही प्राप्त हो सकती है। राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ भी शासन कार्य में भाग लेने की स्वतंत्रता है। व्यक्तिवादी सिद्धांत के अनुयायी भी इस भेद को मानते हैं और यद्यपि वे सब लोगों को सामाजिक स्वतंत्रता देने के पक्ष में हैं परन्तु वे सबको राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त कराने के पक्ष में नही हैं। व्यक्तिवादी भी इस बात को मानते हैं कि राजनीतिक स्वतंत्रता विदेशी, विक्षिप्त, अपराधी तथा अवयस्क को प्राप्त नहीं हो सकती।

अमेरिकन व्यक्तिवादी—ऊपर यूरोपीय व्यक्तिवादियों के मतों का वर्णन किया जा चुका है। यूरोपीय व्यक्तिवादियों में जर्मन तथा अंग्रेज व्यक्तिवादी विशेष रूप से वर्णन करने योग्य थे, उनके सिद्धांतों का वर्णन भी किया जा चुका है। इन यूरोपीय व्यक्तिवादियों के अतिरिक्त कुछ अमेरिकन व्यक्तिवादी भी हैं। इन व्यक्तिवादियों में जाफरसन (Jefferson), मैडिसन (Madison) और पेन (Paine) अधिक प्रसिद्ध हैं।

अमेरिका के संयुक्त राज्य में इन लोगों ने व्यक्तिवाद सिद्धांत का समर्थन किया । इन लोगों का भी यूरोपीय व्यक्तिवादियों के समान यही मत है कि शासन को मनुष्यों के जीवन, सम्पत्ति तथा स्वतंत्रता की रक्षा करने के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए । मनुष्यों को व्यक्तिगत उन्नति करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए । उनको सब प्रकार के उद्योग, व्यवसाय तथा व्यापार स्वतंत्रता पूर्वक करने देना चाहिए और भांति भांति के विधानों द्वारा कर तथा अन्य प्रतिबंध लगाकर उनके कार्य में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए । अमेरिकन व्यक्तिवादी प्रजातंत्रवादी हैं वे मनुष्यों को समान रूप से राजनीतिक तथा सामाजिक स्वतंत्रता दिलाने के पक्ष में हैं । जाफरसन का मत है कि लोगों को आधुनिक काल के तड़क भड़क के जीवन से बचना चाहिए । उसके मतानुसार जीवन का आनन्द ग्रामीण, सरल (सादा) जीवन व्यतीत करने में है ।

विलोबी (Willoughby) ने निम्नलिखित चार बातों के आधार पर व्यक्तिवाद की पुष्टि की है *।

(१) मनुष्य के स्वभाव में स्वार्थ एक विश्वव्यापी वस्तु है ।

(२) कालान्तर में प्रत्येक व्यक्ति स्वहित संबंधी बातों को पूर्ण रूप से जानता है । और वास्तव में स्वच्छन्द (Arbitrary) अवरोधों की अनुपस्थिति में उनके अनुसार कार्य करता है ।

(३) बाह्य अवरोधों की अनुपस्थिति में प्रतियोगिता स्वतंत्रता पूर्वक हो सकती है और होती है।

(४) ऐसी स्वतंत्र प्रतियोगिता में सदैव मनुष्य की उच्चकोटि की उन्नति की संभावना होती है । क्योंकि ऐसी दशा में प्रतिकूल बातों से बचता हुआ प्रत्येक व्यक्ति जिस कार्य को पूर्ण रूप से कर सकता है उसी को करता है । इस प्रकार (व्यक्तिगत उन्नति से) सब की भलाई होती है ।

व्यक्तिवाद की आलोचना—गैटिल † ने इन चार बातों की आलोचना करते हुए लिखा है कि—

(१) मनुष्य के कार्यों का आधार केवल स्वार्थ ही नहीं है, परमार्थ भी है।

(२) अनिवार्य शिक्षा, स्वच्छता, श्रम संबंधी विधान आदि कुछ बातें ऐसी हैं जिनके विषय में लोग अपने हित की बातों को भली प्रकार नहीं समझ

* विलोबी—नेचर आफ़ दी स्टेट, पृष्ठ ३२६।

† गैटिल—इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस, पृष्ठ ३८४।

सकते अतः अन्य व्यक्तियों के सामूहिक कार्यों द्वारा उनके हितों की अवश्य रक्षा होनी चाहिए ।

(३) जब तक प्रतियोगिता करने वालों की शक्ति समान न हो तब तक प्रतियोगिता नहीं हो सकती है । ऐसी दशा में शासन दुर्बल पक्ष की सहायता करके प्रतियोगिता को नष्ट न करके उसे स्थापित करता है । ।

(४) 'योग्यतम का बच रहना' (Survival of the fittest) सिद्धांत को मानव समाज पर प्रयोग करना अनुचित है । सामूहिक प्रयत्न अनुचित कार्य का निरोध कर सकता है और जहां अवरोध का निरोध करने की आवश्यकता है वहां उसका निरोध भी कर सकता है ।

व्यक्तिवाद के समर्थकों का विचार है कि न्याय की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति को कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए । जब प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्रता पूर्वक कार्य करेगा तो वह अपनी शक्ति के अनुसार पूर्ण उन्नति कर सकता है । प्रत्येक व्यक्ति की संपूर्ण शक्तियों की सामंजस्य प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि राज्य उसके कार्यों में न्यूनातिन्यून हस्तक्षेप करे क्योंकि उसके कार्य में प्रत्येक अवरोध उसकी प्रेरणा शक्ति और उसके स्वावलंबी भावों का नाश करता है, उसके स्वतंत्र उत्तरदायित्व का ह्रास करता है, उसकी शक्ति का ह्रास करता है, और उसके आचरण को भ्रष्ट करता है । यही विचार कान्ट, फिक्टे, हम्बोल्ट और जॉन स्टुअर्ट मिल का है ।

मनुष्य की व्यक्तिगत सामंजस्ययुक्त (Harmonious) उन्नति के लिए स्वतंत्रता अनिवार्य है । हम्बोल्ट का कथन है कि मनुष्य का वास्तविक ध्येय उसके विवेक द्वारा निर्धारित किया जाता है । यह ध्येय मनुष्य की सामंजस्य प्रगति के लिए आवश्यक है । अति शासन से केवल स्वतंत्रता का ही ह्रास नहीं होता बल्कि वह कार्य करने की कृत्रिम प्रणाली स्थापित करता है और राष्ट्रीय समानता स्थापित करता है । इससे समाज मृत स्तर को प्राप्त होता है । मिल का भी इस विषय में ऐसा ही मत है । उसका कथन है कि अतिशासन से मनुष्य की मानसिक और शारीरिक शक्तियों का ह्रास होता है और मनुष्य अपनी इच्छा तथा विवेकानुसार अपनी उन्नति के लिये जो कार्य करना चाहता है उसे करने में असमर्थ होता है । उन्मुक्त प्रतियोगिता मनुष्य की उन्नति करती है, उसकी प्रेरणा शक्ति को प्रबल करती है और आत्म विश्वास को बढ़ाती है । अतिशासन केवल उद्योग वर्द्धक प्रयत्नों का ही ह्रास नहीं करता, वह चरित्र की उन्नति में भी बाधक होता है और मनुष्य के व्यक्तिगत स्वाभाविक प्रयत्नों में हस्तक्षेप करके

व्यक्तित्व तथा मौलिकता का ह्रास करता है और उसे समाज के नीचे स्तर पर पहुँचाता है। व्यक्तिवादी सिद्धांत के समर्थकों का मत है कि संसार में उच्चकोटि की सभ्यता की उन्नति व्यक्तिवाद के कारण हुई है और इसी के कारण बौद्धिक तथा भौतिक उन्नति हो रही है। स्पेन्सर का कथन है कि अति शासनीय राज्य में "प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे के समान है।" "शासन द्वारा उद्योग पर अधिकार वास्तव में स्वेच्छाचारिता है यह कर्मण्यता की स्वतंत्रता का ह्रास करके उसे सन्नमित (Cramps) करता है और अवरोध स्थापित करके कर्म कौशल का ह्रास करता है, झगड़े तथा असंतोष फैलाता है तथा अनुचित हस्तक्षेप करके भांति भांति के दोष उत्पन्न करता है।"* उसका कथन है कि पदाधिकार मोह (Official-sm) तथा सामाजिक हस्तक्षेप मनुष्यों की स्वाभाविक तथा स्वस्थ उन्नति का निरोध करते हैं। इसके विपरीत स्वतंत्रता व्यक्तिगत चरित्र को शक्तिशाली बनाती है, उसकी उन्नति करती है और मानव समाज की प्रगति में सहायक होती है।

व्यक्तिवादियों का यह भी विचार है कि यद्भाव्यंनीति का मूल आधार वैज्ञानिक है। यह सिद्धांत विकासवाद पर निर्भर है क्योंकि आर्थिक क्षेत्र में व्यक्तिवाद इस सिद्धांत का समर्थन करता है कि योग्यतम् व्यक्ति ही जीवित रहता है और उन्नति करता है, अन्य नष्ट हो जाते हैं। मनुष्य स्वार्थभावना द्वारा प्रेरित होकर कार्य करता है और जिस कार्य को वह अपने विवेक द्वारा स्वहित के लिए उचित समझता है उसी को करने के लिए प्रेरित होता है। व्यक्तिवादियों का मत है कि इस सिद्धांत के अनुसार चलने पर अयोग्य और दुर्बल लोगों का नाश होता है और सर्वश्रेष्ठ पुरुष जीवित रहते हैं। इस प्रकार श्रेष्ठ समाज की स्थापना होती है और उसकी उन्नति होती है।

व्यक्तिवादियों का मत है कि पूर्व अनुभव भी इसी सिद्धांत को स्थापित करता है कि राज्य द्वारा मनुष्यों के कार्यों में हस्तक्षेप न होना ही सर्वश्रेष्ठ सिद्धांत है। इतिहास में ऐसे बहुत से उदाहरण हैं कि राज्य विधान द्वारा मनुष्यों के बहुत से कार्यों का नियमन करता था। बाजार में प्रत्येक वस्तु का मूल्य निर्धारित करना, मनुष्यों के पहनने के लिए कपड़े तथा उनकी बनावट निश्चित करना, दिन में कितने बार भोजन करना? क्या क्या कार्य करना? कहां तथा किस प्रकार रहना? सब बातें राज्य विधानों

* स्पेन्सर—सोशल स्टैटिक्स, पृष्ठ १३५

द्वारा निश्चित की जाती थीं। कर्मशालाओं में कार्य करने का समय तथा अन्य कर्मशाला संबंधी अनेक नियम राज्य बनाता था। "सन् १७९५ में इंगलैंड में पुरशासकों (Magistrates) को रोटी के मूल्य के अनुसार श्रमिकों की मजदूरी निश्चित करने का अधिकार था।" "सन् १८२४ तक इंगलैंड में पार्लमेंट का यह विधान प्रचलित था कि राजकीय विनिमय (Royal Exchange) से दस मील से अधिक दूरी पर वस्तु-निर्माणकर्त्ता अपनी कर्मशालाएं नहीं बना सकते थे। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में सब स्थानों पर अनेक प्रकार के उद्योगों पर शासन का कठोर तथा अनुचित नियंत्रण था। राज्य ही इस बात को निश्चित करता था कि किसको कहां कार्य करना चाहिए, किसको क्या सामान प्रयोग करना चाहिए तथा किस परिस्थिति में भिन्न भिन्न प्रकार के व्यापार करने चाहिए।" *

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में उद्योग व्यापार में राज्य द्वारा अनुचित हस्तक्षेप किया जाता था। बक्ल (Buckle) का कथन है कि उस समय शासकों का यह विश्वास था कि बिना कठोर विधानों के उद्योग धंधे और व्यापार की उन्नति नहीं हो सकती है। यह एक मानी हुई बात थी कि बिना अन्य देशों के उद्योग, व्यापार में बाधा डाले हुए अपने देश के उद्योग व्यापाँर की उन्नति नहीं हो सकती है। बक्ल इस बात पर यह आश्चर्य प्रकट करता है कि ऐसी परिस्थिति में सभ्यता की उन्नति किस प्रकार संभव हो सकती है।

व्यक्तिवादियों का मत है कि उन लोगों का विचार मिथ्या है जो यह समझते हैं कि राज्य सर्वज्ञ है और वह भूल नहीं कर सकता है अथवा वह मनुष्यों की व्यक्तिगत योग्यता और आवश्यकता को समझता है और उन्हें प्रत्येक कार्य में सहायता दे सकता है। व्यक्तिवादी कहते हैं कि अनुभव से यह प्रकट होता है कि राज्य की आविष्कार करने अथवा नवीन कार्य आरम्भ करने की शक्ति उन व्यक्तियों की इन शक्तियों से अधिक नहीं होती जो उसमें निवास करते हैं। राज्य क्रियात्मक अथवा सूचनात्मक संस्था नहीं है वह तो केवल आलोचनात्मक, निर्णयात्मक तथा सहयोगात्मक संस्था है जो समाज की प्रगति का आधार नहीं है बल्कि केवल सहायक मात्र है। शासन प्रत्येक कार्य को सुचारुरूप से नही कर सकता। प्रत्येक कार्य को सुचारुरूप से करने के लिए व्यक्ति-विशेषों की आवश्यकता है। अतः राज्य में सब प्रकार की उन्नति तथा आविष्कार का कारण व्यक्ति ही

* गार्नर—इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस, पृष्ठ २८६।

का कार्य है। राज्य उनकी उन्नति के मार्ग में आने वाली बाधाओं का निरोध कर सकता है। इसके अतिरिक्त राज्य का और कोई कार्य नहीं होना चाहिए।

व्यक्तिवाद के विरोधियों ने भी इस सिद्धांत के विरुद्ध बड़ी बड़ी युक्तियां प्रस्तुत की हैं। सबसे पहली युक्ति जो उन्होंने प्रस्तुत की है वह यह है कि अनुभव इस बात को सिद्ध करता है कि राज्य एक दूषित संस्था नहीं है। इतिहास इस बात का प्रतीक है कि भूतकाल में सभ्यता की जितनी उन्नति हुई है वह सब बुद्धिमत्ता द्वारा संचालित राज्य कार्यों द्वारा ही हुई है। यह सत्य है कि कभी कभी राज्य ने अपना ध्येय प्राप्त करने के लिए ऐसे कार्य किये हैं जिनसे लोक का अहित हुआ है। इससे यह परिणाम नहीं निकालना चाहिए कि राज्य एक दूषित तथा सदैव लोक का अहित करने वाली संस्था है। स्पेन्सर का यह विचार कि "राज्य का अस्तित्व केवल इसलिए है कि अपराध होते हैं और अपराधों का अन्त होते ही राज्य के अस्तित्व की आवश्यकता का अन्त हो जाता है और एक पूर्ण आदर्श चरित्र वाले लोगों के राज्य में शासन की आवश्यकता ही नहीं है" बिलकुल मिथ्या और निर्मूल है। आधुनिक काल के जटिल समस्यापूर्ण मनुष्य समाज में राज्य का कर्त्तव्य केवल नकारात्मक, नियमनात्मक और निरोधात्मक ही नहीं है। राज्य का कर्त्तव्य दोष तथा अपराधों को रोकना, दुष्टों को दंड देना और लोकहित संबंधी कार्य करना है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहकर मनुष्यों को एक दूसरे की सहायता पर निर्भर रहना पड़ता है। अपने व्यक्तिगत जीवन की आवश्यकता के लिए संपूर्ण आवश्यक कार्य मनुष्य स्वयं नहीं कर सकता। अनेक आवश्यकताओं के लिए उसे अन्य व्यक्तियों पर निर्भर रहना पड़ता है। अन्य व्यक्तियों के सहयोग से बहुत से कार्य करने पड़ते हैं। आधु-निक काल में सभ्यता की उन्नति के कारण जीविकोपार्जन के अगण्य साधन हो गये हैं। जीविकोपार्जन के साधनों की रक्षा करने के लिए मनुष्यों को संवास स्थापित करने पड़ते हैं। कभी कभी ऐसा होता है कि एक संवास के हित का दूसरे संवास के हित से संघर्ष होता है और परस्पर झगड़ा होता है। ऐसी दशा में शांति और व्यवस्था स्थापित रखने के लिए एक राज-नीतिक संस्था की आवश्यकता होती है जो अन्य प्रत्येक संवासों के कार्यक्षेत्र की सीमा निर्धारित कर सके और उनमें परस्पर शांति और व्यवस्था स्थापित रख सके। ज्यों ज्यों सभ्यता की उन्नति होती जायगी त्यों त्यों राज्य के कार्य और उसकी शक्ति बढ़ती जायगी।

वास्तव में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से व्यक्तिवाद सिद्धांत का विरोध अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है। इसका कारण यह है कि उद्योग, धंधे तथा कर्मशालाओं के बढ़ जाने से मनुष्यों की जनसंख्या इन स्थानों पर अधिक बढ़ती जा रही है। लोगों को रहने को घर और खाने को भोजन मिलना कठिन हो रहा है। ऐसी दशा में अब राज्य को पग पग पर मनुष्यों को व्यक्तिगत तथा सामूहिक सहायता देने की अत्यंत आवश्यकता प्रतीत होती है और राज्य वास्तव में सफलता पूर्वक इन कार्यों में सहायता कर रहा है। यदि आज राज्य इस प्रकार की सहायता करना बन्द कर दे तो विशेषकर नगरों के लोग बेघर हो जायँ और सहस्त्रों मनुष्य अपने सामान और स्त्री-बच्चों समेत जनमार्गों पर पड़े हुए दिखाई पड़ें और खाने को भोजन भी न मिले। अब यद्भाव्यंनीति (Laissez Faire) के विरोधी बढ़ते जा रहे हैं। अतः लैवेलिये (Laveleye) का कथन है कि "ज्यों ज्यों सभ्यता की उन्नति होती जायगी और मनुष्य एक दूसरे पर तथा समाज पर अधिकाधिक निर्भर होता जायगा त्यों त्यों लोगों की सामान्य इच्छाओं की तुष्टि करने के लिए राज्य का कार्यक्षेत्र आनुक्रमिक रूप से (Correspondingly) अवश्य अधिकाधिक बढ़ता जायगा। आधुनिक काल की सामाजिक दशा को देखते हुए स्पेन्सर का व्यक्तिवाद निर्मूल है। १

व्यक्तिवादियों का यह बड़ा संकुचित विचार है कि लोकहित के लिए यदि राज्य हस्तक्षेप करता है तो इससे मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतंत्रता में बाधा पड़ती है। संभव है कि एक निर्धारित सीमा के भीतर राज्य के हस्तक्षेप द्वारा व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर आघात होता हो परन्तु साधारणतया इस हस्तक्षेप से हानि की अपेक्षा लाभ अधिक होता है। बुधिमत्ता पूर्ण प्रत्येक व्यक्ति तथा समाज के कार्यक्षेत्रों को सीमित करके राज्य मनुष्यों की व्यक्तिगत तथा सामाजिक स्वतंत्रता को विस्तृत करता है। गार्नर का विचार है कि इस प्रकार मनुष्यों के व्यक्तिगत अथवा सामाजिक कार्यों में बाधा डालकर राज्य एक माली के समान कार्य करता है। जैसे माली एक फल के वृक्ष अथवा अंगूर की बेल को उसकी उन्नति करने के लिए काटता है उसी प्रकार राज्य भी करता है। क्योंकि माली के ऐसा करने से अधिक अच्छे फल लगते हैं और अन्त सब को लाभ होता है। २

१ लैवेलिये—लि गवर्नमैंत दां ला दी मॉक्राती—पुस्तक १, पृष्ठ ३८।
२ गार्नर—इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस, पृष्ठ २९१।

व्यक्तिवादियों का मत है कि शासन का कार्यक्षेत्र जितना अधिक विस्तृत होता जायगा मनुष्यों की स्वतंत्रता का उतना ही अधिक ह्रास होता जायगा। यह विचार भी बड़ा दोष पूर्ण है। इससे यह स्पष्ट है कि उनके मतानुसार 'शासन' और 'स्वतंत्रता' इन दो शब्दों में विरोधाभास है। शासन स्वतंत्रता का बैरी और विरोधी है। वास्तव में ऐसा नहीं है। शासन स्वतंत्रता का विरोधी नहीं है। व्यक्तिवादियों की यह कल्पना मिथ्या है। सुव्यवस्थित तथा बुद्धिमान पुरुषों द्वारा संचालित शासन कार्यों द्वारा राज्य के निवासियों की केवल नैतिक, शारीरिक और बौद्धिक उन्नति ही नहीं होती बल्कि राज्य शक्तिशाली होता है तथा स्वार्थी लोगों के अनुचित कार्यों का नियंत्रण करके जनसाधारण को व्यक्तिगत तथा सामाजिक उन्नति करने का अवसर प्रदान करता है। इस प्रकार मनुष्य की आन्तरिक गुप्त शक्तियों का विकास होता है, भांति भांति के आविष्कार होते हैं और उद्योग, व्यवसाय तथा व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है जिससे देश की उन्नति होती है। व्यक्तिवादियों का यह सिद्धांत निर्मूल है कि शासनीय नियमन और नियंत्रण मनुष्य की व्यक्तिगत प्रेरणा-शक्ति, आत्मविश्वास, स्वावलम्ब, आदि गुणों का ह्रास करके तथा व्यक्तिगत अन्य मानसिक गुणों की संपूर्ण तथा सामंजस्ययुक्त प्रगति में बाधा डालकर उसके आचरण को भ्रष्ट करता है। आचरण की उन्नति केवल स्वतंत्रता से नहीं होती है। आचरण की उन्नति के लिए अनुशासन तथा निरोध की अत्यंत आवश्यकता है। व्यक्तिवादियों की यह कल्पना निराधार है कि शासन का कार्यक्षेत्र ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है त्यों त्यों मनुष्य निर्बल होता जाता है। मनुष्य का पूर्ण विकास तभी समझा जा सकता है जब उसकी सामाजिक तथा सांस्कृतिक उन्नति हो। उसकी नैसर्गिक उन्नति कोई उन्नति नहीं है। मनुष्य की उन्नति समाज द्वारा ही हो सकती है। समाज से पृथक रहकर मनुष्य कभी किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता है। और राज्य एक उन्नत राजनीतिक संवास अथवा समाज है जो मनुष्य की सर्व प्रकार की उन्नति के लिए अत्यंत आवश्यक है।

व्यक्तिवाद में एक बड़ा भारी दोष यह है कि यह सिद्धांत शासन के नियमन को वर्णन करने में अतिशयोक्ति करता है। शासन के नियमन को वह वृहद् रूप देता है और शासन के नियमन द्वारा प्राप्त होने वाले लाभों को बड़ा सूक्ष्म रूप देता है। व्यक्तिवादी स्वतंत्रता के वास्तविक लक्षणों की कल्पना करने में भूल करते हैं और स्वतंत्रता की उन्नति की

उचित सीमा निर्धारित करने में भी भूल करते हैं। वे लोग यह बात ठीक नहीं समझते हैं कि मनुष्य का समाज के साथ क्या संबंध है ? यदि वे इस बात की ठीक ठीक कल्पना कर लें कि मनुष्य समाज का एक अंग है और वह समाज से पृथक नहीं है तो वे इस प्रकार के विचार कभी न प्रकट करें। वास्तव में वे मनुष्य को समाज से पृथक समझकर उसकी व्यक्तिगत महत्ता पर अधिक जोर देते हैं। उनका सिद्धांत है कि मनुष्य की व्यक्तिगत उन्नति से समाज की उन्नति होती है। वे लोग व्यक्तिगत उन्नति को अधिक महत्व देते हैं परन्तु उन्हें इस बात का आभास नहीं होता कि बिना समाज की उन्नति हुए व्यक्तिगत उन्नति असंभव है। समाज से पृथक व्यक्ति की कल्पना करना ऐसा है जैसे "ऊँची दीवार" में केवल "ऊँचाई" की कल्पना करना अथवा मनुष्य की कल्पना न करके भूत, प्रेत की कल्पना करना। इसका अभिप्राय यह है कि वास्तव में मनुष्य समाज से पृथक कोई अस्तित्व नहीं रखता है। उसका अस्तित्व केवल समाज के एक अवयव के रूप में है।

इसमें संदेह नहीं कि किसी समय शासन के किसी कार्य से जनता का अहित हुआ हो अथवा शासन के किसी विधान से लाभ की अपेक्षा हानि हुई हो, तो इसका यह परिणाम नहीं निकालना चाहिए कि शासन के ऐसे कार्यों अथवा विधानों से सदैव ही लोक का अहित होगा। भूत काल में ऐसा हुआ है कि शासन के कार्यों से कभी कभी लोक का अहित हुआ है। ऐसा भी हुआ है कि शासन के विधानों से जनता का लाभ न होकर हानि हुई है। इसी प्रकार के कार्यों अथवा विधानों के कारण व्यक्तिवादियों ने यह परिणाम निकाल लिया है कि शासन के कार्यों अथवा विधानों से भविष्य में भी सदैव ही जनता को हानि ही पहुँचेगी। व्यक्तिवादियों का यह विचार भ्रमात्मक और निर्मूल है। व्यक्तिवादियों ने शासन की छोटी छोटी त्रुटियों को बड़ा विराट रूप दे दिया है और सब प्रकार के शासन को दूषित घोषित कर दिया है। शासन प्रणाली भी तो अनेक प्रकार की होती है। स्वेच्छाचारी अथवा निरंकुश शासन दोषयुक्त हो सकता है। कुलीन तंत्र भी दोषयुक्त हो सकता है और जनतंत्र भी बुरा हो सकता है। परन्तु जहां वास्तव में प्रतिनिधित्व, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष, शासन प्रणाली कार्य करती है और उसमें श्रेष्ठ, बुद्धिमान और निःस्वार्थी लोगों के हाथ में शासन कार्य है वहां की जनता को रामराज्य का सुख प्राप्त होता है और ऐसे शासन वाले राज्य में लोगों की शारीरिक, आत्मिक, बौद्धिक, आदि सब प्रकार की उन्नति होती है। अतः यह विचार करना कि क्योंकि शासनों ने

भूलें की हैं अथवा शासकों ने भूलें की हैं इसलिए शासन प्रणालियां दोष-युक्त हैं, बिलकुल मिथ्या है ।

व्यक्तिवादियों का यह विचार भी मिथ्या है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने हित की बात को राज्य की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझता है और प्रत्येक व्यक्ति को स्वहित संबंधी कार्य स्वतंत्रता पूर्वक करने देना चाहिए, राज्य को उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए । यदि एक व्यक्ति के स्वहित संबंधी कार्यों में कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा तो वह स्वतः अपनी उन्नति करता चला जायगा और व्यक्तिगत उन्नति के साथ सामाजिक उन्नति अपने आप होती जायगी । वास्तव में व्यक्तिवादियों की यह कल्पना निर्मूल है । यदि प्रत्येक व्यक्ति को स्वहित संबंधी कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता दे दी जाय तो वह अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए सब प्रकार के बुरे भले कार्य करने को उद्यत होता जायगा और अन्य व्यक्तियों के हितों पर आघात पहुँचायेगा और उनके हितों पर अनधिकृत अतिक्रमण करेगा । परिणाम यह होगा कि मनुष्य एक दूसरे की हत्या करने को उद्यत होता जायगा और पूर्ण रूप से अराजकता फैल जायगी । व्यक्तिवादियों के सिद्धांत के अनुसार यदि आज राज्य का अन्त कर दिया जाय और सब प्रकार की शासन प्रणाली उठ जाय तो हम इस बात की कल्पना कर सकते हैं कि हमारे देश की क्या दशा हो जायगी । सत्य तो यह है कि "'जिसकी लाठी उसकी भैंस" अर्थात् शक्ति सिद्धांत की स्थापना हो जायगी अथवा या यों कहिए कि लोगों को मत्स्य—न्याय का आश्रय लेना पड़ेगा । बली निर्बल पर अत्याचार करेगा । इस बात को मिल आदि व्यक्तियों ने स्वीकार किया है १ । मिल ने अपनी 'लिबर्टी' नामक पुस्तक में स्पष्ट लिखा है कि "बहुमत अल्प-मत पर अत्याचार करता है ।" सिजविक (Sidgwick) का भी यही विचार है कि बहुधा जनता अपने हित के विषय में ठीक ठीक निर्णय नहीं कर सकती २ । बेल्जियम के प्रसिद्ध लेखक लैवेलिये (Laveleye) का मत है कि "यदि प्रत्येक मनुष्य अपने हितों, कर्तव्यों और अधिकारों को स्पष्ट रूप से समझ सके और उनके विषय में ठीक ठीक निर्णय कर सके और उनके अनुसार कार्य कर सके और स्वेच्छा पूर्वक सुकर्म कर सके और कुकर्मों से बच सके तो (वास्तव में) राज्य के हस्तक्षेप की आवश्यकता न रहेगी और हम स्वतंत्र शासन का

१ देखिए मिल की 'एसे आन लिबर्टी'

२ देखिए सिजविक की 'पोलीटिकल इकानामी', पृष्ठ ४१६

उपभोग कर सकेंगे * । परन्तु वास्तव में बात तो यह है कि लोग अज्ञानी और मूर्ख अधिक संख्या में होते हैं और विद्वान और चतुर न्यून संख्या में होते हैं। अज्ञानी लोग उन बुरी बातों की कल्पना कभी नहीं कर सकते जिनके विषय में वे बिलकुल अज्ञानी हैं। अतः वे कभी स्वयं अच्छे मार्ग पर नहीं चल सकते। उन्हें अच्छा मार्ग बताने के लिए बुद्धिमान मनुष्यों की आवश्यकता है। इससे सिद्ध होता है कि राज्य एक अत्यंत आवश्यक संस्था है जिसके बिना राज्य की भांति भांति की जटिल समस्याएं हल नहीं हो सकतीं और न राज्य के लोगों की तथा राष्ट्र की उन्नति ही हो सकती है।

संसार में आधुनिक काल में जितने भी राज्य हैं उन सबकी शासन प्रणालियों की ओर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि शासन ने जनता के लगभग सभी कार्यों पर नियंत्रण कर रखा है। लोगों के भोजन, वस्त्र, स्वास्थ्य, शिक्षा, उद्योग, व्यवसाय, व्यापार, धर्म, संवास आदि सब बातों पर अपना अधिकार कर रखा है। इन सब विषयों के संबंध में शासन विधान निर्माण करता है और इन विधानों द्वारा ये सब कार्य सफलता पूर्वक हो रहे हैं। इन विधानों द्वारा वास्तव में लोकहित हो रहा है। सब प्रकार की व्यक्तिगत अथवा सामूहिक उन्नति होती दिखायी दे रही है।

व्यक्तिवाद सिद्धांत के पक्ष और विपक्ष में बहुत कुछ कहा जा चुका है। साधारण पाठक इन तर्कों में पड़कर भ्रम में पड़ सकता है। अतः यह आवश्यक है कि यह भी स्पष्ट कर दिया जाय कि वास्तव में कौन सा पक्ष अधिक प्रबल है। व्यक्तिवाद सिद्धांत के अनुयायियों का मत ठीक है अथवा इस सिद्धांत के विरोधियों का ? व्यक्तिवाद सिद्धांत के पक्ष विपक्ष में जितने तर्क उपस्थित किये गये हैं उनपर विचार करने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वास्तव में व्यक्तिवादियों का पक्ष प्रबल है। व्यक्तिवाद में अनेक दोष होने पर भी हमारा निर्णय यह है कि कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर प्रत्येक दशा में मनुष्यों की व्यक्तिगत सब प्रकार की उन्नति करने में राज्य को न्यूनातिन्यून हस्तक्षेप करना चाहिए और इस प्रकार की उन्नति के मार्ग में आने वाले अवरोधों का निरोध करना चाहिए। गार्नर का कथन है कि "यद्भाव्यंनीति" के विपक्ष में सब कुछ कहने के पश्चात् यह अवश्य मानना पड़ेगा कि साक्ष्य का गुरुभार (Weight of evidence) इसी के पक्ष में है। यह उपक्षेप (Proposition) अत्यधिक दशाओं में विश्वसनीय है कि मनुष्य उस

---

* लैवेलिये—लि गवर्नमेंत दां ला दी मोंआती, पृष्ठ २८

विषय का सबसे अच्छा निर्णायक है जो उसके व्यक्तिगत सुख का अनुदायक है और वह उन्मुक्त तथा स्वतंत्र प्रतियोगिता के अनुक्रम में अत्यधिक समृद्ध होगा और इस अनुक्रम (System) को कार्य रूप में परिणत करना चाहिए। सिजविक और कैर्नीस (Sidgwik and Cairnes) ने भी प्रदर्शित किया है कि इस मार्ग से विशेष दशाओं में उस समय हटना चाहिए जब यह विश्वास करने के लिए पूर्ण अनुभूति मूलक (empirical) कारण हों कि यह साधारण धारणा (general assumption) असत्य है।" *

---

* जे० डब्ल्यू० गार्नर—इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस, पृष्ठ २९८।

विशेष अध्ययन के लिए देखिए:—

डॉनिस्थॉर्प — इन्डिवीडुअलिज्म
डुपों-वाइट — लस्इन्दिवी दुएल एल ता
हैडले — इकॉनामिक्स
लैवेलिये — लि गवर्नमैंट दां ला दीमांक्राती
मैके — प्ली फॉर लिबर्टी।
मैक्कैक्नी — स्टेट ऐण्ड दी इन्डिवीडुअल
मिल — पोलीटिकल इकॉनामी तथा लिबर्टी
मान्टेग्यू — लिमिट्स आफ इन्डिवीडुअल लिबर्टी
ब्रूस स्मिथ — लिबर्टी ऐण्ड लिबरलिज्म
स्पेन्सर — ड्यूटी आफ दी स्टेट
" — लिमिट्स आफ स्टेट ड्यूटी
" — पूअर ला
" — ऐडुकेशन
" — सोशलस्टैटिक्स ऐण्ड मैन वर्सस दी स्टेट
गार्नर — इन्ट्रोडक्शन आफ पोलीटिकल साइंस
गटिल — इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस
सिजविक — ऐलीमैन्ट्स आफ पॉलिटिक्स
विलोबी — नेचर आफ दी स्टेट

अध्याय १५

समाजवाद (Socialism)

पंडित जवाहर लाल नेहरू का विश्वास है कि संसार के धंधे और भारत के प्रश्नों की समस्या पूर्ति का केवल एक मार्ग है और यह समाजवाद है। समाजवाद के अतिरिक्त कोई दूसरी विधि नहीं दिखाई देती जिससे अपने देश-बन्धुओं की दरिद्रता और हीन दशा दूर की जा सके।

समाजवाद का उदय--संसार परिवर्तनशील है। यह परिवर्तन ही समाजवाद का आदि कारण है। मनुष्य व्यष्टि सत्ता से समष्टि सत्ता की ओर बढ़ रहा है। यह उसका प्राकृतिक विकास है। आदिकाल में मनुष्य जंगलों में किसी प्रकार फल-फूल पर ही अपना जीवन व्यतीत करता था। उसके समस्त कार्य अपने शरीर तक सीमित हुआ करते थे। वह स्वयं ही अपने भोजन का प्रबंध करता था और स्वयं ही अपने शरीर की रक्षा के लिए शत्रुओं से युद्ध करने को प्रस्तुत रहता था। उस समय न तो पति था न पत्नी, वरन् केवल नर तथा मादा मात्र ही हुआ करते थे। उस समय न तो कोई शासक था और न कोई शासित। सभी अपने-अपने शासक तथा शासित थे। कानून का उस समय भय नहीं था। सब अपनी इच्छानुसार कार्य किया करते थे। परन्तु ज्यों ज्यों मानव जीवन का विकास होता गया त्यों त्यों उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता छिनती गयी। मनुष्य क्रमशः सामाजिक जीव बनता गया और उसके परिवार तथा कुटुम्ब बन गये। कुटुम्ब का एक कुलपति बना और उसकी आज्ञा का पालन आवश्यक हो गया। कुटुम्ब में शारीरिक रचना के आधार पर सब के कर्तव्य निश्चित किये गये। क्रमशः इसी भांति जातियों का अभ्युदय हुआ और फिर जातियों से राज्य तथा साम्राज्य आदि बने।

यह विकास केवल मनुष्य के जीवन में ही नहीं वरन् भौतिक संसार में भी हुआ। आदिकाल में मनुष्य के वस्त्र वृक्षों की मोटी-मोटी डालें तथा मोटे-मोटे पत्थर के टुकड़े हुआ करते थे। वे पेड़ की पत्तियों

से अपना शरीर ढक लिया करते थे । परन्तु जैसे-जैसे आदि मनुष्य सामाजिक बनता गया वैसे–वैसे उसकी समस्याएँ भी जटिल होती गईं ; और उसका प्रभाव भौतिक संसार पर भी पड़ा । मनुष्य ने वस्त्र का आविष्कार किया । भाले, बरछी तथा आधुनिक वैज्ञानिक शस्त्रों का आविष्कार किया । परमाणुबम भी बनाया । सागर पर चलने वाले जलपोत तथा वायु में उड़ने वाले वायुयान बनाये गये । इतना ही नहीं, दूरदर्शक यन्त्र तथा रेडियो का भी आविष्कार किया गया । रेलगाड़ी, तार आदि अब प्राचीन युग की वस्तुएँ हो गयीं । आधुनिक आविष्कारों से पृथ्वी के प्रत्येक स्थान परस्पर पूर्णरूप से सम्बन्धित हैं । वर्तमानकाल में एक देश का सम्बन्ध दूसरे देश से तथा प्रत्येक देश का उस देश के प्रत्येक प्राणी से इतना घनिष्ठ हो गया है कि एक साधारण घटना संसार संग्राम का रूप धारण कर सकती है । कोई भी मनुष्य अब समाज तथा राष्ट्र से भिन्न नहीं रह सकता । प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी राष्ट्र की सीमा के अन्तर्गत है और उसे उस राष्ट्र के शासन का विधान मानना पड़ता है । इस प्रकार मनुष्य धीरे-धीरे व्यष्टि सत्ता से समष्टि सत्ता की ओर झुकता जा रहा है और उसकी दिन प्रतिदिन की समस्याएँ साधारण से जटिल बनती जा रही हैं ।

इन समस्याओं को सुलझाने के लिए अनेक विद्वान भिन्न भिन्न समयों पर अपने मत प्रकट करते रहे हैं । धार्मिक विचार इनमें सब से प्राचीन हैं । कारण यह है कि प्राचीन समय में सर्व-साधारण का ज्ञान इतना परिष्कृत नहीं था जितना आधुनिक समय में है । सर्व-साधारण में तर्क शक्ति इतनी अधिक न थी जितनी आजकल पायी जाती है । अतः उसे ठीक रास्ते पर लाने के लिए धर्म तथा ईश्वर की सहायता ली गयी । धर्म मनुष्य के जीवन का प्रधान अंग बन गया । कुछ ही दिनों में पादरियों तथा अन्य धर्म-पदाधिकारियों का इतना प्रभुत्व बढ़ गया कि जनता के लिए वे भार स्वरूप हो गये । जो धर्म मनुष्य के सुधार के लिए उपयुक्त हुआ था वही कुछ समय पश्चात् लोगों को प्राचीन मालूम पड़ने लगा और सर्व-साधारण के लिए वह भार-स्वरूप होगया । पहिले कहा जा चुका है कि मनुष्य व्यष्टि से समष्टि की ओर अग्रसर हो रहा है । और यह संसार परिवर्तनशील है । परिवर्तन ही मनुष्य का जीवन है । परिवर्तन से ही मनुष्य जीवन का अस्तित्व है । फलस्वरूप धर्म की भी प्रतिक्रिया होनी आवश्यक थी । अतः साम्राज्यवाद के प्रारंभकाल में बड़े बड़े

विप्लव हुए। बड़ी बड़ी क्रांतियां हुईं। कभी पोप जो रोम का सर्वोच्च-पदाधिकारी था अपने प्रभुत्व को बढ़ा लेता, कभी राजा अपने प्रभुत्व का विस्तार करता। जनता पोप के अत्याचारों तथा उसके अमानुषिक धर्म से ऊब उठी थी, वह किसी नवीन विचारधारा को अपनाना चाहती थी। अतः उसने साम्राज्यवादी विचारधारा का समर्थन किया जिससे यूरोप में पुनर्जागरण हुआ। जनता ने धर्मांधता छोड़कर तर्क को अपनाया और उन्होंने पोप के विरुद्ध अपने राजाओं का साथ दिया। पोपशाही का आतंक घटने लगा और यूरोप की भूमि पर छोटे छोटे राज्यों का उदय होगया जो भविष्य में बड़े बड़े साम्राज्य बन गये। इस साम्राज्यवाद के युग में बड़े बड़े प्रतिभाशाली सम्राट हुए। भारत में उस समय मुसलमानों का राज्य था। यहां मुहम्मद तुगलक तथा अलाउद्दीन जैसे प्रभुत्वशाली राजा हुए। यूरोप में साम्राज्यवादी युग में नैपोलियन जैसे प्रतिभाशाली पुरुष फ्रांस की गद्दी पर बैठे। रूस में जार का आतंक फैला। परन्तु इन बड़े बड़े सम्राटों का दिन भी निकट था। उन्हें भी धर्म-पदाधिकारियों के समान दुर्गति सहनी पड़ी। सामाज्यवाद के अंत के लिए समाजवाद का जन्म हुआ।

इसका जन्म फ्रांस की राज्यक्रांति के समय से माना जाता है परन्तु तब से अब तक इसके रूप में परिवर्तन होता रहा है और अब इसका रूप पहिले से बिल्कुल भिन्न हो गया है। आरम्भ में समाजवाद का विरोध साम्राज्यवाद से था परन्तु साम्राज्य के न रहने पर इसका रूप परिवर्तित होगया और अब यह पूंजीवाद का विरोध करता है।

समाजवाद को इस नवीन रूप में परिवर्तित करने का श्रेय सर्वप्रथम कार्ल मार्क्स को है। मार्क्स ने अर्थशास्त्र की समुचित व्याख्या की और एक नये सिद्धान्त की पुष्टि की। सन् १८४८ ई० में कार्ल मार्क्स ने साम्यवादी घोषणापत्र (Communist Manifesto) प्रकाशित कर विश्व के सामने समाजवाद के दर्शन शास्त्र को रखा। इससे पूर्व भी यूरोप के राष्ट्रों में समाजवादी विचारों का प्रचार था परन्तु अब तक समाजवादी संगठन इतना दृढ़ और अन्तर्राष्ट्रीय नहीं था। कार्लमार्क्स के पूर्व हैगिल के दार्शनिक विचारों का यूरोप में विशेष रूप से प्रभाव पड़ा था। हैगिल के पहले के सभी विद्वान संसार को स्थिर अथवा जड़रूप में स्वीकार करते थे परन्तु हैगिल ने इसको सदैव परिवर्तनशील माना है और इसी को हम (Hegelian Dialect) या विरोध समन्वय मूलक पद्धति

मानते हैं। "उसके मत से यह दृश्यमान जगत एक साथ ही सत्य और मिथ्या है। निरपेक्षभाव की तुलना में यह जगत मिथ्या है और भाव के प्रकाशरूप में यह सत्य है। दृश्यमान जगत के अन्तराल में जो सार सत्य है, वह अवश्य ही ईश्वर के भावरूप में वर्तमान है, परन्तु यह सत्य भी क्रम प्रकाश्य है। यह जड़ जगत जो हमें दृश्यमान होता है, वह भाव की ही अभिव्यक्ति है और यह भाव ही सार सत्य है; जिसे हम जड़ जगत कहते हैं, वह सार सत्य नहीं गौण है। सृष्टि के मूल में भाव के रूप में जो सार सत्य है, उसके क्रम विकास की एक धारा विशेष का हैगिल ने प्रतिपादन किया है वह इस भांति है--"जब हम किसी सत्य का आविष्कार करते हैं उसी समय उसके विपरीत सत्य का सन्धान भी हमें मिलता है। ये दोनों सत्य परस्पर विरोधी और परस्पर विवादमान हैं। ज्ञान के मार्ग पर जब हम कुछ और अग्रसर होते हैं तो हम देखते हैं कि ये दोनों परस्पर विरोधी सत्य एक ही वृहत सत्य के दो पार्श्व हैं। इन दो विरोधी सत्यों के समन्वय से एक नवीन सत्य का उदय होता है। यही विरोध समन्वय मूलक सिद्धान्त है।"

मार्क्स ने हैगिल की पद्धति का तो अनुसरण किया परन्तु उसके आदर्श को स्वीकार नहीं किया। मार्क्स ने हैगिल के आदर्शवाद का समुचित खण्डन किया है। हैगिल ने ज्ञान की अपेक्षा जीवन को गौण समझा। यदि उसके विचारों की समुचित व्याख्या की जाय तो स्पष्ट होगा कि मानवजीवन का लक्ष्य ज्ञान प्राप्ति है। परन्तु मार्क्स ने इस विचार का खण्डन किया है। उसके विचार से मनुष्य में मानवता तथा मानवीय उदात्त गुणों का जो विकास हुआ है, वह भावों की विकास-क्रिया का क्रम नहीं है। समाज में रहकर मनुष्य अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जो उद्योग करता है,उससे उसकी क्षमता में वृद्धि होती है और उसकी क्रमशः यह क्षमता-वृद्धि उसकी सतत् कार्यशीलता का परिणाम है, भावों के विकास का नहीं।

मार्क्स ने केवल एक नये मत का ही प्रतिपादन नहीं किया बल्कि उसने अपने मत के प्रचार के लिए एक संघ भी बनाया। इस संघ का कार्य केवल यूरोप तक ही नहीं सीमित रहा प्रत्युत समग्र संसार में फैल गया। मार्क्स का यह आन्दोलन पूंजीपतियों के विरुद्ध था। उसके विचार से पूंजी एक ऐसी शक्ति है जो समाज के समस्त अंगों पर अपना प्रभुत्व रखती है। दूसरे शब्दों में समाज की आर्थिक रचना ही वह आधार है जिसपर मनुष्य

के अन्य कार्यक्षेत्रों की प्रणालियां समाजव्यवस्था, राज्यव्यवस्था साहित्यकला तथा राजनियम स्थिर है। आर्थिक व्यवस्था ही समाज की नींव है और मनुष्य के अन्य कार्य, साहित्यिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक, उसी के आश्रित हैं।

कार्ल मार्क्स लिखता है—"सामाजिक उत्पादन-व्यवस्था में जिसमें मनुष्य संलग्न रहते हैं, वे ऐसे निश्चित संबंध स्थापित करते हैं जो उनकी इच्छा पर निर्भर नहीं होते। ये उत्पादन संबंध उत्पादन की भौतिक शक्तियों की एक निर्दिष्ट विकासवादी अवस्था से मिलते-जुलते हैं। इन्हीं उत्पादन संबंधों के योग से समाज की आर्थिक प्रणाली का निर्माण होता है। समाज का यही आधार है, जिसपर विधि और राजनीतिक भवन का निर्माण होता है।" इसी आधार पर उसने इतिहास का पूर्ण आर्थिक विवचन किया और संसार को यह स्पष्ट किया कि संसार में जितने विप्लव तथा जितनी क्रांतियां होती हैं, उनका मूलभूत कारण अर्थ रहा है। सेना, शासक तथा राष्ट्र आदि विप्लव के सहायक मात्र हुआ करते हैं। मानव जैसे जैसे प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करता चला जा रहा है वसे वैसे उत्पादक साधनों में परिवर्तन स्वाभाविक रूप से होता चला जा रहा है और इसीलिए सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन आवश्यक है।

आचार्य नरेन्द्रदेव ने इसी विकासक्रम का विवेचन इन शब्दों में किया है—"उत्पादन-शक्तियों के विकास की एक मुख्य अवस्था में हम सामन्त और कृषक के स्थान में पूंजीपति और श्रमिक इन दो आधारभूत नये वर्गों को प्रभुत्व में आते हुए देखते हैं। सामाजिक संगठन के इस वर्गाधार के परिवर्तन का यही कारण था कि उत्पादक शक्तियों की एक नयी धारा आ गई थी। जब हम चाहें इच्छानुसार कोई संबंध, उत्पादन शक्तियों में परिवर्तन किये बिना स्थिर नहीं कर सकते। पूंजीवादी युग में उत्पादन की शक्तियों का जो विकास है, उसके भीतर हम स्वामी और सेवक का ठीक प्राचीन कालीन संबंध स्थापित नहीं कर सकते। इसी प्रकार दास प्रथा के युग में उत्पादन की शक्तियों का जो विकास हुआ था उससे आधुनिक पूंजीपति और श्रमिक नहीं उत्पन्न हो सकते थे। उत्पादक शक्तियों की जैसी अवस्था होती है, समाजिक उत्पादन के प्रयत्न में हम उत्पादक शक्तियों का जो स्वरूप तैयार करते हैं उन्हीं के अनुरूप उत्पादन सम्बन्ध स्थापित होते हैं। उत्पादक सम्बन्धों को जोड़ कर समाज का

आर्थिक ढांचा बनता है और आर्थिक ढांचे के आधार पर राजनीतिक और सांस्कृतिक ढांचे की दीवार खड़ी होती है।"

यद्यपि मार्क्स आधुनिक संमाजवाद का जन्मदाता कहा जाता है परन्तु यह विशेष ध्यान देने की बात है कि आधुनिक समाजवाद मार्क्स के सिद्धान्तों तक ही सीमित नहीं है। आधुनिक समाजवाद मार्क्स के सिद्धान्तों से कहीं अग्रसर हो चुका है और उसमें अन्य नवीन सिद्धान्त भी प्रतिपादित हो चुके हैं। आधुनिक युग के समाजवादी नेता, आचार्य हेराल्ड लास्की तथा आचार्य नरेन्द्रदेव आदि समाजवाद के प्राचीन रूप में संशोधन कर उसे और भी विकसित कर रहे हैं।

सारांश में हम कह सकते हैं कि समाजवाद का विकास आदिकाल से आरंभ हुआ और अब तक हो रहा है और भविष्य में भी जब तक संसार में मानव जाति रहेगी तब तक उसमें विकास का क्रम अबाध्यरूप से होता रहेगा। संभव है यह संसार किसी दिवस एक शासनसूत्र में बँधकर "वसुधैव कुटुम्बकम" के भाव को पूर्ण करे।

समाजवाद की व्याख्या—जिस युग से होकर हमारा जीवन-श्रोत बह रहा है वह समाजवाद का युग है। आधुनिककाल में यह शब्द बड़ा व्यापक होगया है। बड़े बड़े शहरों से लेकर ग्राम तक के स्त्री पुरुष समाजवाद के नाम से परिचित हो गये हैं। भारतवर्ष में जब तक अंग्रेजों का राज्य था तब तक समाजवादी नेता कांग्रेस में रह कर कार्य करते थे परन्तु जैसे ही स्वतन्त्रता-संग्राम समाप्त होगया वैसे ही समाजवादी नेताओं ने अपना एक भिन्न अस्तित्व स्थापित कर लिया है। फलस्वरूप समाजवादी विचार भारतवर्ष में बड़ी देर से प्रारम्भ हुआ और यहां के लिए यह नितांत नवीन है। परन्तु संसार के अन्य उन्नतिशील देशों में यह विचार अब बड़ा प्राचीन हो चुका है और प्रायः प्रत्येक नागरिक समाजवाद से पूर्ण परिचित है। अतः समाजवाद की व्यापकता दृष्टिकोण में रखते हुए इसकी एक व्याख्यात्मक आलोचना पाठकों के लिए अति उपयोगी होगी।

समाजवाद एक प्रकार का प्रगतिशील आन्दोलन है, अतः इसकी परिभाषा नहीं बनायी जा सकती। कारण यह है कि यदि हम इस आन्दोलन के विषय में किसी समय में कोई परिभाषा देते हैं तो दूसरे समय में वह उपयुक्त नहीं प्रतीत होती और हमें उस समय की परिस्थिति के लिए दूसरी परिभाषा बनानी पड़ती है। एक साधारण उदाहरण इसके लिए पर्याप्त होगा। यथा, अनेक देशों की निर्धन जनता ने अपने अपने देश के

पूंजीपतियों का विरोध किया और महान क्रांति का आयोजन किया परंतु किसी देश में वह आन्दोलन विशाल मिल के श्रमिकों द्वारा चलाया गया, किसी देश में वह कृषकों द्वारा चलाया गया और इसी आधार पर उन आन्दोलनों के नाम भी भिन्न भिन्न हुए। भारतवर्ष का ही दृष्टांत ले लीजिए। समाजवाद के ही अन्तर्गत दो भिन्न दलों का संगठन है। एक श्रमिक दल है जिसमें बड़ी बड़ी मिलों और कल-कारखानों के श्रमिक हैं और एक किसान पार्टी है जिसमें देहात के खेतिहर हैं। पहिला दल देश के पूंजीपतियों के विरोध में है और दूसरा देश के जमींदारों का विरोध करता है। यद्यपि एक कृपक भी एक मजदूर का शोषण करता है परन्तु वर्तमान परिस्थिति में उनका आपस में कोई विरोध नहीं। इतनी असाध्यता होने पर भी विद्वानों ने समाजवाद की परिभाषा देने का पूर्ण प्रयत्न किया परन्तु समस्त परिभाषाएँ या तो एकांगी हैं अथवा पक्षपात-पूर्ण हैं। दो-एक उदाहरण नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं।

रोशर (Roscher) जो एक जर्मन विद्वान तथा अर्थशास्त्रवेत्ता है, के कथनानुसार समाजवाद उन सामान्य प्रवृत्तियों की ओर अधिक ध्यान देता है जो मनुष्य के स्वभावानुगत नहीं है। यदि इस अर्थशास्त्रवेत्ता के कथन का तात्विक विवेचन या वैज्ञानिक विश्लेपण किया जाय तो उसके विवेचन की सत्यता कहां तक है, स्पष्ट हो जाय। इसका निर्णय कौन कर सकता है कि अमुक वस्तु मनुष्य के स्वभावानुगत है और अमुक नहीं है? मनुष्य का स्वभाव तो ऐसा विचित्र है कि हम यह नहीं कह सकते कि मनुष्य का स्वभाव अमुक प्रकार का है। इसी प्रकार एक दूसरा विद्वान हर्नशा (Hearnshaw) पक्षपात रहित नहीं हैं, जब वह यह कहता है कि समाजवाद केवल दो श्रेणियों के मनुष्यों को आकर्षित करता है, प्रथम पापी और द्वितीय विक्षिप्त व्यक्ति। ऐसे विद्वान के विचार से तो भारत के प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू, आचार्य नरेन्द्रदेव तथा अन्य विदेशी समाजवादी विद्वान पापी हैं अथवा विक्षिप्त व्यक्ति हैं।

समाजवाद की परिभाषा में कठिनाई उत्पन्न होने का कारण उसकी बहुमुखी प्रतिभा है। समाजवाद का क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। मिल-मालिक तथा मजदूरों की समस्याओं से लेकर राष्ट्र का कर्तव्य क्या है, और उसकी सीमा कहां तक है, आदि प्रश्न समाजवाद के अन्तर्गत आते हैं। एक सज्जन ने समाजवाद को शेषनाग तक कह डाला। जब तक आप एक सिर का खण्डन करें तब तक दूसरा सिर निकल आता है। समाजवाद

की वृद्धि रावण के वंश की भांति बड़ी शीघ्रतापूर्वक होती जारही है। अतः समाजवाद की परिभाषा करना अत्यंत दुःसाध्य है।

तीसरे समाजवाद, जैसा हमें विश्वास है, एक प्रकार का दर्शन तथा धर्म है। समाजवाद एक प्रकार का जीवन अथवा जीवन का एक ढंग है। यह एक आदर्श है। अतः जिस प्रकार हम अन्य वस्तुओं की परिभाषा निश्चित कर सकते हैं, ठीक उसी रूप में हम समाजवाद की परिभाषा नहीं निश्चित कर सकते। समाजवाद एक प्रकार का ऐसा अंकुरित वृक्ष है जिसकी परिभाषा द्वारा कोई सीमा निश्चित नहीं की जा सकती। यह एक प्रकार का जीवित आन्दोलन है और उसके लिए हम एक व्यवस्था निश्चित करके उसे निर्जीव नहीं बना सकते। समाजवाद के लिए भविष्य में अनेक आशायें की जा सकती हैं। उसमें नूतन विचारों के लिये बहुत बड़ा स्थान सुरक्षित है। समाजवाद में हिंदूधर्म की भांति परस्पर विरोधी विचार भी समाविष्ट हो सकते हैं। यदि कोई समाजवादी विद्वान किसी विशेष व्यवस्था का प्रतिपादन करता है तो दूसरा समाजवादी उस व्यवस्था की कटु आलोचना उपस्थित कर सकता है। समाजवाद समय के परिवर्तन के साथ अपनाया जा सकता है और वह समाज के प्रत्येक प्राणी के लिए उपयुक्त हो सकता है। समाजवाद वृद्ध, युवक, स्त्री तथा बच्चों सब के लिए योजनाएँ प्रस्तुत करता है। यह नहीं कि अमुक व्यक्ति युवक है और केवल वही समाजवाद के प्रगतिशील नियमों पर चल सकता है अन्य उससे वंचित रहें। दूसरे यह कि वह जीवन के तथा समाज के प्रत्येक अंग पर प्रकाश डालता है। समाजवाद समाज की सामूहिक सुविधा को लक्ष्य बनाकर अग्रसर होता है। वह केवल कुछ चुने हुए अपने दल के लोगों की ही सुविधा को ध्यान में नहीं रखता। समाजवाद एक प्रकार का राजनीतिक स्वतन्त्रता का संग्राम है जिसका क्रम निरंतर चलता रहा है। यह प्रजातन्त्र में भविष्य की एक व्यवस्था है। स्वतन्त्रता जिसके सुख को हम प्रजातन्त्र में अनुभव करते हैं बिना समाजवादी व्यवस्था के निरर्थक है। बिना समाजवादी व्यवस्था के प्रजातन्त्र किसी एक दल के केवल कुछ मनुष्यों के सुख का साधन मात्र है। ऐसे प्रजातन्त्र से समाज को कोई विशेष लाभ नहीं होता। ऐसे प्रजातन्त्र में केवल कुछ लोग आनन्द मनाते हैं और दूसरे भूखों मरते हैं।

इतनी कठिनाई होते हुए भी हम यह नहीं कह सकते कि समाजवाद के लिए परिभाषा की आवश्यकता नहीं। इसकी परिभाषा उतनी ही आव-

श्यक है जितनी अन्य वादों की। बिना परिभाषा के हम किसी वाद के दृष्टिकोण को ही नहीं समझ सकते। अभिप्राय केवल इतना ही है कि समाजवाद की कोई वैज्ञानिक परिभाषा नहीं हो सकती। समाजवाद का उद्देश्य तथा लक्ष्य समझने के लिए अधोलिखित कुछ परिभाषाएँ उपस्थित की जा रही हैं।

सेलार्स (Sellars) के अनुसार समाजवाद एक प्रजातन्त्र आन्दोलन है जिसका उद्देश्य समाज की आर्थिक व्यवस्था का जब कभी जहां तक न्यायसंगत हो और अधिक से अधिक जहां तक किया जा सके सुधार है। जिससे प्रत्येक को अधिकतम् स्वतन्त्रता तथा न्याय में अधिकार प्राप्त हो।

According to Sellars it is a democratic movement whose purpose is the securing of an economic organization of society which will give the maximum possible at one time of justice and liberty.

हूगन (Hughan) के अनुसार यह एक राजनैतिक आन्दोलन है जो श्रमिकों द्वारा चलाया गया है और जिसका उद्देश्य मिलमालिकों के सम्मिलित शोषण को बन्द करना है, और एसी प्रजातन्त्र-व्यवस्था स्थापित करना है जिसमें उत्पादन यंत्र तथा वितरण-शक्ति समाज के अधिकार में हो।

Hughan defines socialism as the political movement of the working class which aims to abolish exploitation by means of the collective ownership and democratic management of the basic instrument of production and distribution.

एक बार श्रीयुत प्राउधान से एक न्यायाधीश ने पूछा कि समाजवाद क्या है? तो उन्होंने उत्तर दिया कि समाज के सुधार के लिए प्रत्येक प्रेरणा का नाम समाजवाद है। इस पर न्यायाधीश ने कहा तब तो हम सभी समाजवादी हैं। अभियुक्त ने उत्तर दिया कि संक्षिप्त रूप में हम भी कुछ ऐसा ही समझते हैं।

लिटर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पैरोल डि फिलासफी पाजिटिव' में लिखा है कि समाजवाद राष्ट्र के स्वरूप में परिवर्तन करने के लिए एक प्रेरणा है जिसके लिए आर्थिक व्यवस्था का विचार एक सुन्दर पथ है और इसका प्रचार श्रमिकों द्वारा किया जा रहा है।

वेस्टकॉट के विशप ने एक पत्र में जो हल की चर्च कांग्रेस में प्रथम अक्तूबर १८९० को पढ़ा गया था और जिसका अब पुस्तक रूप बन गया है, लिखा है कि समाजवाद की सर्वश्रेष्ठ पहिचान यह है कि वह व्यक्तिवाद के विरुद्ध है। समाजवाद तथा व्यक्तिवाद मानवता के दो विपरीत दृष्टिकोण हैं। व्यक्तिवाद मानवता को ऐसे परमाणुओं द्वारा विरचित समझा जाता है जो परस्पर एक दूसरे से असम्बद्ध हैं। इसके ठीक विपरीत समाजवाद मानवता को एक प्राणी समझता है जिसके विभिन्न प्रकार के मनुष्य विभिन्न अंगमात्र हैं और एक दूसरे से घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। इस प्रकार समाजवाद और व्यक्तिवाद अपने लक्ष्य तथा कार्य प्रणाली दोनों में भिन्न हैं। समाजवाद की कार्य-प्रणाली का आधार सहकारिता है और व्यक्तिवाद की कार्यप्रणाली का आधार प्रतिस्पर्धा है। प्रथम की कार्यप्रणाली सार्वजनिक हित में विश्वास रखती है और द्वितीय की कार्यप्रणाली का विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य केवल अपने हित के लिए दूसरे मनुष्य के विरुद्ध कार्य करता है। समाजवाद का उद्देश्य सार्वजनिक सेवा है, और व्यक्तिवाद का उद्देश्य समाज में अपना व्यक्तित्व स्थापित करना है। समाजवाद ऐसे संघ का प्रतिपादन करता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति के उत्कर्ष का पूर्ण परिचय देने का अवसर प्राप्त हो। और व्यक्तिवाद मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति का ध्यान रखता है और भविष्य में जनता की शुभकामना करता है।

समाजवाद क्या नहीं है—जिस प्रकार मध्यवर्ती युग में राजाओं तथा सामन्तों का आतंक जनता पर छाया हुआ था, प्रजातन्त्र का नाम लेना बड़ा अपशकुन समझा जाता था। उसी प्रकार आजकल समाजवाद का नाम लेना एक प्रकार से देश के प्रति विद्रोह करना समझा जाता है। समाजवाद के शत्रु इसको अनेक नामों से पुकार कर इसे पददलित करना चाहते हैं। कोई इसे अराजकतावाद के नाम से पुकारता है तो कोई इसे साम्यवाद के नाम से पुकारता है। अतः यह स्पष्ट करना परमावश्यक है कि समाजवाद अपनी एक भिन्न सत्ता रखता है। वह न तो अराजकतावाद है और न साम्यवाद ही है।

समाजवाद समाज में एक न्यायोचित ढंग से परिवर्तन चाहता है। समाजवाद में यह विशेष ध्यान दिया जाता है कि कोई भी परिवर्तन अन्यायोचित रीति से न किया जाय। परन्तु अराजकतावाद न्यायोचित तथा अन्यायोचित विधि का विचार नहीं करता। समाजवाद का सिद्धान्त क्रमिक विकास का

सिद्धान्त है और इसका आधार प्रत्यक्ष सत्य है। परन्तु अराजकतावाद का सिद्धान्त दार्शनिक सिद्धान्तों पर अवलम्बित है और अराजकतावाद प्रगतिशील तथा आदर्शवादी है। किसी ने अराजकतावाद की उपहासास्पद आलोचना की है कि विक्षिप्त व्यक्तिवाद ही अराजकतावाद है।

कुछ लोग समाजवाद का अर्थ परिवर्धित कर्मचारी वर्ग समझते हैं। परन्तु यह ऐसे विचारक हैं जो शासन व्यवस्था को एक बाहर की वस्तु समझते हैं। यदि हम यह मान लें कि सरकार शासित व्यक्तियों द्वारा बनाई गयी है तो प्रजा उस प्रकार की एक अनावश्यक अंग बन जाती है और यह कहना कि परिवर्धित कर्मचारी वर्ग ही समाजवाद ह असत्य सिद्ध होता है।

श्रीयुत ब्राडला लिखते हैं कि समाजवाद व्यक्तिगत संपत्ति का समर्थन नहीं करता और यह चाहता है कि सारी संपत्ति राष्ट्र की हो और राष्ट्र ही सब से काम लेने का अधिकारी हो और उपज को राष्ट्र ही सब में समान रूप से वितरित करे। परन्तु ब्राडला का यह कथन वास्तविकता से अधिक दूर है। समाजवाद यह कभी नहीं चाहता कि समस्त संपत्ति राज्य के आधीन रहे। समाजवाद तो केवल इतना चाहता है कि उत्पादक साधनों पर राज्य का अधिकार हो। समाजवाद सीमित वृत्त में निजी संपत्ति का समर्थन करता है।

फ्लिन्ट महोदय अपनी पुस्तक समाजवाद (Socialism) में लिखते हैं कि समाजवाद की दो भिन्न शाखायें हैं; प्रथम साम्यवाद और दूसरी समूहवाद है। यह दोनों वाद समाजवाद के अन्तर्गत स्पष्टरूप से आते हैं और यह दोनों वाद बड़ी सरलता पूर्वक पहचाने जा सकते हैं। फ्लिन्ट महोदय का ही दूसरा प्रमाण लीजिये; वह लिखते हैं कि प्रत्येक साम्यवादी समाजवादी है परन्तु प्रत्येक समाजवादी साम्यवादी नहीं है। कारण यह है कि यह समाजवाद के अन्तर्गत दो विभिन्न सिद्धांतों को सम्मिलित करते हैं। परन्तु समाजवाद का एक विशेष सिद्धांत जो साम्यवाद को बिलकुल पृथक कर देता है यह है कि साम्यवाद प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक की आवश्यकतानुसार समान वितरण को लक्ष्य में रखता ह, किन्तु समाजवाद का लक्ष्य यह है कि वितरण सबकी उत्पादन-क्रिया के अनुसार होना चाहिए। जो जिस श्रेणी का कार्यकर्ता हो और जितना वह कार्य कर सकता हो उसी के अनुसार उत्पत्ति का वितरण भी होना चाहिए। समाजवाद केवल व्यक्तिगत में वद्धि के साधनों को रोकना चाहता है परन्तु साम्यवाद तो व्यक्तिगत संपत्ति का समर्थक ही नहीं है।

दूसरे समाजवाद विकासवादी है और साम्यवाद क्रांतिकारी है। साम्यवाद समाजवाद से कम स्पष्ट और अधिक काल्पनिक तथा अधिक नौकरशाही है। समाजवाद राष्ट्रवादी है परन्तु साम्यवाद का अन्तिम लक्ष्य राष्ट्र की अन्त्येष्टि क्रिया कर देना है।

इन कटु आलोचनाओं के अतिरिक्त भी अनेकों अनुचित धारणाएं समाजवाद के विरुद्ध फैली हुई हैं जिनमें से कुछ का उल्लेख निम्न पंक्तियों में किया जा रहा है।

कुछ लोगों का विचार है कि समाजवाद धर्मविरोधी है। समाजवाद ईश्वर में विश्वास नहीं करता और न पूजा-गृहों को ही कोई महत्व देता है। प्रत्युत यह मंदिर, मस्जिद तथा गिर्जा-गृहों को पाठशालाओं तथा विश्वविद्यालयों में परिणत कर देना चाहता है।

परन्तु यह लांछन वास्तविकता से अत्यंत परे है। समाजवाद अनीश्वरवादी नहीं है और न वह पूजा गृहों को पाठशालाओं और विश्वविद्यालयों में परिणत ही करना चाहता है। सत्य यह है कि समाजवाद ईश्वरवादी तथा अनीश्वरवादी दोनों को ही समान दृष्टि से आदर करता है। एक समाजवादी के लिए जितना आदरणीय तथा आवश्यक एक पुजारी है उतना ही आदरणीय तथा आवश्यक एक भंगी भी है। समाजवादी व्यवस्था में यह नहीं होगा कि पुजारी को इतना भोजन मिले कि वह अपनी तोंद के भार को न सह सके और भंगी को इतना कम मिले कि वह हड्डियों का एक पञ्जर बना रहे। समाजवादी व्यवस्था में तो दोनों को उसके परिश्रम के अनुकूल ही भोजन तथा वस्त्र आदि मिलेंगे। पुजारी को भी, यदि अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करेगा, भूखा मरना होगा।

कुछ लोगों की धारणा यह है कि समाजवाद पारिवारिक जीवन का विरोधी है, परन्तु यह धारणा नितान्त भ्रांतिमूलक है। समाजवाद का परिवार से कोई विरोध नहीं है। समाजवाद तो एक आर्थिक आन्दोलन है। यह समाज की आर्थिक त्रुटियों की ओर अधिक ध्यान देता है। समाजवाद यह कदापि नहीं चाहता कि पिता-पुत्र, पति-पत्नी तथा भाई-भाई का संबंध विच्छेद हो। समाजवाद तो भ्रातृ-भावना को प्रोत्साहन देना चाहता है। समाजवाद यह चाहता है कि केवल कुटुम्ब में ही नहीं बल्कि संसार में एक प्राणी दूसरे प्राणी को अपना भाई समझे। समाजवाद 'सर्वे भवन्तु सुखिन:' का विशेष समर्थक है।

कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि समाजवाद शील, सदाचार,

सभ्यता तथा संस्कृति का विरोधी है। परन्तु यह धारणा भी निर्मूल तथा भ्रांतिपूर्ण है। समाजवाद मानवता की अभिवृद्धि चाहता है, संस्कृति की रक्षा चाहता है, ,वह नैतिकता का उत्थान चाहता है और सभ्यता की रक्षा चाहता है। वह संस्कृति तथा सभ्यता का कदापि विरोधी नहीं है।

कुछ लोग समाजवाद की निन्दा करने के लिए यह भी कहते हैं कि समाजवाद औद्योगिक केन्द्रीयकरण चाहता है, जिसका फल यह होगा कि हस्तकला अवनत हो जायगी। परन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। औद्योगिक केन्द्रीकरण से हस्तकला संगठित रूप में अधिक विकसित होगी। आधुनिक यंत्रों द्वारा कार्य करने से मनुष्य का समय भोजन तथा वस्त्र की सामग्री के उत्पादन में कम लगेगा इसलिए शेष समय विद्याध्ययन तथा अन्य उपयोगी कलाओं के सीखने में व्यतीत होगा और हस्तकला की वृद्धि होगी।

समाजवाद की व्यवस्था—आज का युग अतीत के युग से कहीं आगे बढ़ चुका है। उत्पत्ति के अनेकों साधन उपलब्ध हो गये हैं। मशीनों से जुताई बुवाई का काम लिया जाता है। सिंचाई के लिए नहरों का नवीन आयोजन हो रहा है। यातायात के साधन में बड़ी वृद्धि हो गई है। रेल, तार, तथा हवाई जहाज आदि के साधन मानव के लिए उपलब्ध हैं। परन्तु हायरे मानव समाज ! यह समस्त साधन केवल कुछ मनष्यों के हित के लिए ही उपयुक्त हो रहे हैं। समाज के अधिकांश मनुष्य इस साधन के लाभ से वंचित रह जाते हैं। कहां तक कहा जाय और किससे कहा जाय ? भारतवर्ष में अभी ऐसे मनुष्य हैं जिन्होंने अभी तक रेलगाड़ी तक नहीं देखी है। भारत की ही नहीं वरन् संसार की बड़ी दयनीय दशा है। रेलगाड़ी के तृतीय श्रेणी के डिब्बे में जब हम खचाखच भीड़ देखते हैं और उसी के पास जब हम प्रथम श्रेणी के डिब्बे को देखते हैं जिसमें केवल एक ही व्यक्ति विश्राम करता रहता है तो हमें अत्यन्त क्षोभ होता है। प्रथम श्रेणी के डिब्बे में जहां केवल एक ही मनुष्य रहता है पंखे की भी सुविधा रहती है परन्तु तृतीय श्रेणी में जहां गर्मी के कारण अत्यन्त आकुलता रहती है कोई पंखे का प्रबंध नहीं होता। कृषक दिनरात कार्य करता करता थक जाता में परन्तु सायंकाल को उसे उचित भोजन भी नहीं प्राप्त होता। उसके बच्चों की अध्ययन की सुविधा को कौन कहे भोजन भी पेटभर नहीं मिलता। मनुष्य जाति के कुछ बच्चे भयानक रोगों से पीड़ित तड़पते हुए सड़कों पर इधर-उधर घूमा करते हैं परन्तु किन्हीं महाशय के कुत्ते के लिए डाक्टर साहब दौड़-धूप मचाते हैं।

ऐसा क्यों है? क्या कारण है कि एक मनुष्य को भोजन तक न मिले और दूसरा अन्न का अपव्यय करे? एक समाजवादी इसका कारण स्पष्ट करते हुए लिखता है कि उत्पादन के समस्त साधनों पर थोड़े से व्यक्तियों अथवा व्यक्ति-समूहों का अधिकार है। भूमि, भोजन, पूंजी और अन्य आर्थिक व्यवस्थाओं पर केवल अल्प व्यक्ति नियंत्रण रखते हैं। प्राचीन अधिकारों के नाम पर ये थोड़े से व्यक्ति संसार की संपत्ति पर अपना पैतृक अधिकार बनाये हुए हैं। चाहे बेटा कितना ही निकम्मा क्यों न हो परन्तु उसे भोग के अनेकानेक साधन उपस्थित हैं। ये अल्प-व्यक्ति समाज की आवश्यकताओं का बिना ध्यान दिये अपनी भोग-विलास की सामग्री अधिक पैदा कराते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि निर्धन अपने भोजन और वस्त्र के लिए तरसते रहते हैं और संपत्तिशाली अपनी विलासिता में निमग्न रहते हैं। ये समाज के विशाल समुदाय को शिक्षा तथा संस्कृति से वंचित किये रखते हैं जिससे समाज की दशा सुधरने में विलम्ब हो रहा है। अशिक्षा का तो निर्धन तथा पददलित समाज पर इतना प्रभाव है कि चमार अपने को सदैव के लिए हीन ही समझे रहता है। उससे यदि कहा जाय कि तुम पढ़-लिखकर कोई ऊँची नौकरी करो तो उसका स्वभावतः यही उत्तर होगा कि हमारे भाग्य में चमार का जन्म ही लिखा था तो मैं विद्या कैसे पढ़ लूं। इस धनी समुदाय ने अधिकांश जनता को अशिक्षित बना दिया है जिससे उन्हें अपनी स्थिति का कभी ध्यान भी नहीं होता और वह अपनी इस पददलित स्थिति में पूर्ण संतुष्ट हैं। इन बेचारे निर्धनों को इस धनिक वर्ग ने इतना गुलाम बना डाला है कि वे अपने मालिक के सामने चारपाई आदि पर बैठना भी उचित नहीं समझते।

परन्तु क्या इन श्रमिकों की यही हीन ही दशा सदैव बनी रहेगी? जिन्होंने अपना रक्त बहाकर देश की अनेक आयोजनाओं को पूर्ण किया है। जिन्होंने समय पड़ने पर समाज के लिए अपने को बलिवेदी पर चढ़ा दिया है। जिनके सहयोग के बिना संसार का कोई भी अनुसंधान तथा आविष्कार संभव नहीं हुआ है। प्रत्येक आविष्कार में इन निर्धन व्यक्तियों का ही विशेष हाथ रहा है। तो क्या इनकी दशा सदैव ही दयनीय बनी रहेगी? यह कभी नहीं हो सकता। इनकी अवस्था में परिवर्तन अवश्य होगा।

प्रिंस क्रोपाटकिन ने लिखा है कि "एक भी विचार, एक भी आविष्कार, जिसका उदय अतीत काल में हुआ है, ऐसा नहीं है जिसे सबकी संपत्ति न कहा जाय। ऐसे हजारों ज्ञात और अज्ञात आविष्कारक हुए हैं जो दरिद्रता में ही मर गए

किन्तु उन्हीं के सहयोग से ये मशीनें निकली हुई हैं जिन्हें आज मानवीय प्रतिभा की मूर्ति कहा जाता है। प्रत्येक यंत्र का यही इतिहास है--वही रात्रि का जागरण, वही दरिद्रता, वही निराशाएं, वही हर्ष और वही अज्ञात मज़दूरों की कई पीढ़ियों द्वारा किये गये आंशिक सुधार जिनके बिना अधिक से अधिक उर्वरा कल्पना शक्ति व्यर्थ सिद्ध होती। इसके अतिरिक्त एक बात और है। प्रत्येक नवीन आविष्कार एक योग है--ऐसे असंख्य आविष्कारों का परिणाम है, जो यंत्र-शास्त्र और उद्योग-धंधों के विशाल क्षेत्र में उससे पहिले हो चुके हैं। विज्ञान और उद्योग, ज्ञान और प्रयोग, आविष्कार और व्यवहारिक सफलता, मस्तिष्क और हाथ का कौशल, मन और स्नायु का श्रम यह सब साथ साथ कार्य करते हैं। प्रत्येक आविष्कार, प्रत्येक प्रगति और मानव संपत्ति में प्रत्येक वृद्धि भूत तथा वर्तमान में सम्मिलित मानसिक और शारीरिक श्रम का फल है।"

अतः जब प्रत्येक कार्य समाज द्वारा किया गया है तो समाज को ही उसका फल भी मिलना चाहिए न कि समाज के कुछ चुने हुए व्यक्तियों को। परन्तु आधुनिक सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन किये बिना यह असंभव है और सामाजिक व्यवस्था को परिवर्तित करने के लिए मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता है। प्रचलित आर्थिक व्यवस्था का नाश और उसके स्थान पर एक नवीन व्यवस्था की स्थापना करना और समाज में मौलिक परिवर्तन करना एक ऐसी घटना है जो विधानवाद द्वारा संभव नहीं है क्योंकि इस परिवर्तन का स्थापित स्वार्थ विरोध करेगा और आर्थिक व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन संभव न होगा। अतः क्रांति के द्वारा राज्यसत्ता पर समाजवादियों का आधिपत्य आवश्यक है। राज्यसत्ता पर समाजवादियों का अधिकार हो जाने पर ही समाजवादी व्यवस्था कार्य रूप में परिणत की जा सकती है।

वह समाजवादी व्यवस्था जिसे समाजवाद प्राप्त करना चाहता है सैलर्स (Sellars) के विचार से निम्न प्रकार की है।

प्रथम--समस्त उत्पादक साधनों--भूमि, कल-कारखानों, आकर, बैंकों, रेलों, जहाजों, जंगलों आदि पर समाज का अधिकार होगा। श्रमिक तथा पूंजीपति न रहेंगे। प्रत्येक व्यवसायिक क्षेत्र में सहयोग समितियों की स्थापना की जायगी। जमींदारी प्रथा का अन्त हो जायगा और कृषक अपनी भूमि लगान पर दूसरों को न दे सकेंगे। सहकारिता के सिद्धांत पर कृषि की जायगी।

द्वितीय--इस प्रकार समाज में प्रचलित वर्ग संघर्ष का अन्त हो जायगा पूंजीपति, श्रमिक, जमींदार और किसान जैसे वर्ग न रहेंगे। सब मनुष्य अपने परिश्रम का फल भोगेंगे। कोई व्यक्ति किसी के परिश्रम का लाभ न उठा सकेगा। प्रत्येक व्यक्ति को समाज में समान अधिकार मिलेगा। उसे समाज में प्रत्येक प्रकार की सुविधा मिलेगी।

तृतीय--वस्तुओं का दुरुपयोग कम कर दिया जायगा। आधुनिक व्यवस्था में धन व्यर्थ व्यय किया जाता है। अमेरिका में लगभग ६ सहस्त्र पत्र बाजार में रखे जाते हैं परन्तु उनमें आधे भी नहीं बिकते। संसार के व्यक्तियों को अन्न भोजन के लिये नहीं मिलता परन्तु संयुक्त राष्ट्र में गेहूँ इसलिये जला दिया गया जिससे गेहूँ का मूल्य घट न जाय। पैदावार अधिक हो गयी थी और यह भय था कि यह गेहूँ बाजार में रख दिया जायगा तो गेहूँ के दाम कम हो जायेंगे। केवल इतना ही नहीं देश की रक्षा के लिये आजकल एक बहुत बड़ी सेना रखनी पड़ती है जो समाज के लिये अन्य उपयोगी कार्य में लायी जा सकती है। इस प्रकार के एक नहीं अनेक उदाहरण पाये जाते हैं जिनसे व्यर्थ व्यय होता है। समाजवादी व्यवस्था में ये व्यय बन्द हो जायेंगे।

आजकल बड़ी बड़ी कम्पनियों तथा बड़े बड़े राज्यों की प्रतिद्वन्द्विता के कारण समाज को बड़ी हानियां उठानी पड़ रही हैं। कम्पनियां अपने लाभ के लिए दूसरी कम्पनियों की अपेक्षा कम दामों में सामग्री बचना चाहती हैं और इसके लिये वे अमानुषिक कार्य कर डालती हैं जिससे समाज को हानि उठानी पड़ती है। कभी कभी ऐसा होता है कि एक कम्पनी दूसरी कम्पनी को नष्ट करने के लिए उसकी समस्त सामग्री को लेकर उसे हीन दशा में कर देती हैं और उसके पश्चात् उसे बाजार में रखती हैं और जो उसे लेता है वह हानि में रहता है। अतः लोग उस कम्पनी के बने हुए माल को घृणित दृष्टि से देखने लगते हैं। समाजवाद में भी प्रतिद्वन्द्विता चलेगी परन्तु इस प्रकार की नहीं कि उससे देश को हानि हो। परन्तु वह प्रतिद्वन्द्विता इस भांति चलेगी जिससे देश को लाभ हो। उदाहरण के लिए उत्पादक कार्यों के लिए प्रतिद्वन्द्विता चलेगी।

चतुर्थ--समाजवाद संसार की दुर्भिक्षता दूर करने के लिए आयोजनाएँ समाज के सन्मुख प्रस्तुत करता है। आधुनिक युग में कितने ही ऐसे योग्य पुरुष हैं जो आर्थिक विपत्ति के कारण उन्नति नहीं कर सकते। उनके आर्थिक संकट पैतृक होते हैं और समाज में उन्हें निर्धनता के कारण

स्थान नहीं मिलता । परन्तु समाजवाद समाज के सामने ऐसी व्यवस्था उपस्थित करता है कि उसमें प्रत्येक योग्य व्यक्ति को यथोचित स्थान प्राप्त होगा।

पञ्चम—समाजवादी व्यवस्था से हमारी सुषुप्त शक्ति का पुनर्जागरण होगा। आधुनिक व्यवस्था में तो अधिकांश मनुष्य अशिक्षित हैं और जो शिक्षित भी हैं उनको अनुकूल शिक्षा नहीं मिली है जिससे हमारी शक्ति अधिकांश सुषुप्त अवस्था में ही है। जब प्रत्येक को अपनी शक्ति का परिचय देने का अवसर मिलेगा तो उस समय समाज में आज से भी कहीं बड़े वैज्ञानिक तथा दार्शनिक दिखाई पड़ेंगे।

षष्ठम—समाजवादी व्यवस्था में हमारा कार्य बड़ी सुगमता से और कम समय में हो जायगा। हमें अधिक कार्य करने की आवश्यकता न पड़ेगी अधिकांश कार्य मशीनों द्वारा किया जायगा और जो समय तथा परिश्रम छोटी-छोटी योजनाओं को पूर्ण करने में लगता है वह लम्बी योजनाओं में नहीं लगेगा। खेती तथा अन्य उद्योग धन्धों पर राष्ट्र का अधिकार रहेगा। छोटे हलों के स्थान पर बड़े बड़े ट्रैक्टरों से जुताई होगी। जिस काम के लिए आज १०० आदमी लगे हुए हैं उसे मशीनों द्वारा समाजवादी व्यवस्था में केवल एक ही मनुष्य कर सकेगा। कार्य सभी के लिए उसकी बुद्धि तथा बल के अनुसार अनिवार्य होगा। इस प्रकार समाज की व्यवस्था में मनुष्य का समय बहुत बच जायगा। उसे अपनी जीविका केवल कुछ घंटों के काम करने से ही मिल जायेगी। शेष समय वह अन्य किसी उपयोगी कार्य में लगा सकेगा।

सप्तम—समाजवाद इस प्रकार एक सुन्दर तथा सुदृढ़ समाज की स्थापना करेगा। न तो उसमें कोई व्यक्ति आलस्य करेगा और न निष्क्रिय ही बनने पायेगा। इसके अतिरिक्त किसी को अत्यन्त कार्य भी न करना पड़ेगा। प्रत्येक के लिए उसकी शक्ति तथा योग्यता के अनुसार कार्य निश्चित हो जायगा। इस प्रकार सब को मानसिक शांति भी मिलेगी। आधुनिक समाज में क्या है? जो एक सच्चा सैनिक बन सकता है उसे दफ्तर का बाबू बनना पड़ता है और जो एक पुलिस का काम कर सकता है उसे एक शिक्षक बनना पड़ता है। इससे समाज में अत्यन्त असंतोष फैला हुआ है। समाज में कोई भी कर्मचारी अपने कर्तव्य का पालन सुचारु रूप से नहीं कर रहा है और न उस कार्य में उस मनुष्य की कोई रुचि ही होती है। इसके फलस्वरूप समाज को बड़ा कष्ट उठाना पड़ रहा है। जो जहां है वहीं चिन्तित और दुखी है।

सारांश यह है कि समाजवाद का अभिप्राय हानिकारक प्रतिद्वंद्विता का अन्त कर देना है। पूंजीवाद को समाप्त कर देना है और उसके स्थान पर उत्पादक यंत्रों का पुनर्वितरण करना है। इस भांति पैतृक अधिकारों की इति श्री हो जायगी।

समाजवाद की आलोचना तथा प्रत्यालोचना

(१) **आलोचना**—समाजवाद के आलोचक यह कहते हैं कि समाजवाद का अभिप्राय परिवर्धित कर्मचारी राज्य (extended bureaucracy) है। प्रत्येक वस्तु पर सरकार का अधिकार होगा। कोई भी वस्तु व्यक्तिगत संपत्ति नहीं होगी। प्रत्येक मनुष्य सरकारी कर्मचारी बन जायगा और प्रत्येक का कार्य सरकार द्वारा निश्चित कर दिया जायगा। इस प्रकार प्रत्येक के कार्य का फल भी सरकार द्वारा निश्चित किया जायगा।

प्रत्यालोचना—यद्यपि यह आलोचना सुन्दर है परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि समाजवादी प्रजातन्त्र में जो कुछ मनुष्य सीखे हैं वह पैतृक संपत्ति नहीं है। सरकार कोई शासन करने वालों की जाति नहीं है। उससे डरने की आवश्यकता क्या है? और दूसरे सरकार पर नियन्त्रण रखने के लिए अन्य संस्थाओं की वृद्धि हो रही है। सरकार भी एक प्रकार की संस्था है जिसे मनुष्य चलाते हैं। सरकार कोई बाहर की वस्तु नहीं है। अतः उससे डरने की भी कोई आवश्यकता नहीं है।

(२) **आलोचना**—कुछ आलोचक समाजवाद पर यह आक्षेप लगाते हैं कि वह हमें वर्ग-संघर्ष की शिक्षा देता है और यह निर्धनों का धनवानों पर एक प्रकार का आक्रमण है।

प्रत्यालोचना—वर्ग-संघर्ष साम्यवाद की शिक्षा है। समाजवाद की शिक्षा यह नहीं है। हां कुछ सीमा तक यह कहा जा सकता है कि यह निर्धनों का धनवानों पर एक प्रकार का आक्रमण है परन्तु समाजवाद पर यह आलोचना भी लागू नहीं होती क्योंकि समाजवाद समाज के हित के लिए है। यह समाज का अहित नहीं चाहता। प्रत्येक संपत्ति में इस धनहीन जनता का अधिकार है।

(३) **आलोचना**—कुछ समाजवाद के विरोधी समाजवाद पर यह आक्षेप लगाते हैं कि समाजवाद में मनुष्य स्वतः काम करना पसन्द न

करेगा। प्रत्यक यही चाहेगा कि वह कम-से-कम काम करे और अधिक-से-अधिक लाभ उठावे। इस प्रकार समाज का सारा काम विकृत रूप में होगा। न तो किसी कार्य को कोई प्रारंभ करेगा और न उसे किसी कार्य के करने में उत्साह ही रहेगा।

प्रत्यालोचना—परन्तु समाजवाद के ये आलोचक मनुष्य के स्वभाव को ठीक रूप से नहीं पहचान सके हैं। मनुष्य में सब से अधिक चाह समाज में सम्मान पाने की है। इसका ज्वलंत उदाहरण हमें आज भी देखने को मिलता है। कितने ही सैनिक अपनी वीरता का पदक प्राप्त करने के लिए अपने प्राण तक दे देते हैं। यदि सैनिकों में केवल यह भावना हो कि वह केवल अपने लाभ के लिए ही लड़ाई लड़ेंगे तो संभव है कि अपने प्राणों की वलि देकर कोई भी अपने देश की रक्षा न करे। अतः यह कहना कि समाजवाद में मनुष्य कम-से-कम कार्य करेगा और किसी कार्य को वह उत्साह के साथ नहीं करेगा नितांत भ्रममूलक है।

४—**आलोचना**—कुछ आलोचकों का यह मत है कि समाजवाद में उत्पत्ति कम हो जायगी।

प्रत्यालोचना—यह आक्षेप भी ठीक नहीं है। इसका कारण ऊपर दिया जा चुका है। मनुष्य संघ प्रेरणा से अधिक काम करेगा और आधुनिक यंत्रों द्वारा काम करने पर, जो सब के लिए अभी उपलब्ध नहीं है, उत्पादन आज से कई गुना बढ़ जायगा। और यदि हम इस बात को भी मान लें कि समाजवाद में उत्पादन कम हो जायगा तो भी अन्य कारणों के बल पर हम इसे ठुकरा नहीं सकते। उत्पादन की ही आयोजना तक हम अपने को आधुनिक युग में सीमित नहीं कर सकते। उत्पादन से भी आवश्यक आज के युग में वितरण की समस्या हो रही है। अतः यह आलोचना कि समाजवाद में उत्पादन कम होगा ठीक नहीं है।

५—**आलोचना**—समाजवाद के आलोचक समाजवाद की आयोजनाओं पर यह आक्षेप लगाते हैं कि बड़े बड़े उद्योग धन्धे जितनी भली विधि से व्यक्तिगत कम्पनियों द्वारा किये जा सकते हैं उतनी अच्छी तरह से सरकार द्वारा नहीं किये जा सकते।

प्रत्यालोचना—यह आक्षेप भी उचित नहीं है कारण यह कि सरकार एक बहुत बड़ी संस्था है और वह व्यक्तिगत कम्पनियों से अपेक्षा-

कृत किसी भी उद्योग को बड़े पैमाने पर चला सकती है। अतः जितना ही बड़ा उद्योग धंधा होगा उतना ही अधिक उसमें लाभ भी होगा। अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से तो सरकार द्वारा चलाये गये उद्योग-धंधे अधिक लाभप्रद होंगे। इसके अतिरिक्त सरकार की शक्ति के सम्बंध में स्पष्ट है कि सरकार में इतनी शक्ति है जिससे वह अपने कार्य के अतिरिक्त देश के अन्य व्यवसायों को भी अपना सके। इसके लिए तो हमें तर्क-वितर्क करने की भी आवश्यकता नहीं है। हमारे सन्मुख प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित हैं। पोस्ट आफिस की व्यवस्था, रेलवे का प्रबंध तथा नहरों का प्रबंध सरकार के ही हाथ में है और बड़ी सुन्दरता पूर्वक चलाये जा रहे हैं। क्या इसी प्रकार अन्य उद्योग धन्धे भी सरकार द्वारा नहीं चलाये जा सकते ?

६—**आलोचना**—समाजवाद कुछ लोगों के अनुसार मनुष्य को नीचे की ओर लाने का एक साधन है। अभिप्राय यह कि समाजवाद सबको निर्धन बनाना चाहता है।

प्रत्यालोचना—ऐसे लोगों के विचारों को क्या कहा जाय ? बेचारे इसके अतिरिक्त कुछ सोच ही नहीं सकते। ऐसा क्यों न सोचा जाय कि समाजवाद सब को ऊपर उठाने का एक साधन है। दूसरे यह कि समाजवाद किसी की योग्यता तथा शक्ति को कोई आघात भी नहीं पहुँचाता प्रत्युत उसे अपनी शक्ति तथा योग्यता बढ़ाने का अधिक अवकाश देता है। समाजवाद तो आशावादी सिद्धान्त है। उसे विश्वास है कि समाजवादी व्यवस्थाओं से मनुष्य के स्वभाव में परिवर्तन किया जा सकता है।

७—**आलोचना**—कुछ लोगों का कथन है कि मनुष्य धन से भी अधिक अधिकार की लालसा रखता है और इस मनोवैज्ञानिक तथ्य पर समाजवाद ध्यान नहीं देता। प्रत्येक को अपनी रुचि के अनुसार और अपनी आयोजना के अनुसार कार्य करने में अधिक आनन्द आता है। उसे अपनी रुचि के अनुसार काम करने में अधिक संतोष मिलता है। अतः व्यक्तिगत संपत्ति मनुष्य को अपना व्यक्तित्व प्रगट करने का सर्वोत्तम अवसर प्रदान करती है।

प्रत्यालोचना—व्यक्तित्व प्रगट करने के लिए अन्य भी उपाय हो सकते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि व्यक्तित्व को

प्रगट करने के लिए संपत्ति को ही साधन बनाया जाय। पंडित मदनमोहन मालवीय तथा महात्मा गांधी आदि ऐसे व्यक्ति हो गये हैं जिनका व्यक्तित्व त्याग से बना है। संपत्ति के द्वारा व्यक्तित्व को प्रगट करना तो समाज के लिए घातक है। कारण यह कि संपत्ति का प्रभाव दूसरे व्यक्ति के जीवन पर भी पड़ता है। एक के वैयक्तिक लाभ के लिए सैकड़ों के जीवन नष्ट हो सकते हैं।

समाजवाद के कुछ दोष—यद्यपि समाजवाद समाज में भविष्य के लिए अत्यन्त उपयोगी तथा क्रमिक विकास शील सिद्धान्त है परन्तु संसार के प्रत्येक वस्तु के गुण तथा दोष हुआ करते हैं। समाजवाद महान गुणों से सुसज्जित होते हुए भी दोष-रहित नहीं है। अभी हमने समाजवाद के आलोचकों का समाजवाद पर आक्षेप तथा समाजवादियों द्वारा उसका उत्तर उपस्थित किया है परन्तु अब हम समाजवाद के कुछ विशेष दोषों को स्पष्ट करने जा रहे हैं। यह दोष समाजवाद के मार्ग में प्रत्यक्ष बाधक हैं।

(१) समाजवाद केन्द्रीकरण का बड़ा पक्ष करता है। वह मनुष्य के प्रत्येक व्यवसाय पर सरकार का नियंत्रण चाहता है। इसका फल यह होगा कि सरकार के कार्य बहुत बढ़ जायँगे और सरकार इतने अधिक व्यवसायों पर पूर्ण रूप से नियंत्रण न कर सकेगी। सरकार के पास अभी जितने कार्य हैं उन्हीं का भार उठाना कठिन हो रहा है तो और कार्यभार वह किस प्रकार सहन कर सकेगी। यद्यपि पोस्टआफिस, रेलवे तथा नहरें सरकार द्वारा नियंत्रित हैं परन्तु इसका क्या प्रमाण है कि सरकार का नियंत्रण इन व्यवसायों पर बड़ा अच्छा है और कार्य बड़ी सुन्दरता से हो रहा है? दूसरा प्रमाण हमारे पास इंग्लैंड के पोस्टआफिस और तारघर का है जो एक कम्पनी की संरक्षिता में चल रहा है और बड़ी उत्तमता के साथ चल रहा है। यह संभव हो सकता है कि कार्यभार बढ जाने से समाजवादी राष्ट्र अपने ही भार से दब जाय। सरकार के कार्य के संचालन का जहां तक प्रश्न है समाजवाद आवश्यकता से अधिक आशावादी है।

(२) आधुनिक युग में मनुष्य का नैतिक विकास इतना नहीं हुआ है कि अपने स्वार्थों के लिए षड्यन्त्र न करे। जब कि मनुष्य आज-

कल अपने थोड़े से लाभ के लिए अपने भाई का गला काट सकता है तो क्या समाजवादी व्यवस्था होजाने पर मनुष्य का स्वभाव एकदम परिवर्तित हो जायगा। समाजवादी व्यवस्था में सभी देवता नहीं होंगे। उनमें भी क्रोध, लोभ, तथा मोह होगा। जब ऐसा है तो क्या मनुष्य उस समय समाज का भयानक अहित नहीं कर सकेगा? क्रोध में तथा असंतोष में मनुष्य यह भूल जाता है कि हम क्या करने जा रहे हैं। अतः समाजवादी व्यवस्था में जितने ही व्यवसायों का केन्द्रीकरण होगा उतने ही षड़यन्त्र तथा भ्रष्टाचार बढ़ेंगे।

(३) मनुष्य का स्वभाव जैसा आधुनिक युग में है उसे दृष्टि में रखते-हुए हम यह कह सकते हैं कि समाजवाद उन्नति के लिए अत्यन्त लाभकारी नहीं होगा। केवल आंशिक लाभ की संभावना की जा सकती है। उतना लाभ जितना कि समाजवादी बतलाते हैं होना अत्यन्त कठिन है। कारण यह है कि आज के युग का साधारण व्यक्ति संघहित की प्रेरणा से नहीं प्रेरित है वरन् उसे महान स्वार्थी भावनाएँ दबाये हुए हैं। आज का मनुष्य समाजवादी व्यवस्था में आलसी तथा स्थिर बन जायगा। उससे हम आशातीत फल की आशा नहीं रख सकते। वह स्वतः किसी कार्य का प्रारंभ नहीं करेगा। फलतः नवीन आवश्यकतायें नयी व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं पनप सकतीं।

(४) मनुष्य शक्तियों का एक भण्डार है। वह क्रियाहीन नहीं रह सकता। स्पर्धा उसकी प्रवृत्ति है। वह दूसरे की अपेक्षा अपने को अधिक सुखी रखने के लिए कोई न कोई मार्ग ढूंढ निकालेगा। जहां एक ने अपनी सुविधा का प्रबन्ध किया वहां अमानुषिक प्रतिद्वंद्विता प्रारम्भ हो जायगी और यह परिस्थिति समाजवाद के लिए अत्यन्त भयानक होगी।

भारतीय समाजवाद—भारतवर्ष सदैव से ही एक धर्म प्रधान देश रहा है। यह देश वह देश है जहां पर संसार के बड़े बड़े पुरुष उत्पन्न हुए। भौतिकवाद पर विचार करना भारतवर्ष में अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। वह साहित्य व्यर्थ समझा जाता था जिसमें राम-नाम न लिखा हो। वह जिह्वा व्यर्थ समझी जाती थी जिससे राम नाम न निकले। उस मनुष्य का जीवन निष्फल समझा जाता था जिसने भगवान का भजन न किया हो। "रामनाम के आलसी भोजन के हुसियार,

तुलसी ऐसे अधम को बार बार धिक्कार।" पढ़े-लिखे समुदाय म ईश्वर के विषय में बात चीत करना ही श्रेष्ठ पुरुष का लक्षण समझा जाता था। छोटे लोगों के लिए कुछ कथा वार्ता का सुन लेना ही उनके जीवन के उद्धार के लिए पर्याप्त था। सारा समाज चार वर्णों में तथा सारा जीवन चार आश्रमों में विभाजित था। प्रथम वर्ण के लोग ब्राह्मण कहलाते थे जो समाज के हित के लिए केवल चिन्तन ही किया करते थे। द्वितीय वर्ण के लोग क्षत्रिय थे जिनका कार्य समाज को बाह्य आक्रमणों से बचाना तथा समाज की आंतरिक व्यवस्था को ठीक रखना था। तीसरी श्रेणी के मनुष्य समाज की धन-धान्य से मदद करते थे और चौथी श्रेणी के लोग समाज की अन्य प्रकार की सेवा करते थे।

परन्तु अब युग परिवर्तित हो चुका है। लगभग एक हजार वर्ष तक यहां विदेशियों का प्रभुत्व रहा है। इस पराधीनता में प्राचीन सामाजिक व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो चुकी है। हां देश की धार्मिक कट्टरता ने अपने पुराने संस्कृति के कुछ चिन्हों को बचा रखा है। हमारे समाजमें नाम के लिए अब भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र उपस्थित हैं परन्तु समाज का वह आधार जिस पर वर्ण व्यवस्था बनायी गयी थी टूट चुकी है। अब तो ब्राह्मण लालची, क्षत्रिय देशद्रोही, वैश्य अपनी ही पेट पूजा का ध्यान रखने वाले तथा शूद्र हठधर्मी हो गये हैं। आधुनिक काल में सब अपने उदर-पोषण में संलग्न रहते हैं।

दूसरे आधुनिक आविष्कारों ने संपूर्ण संसार को एक सूत्र में जोड़ दिया है। प्रत्येक देश की संस्कृति तथा सभ्यता आपस में मिल गयी है। कोई भी देश अपने को अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव से अलग नहीं रख सकता। इसलिए भौतिकवादी जगत का भारतवर्ष पर बड़ा प्रभाव पड़ रहा है और हमारा जीवन विषमताओं और कृत्रिम असमानताओं से दूषित होता जा रहा है। जैसे जैसे औद्योगीकरण का अधिकाधिक विकास होता जायगा वैसे वैसे भारत भी यूरोप बनता जायगा। आजकल भारत में पूंजीवाद का आतंक छाया हुआ है। किसान हल चलाता है और भूखों मरता है परन्तु कर वसूल करने के ठेकेदार आनन्द उड़ा रहे हैं। भारतका मजदूर सायंकाल को बड़ी कठिनाई के साथ अपना पेट भरता है परन्तु उसी के परिश्रम की रोटी खानेवाले मिनिस्टरों का निमंत्रण चलाते हैं जिसमें लाखों का व्यय होता है। मिनिस्टर लोग भी, जो उन्हीं किसानों तथा श्रमिकों के कारण इतने ऊँचे पद के अधिकारी बनते हैं, क्या

दावत खा-खाकर यह समाज की सेवा करते हैं? मंत्री लोगों को कौन कहे छोटे कर्मचारी भी अपने पद से लाभ उठा रहे हैं।

इसलिए यह प्रश्न उपस्थित होता है कि भारत की इस परिस्थिति को सुधारने के लिए क्या करना चाहिए? इस समय भारत में तीन विचार धाराएँ काम कर रही हैं। प्रथम गांधीवादी विचारधारा जिसका अभिप्राय यह है कि भारत की संस्कृति के लिए यूरोपीय समाज की रूप-रेखा उचित न होगी अतः भारत की प्राचीन वर्ण व्यवस्था का पुनर्निर्माण किया जाय। दयानन्द सरस्वती इस विचारधारा के आदि प्रवर्तक हैं। दूसरी विचारधारा भारत में समाजवाद का समर्थन करती है। उसकी दृष्टि में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना द्वारा ही वर्तमान समस्याओं का समाधान हो सकता है। इसके समर्थक श्री जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस तथा आचार्य नरेन्द्र देव आदि हैं। तीसरी विचार धारा पूंजीवाद का समर्थन करती है परन्तु यह विचारधारा पनप नहीं रही है और इसका कोई महत्व नहीं है।

समाजवादी विचारधारा तथा गांधीवादी विचारधारा में कुछ बातों में अन्तर है और कुछ बातों में समानता है। गांधीवाद का अभिप्राय यह है कि मानव समाज का उदय होना चाहिए। मानवता को उत्कर्ष मिलना चाहिए। समाज कभी वर्गविहीन नहीं हो सकता है अतः वर्ग के रहते हुए भी मनुष्य का आर्थिक शोषण नहीं होना चाहिए। परन्तु समाजवाद एक वर्गविहीन समाज बनाना चाहता है। समाजवाद राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का समर्थन करते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रवल समर्थक है। गांधीवाद तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का समर्थक है ही। गांधीवाद तथा समाजवाद दोनों ही पूंजीवाद का अन्त करना चाहते हैं।

परन्तु दोनों के मार्ग में बड़ा अन्तर है। एक आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर निर्भर है और दूसरा उग्र भौतिकवादी है। एक अहिंसा का विशेष ध्यान रखता है परन्तु दूसरा अहिंसा को उतना महत्व प्रदान नहीं करता। इसका अर्थ यह नहीं समझ लेना चाहिए कि समाजवाद हिंसा का प्रचारक है वरन् बात ऐसी है कि यदि समाज सुधार में हिंसा की आवश्यकता पड़े तो समाजवादी सिद्धान्त के अनुसार उसमें कोई दोष नहीं है परन्तु गांधीवाद के अनुसार हिंसा कभी भी नहीं हो सकती। इतना ही नहीं बल्कि मन, कर्म तथा बचन से भी हिंसा नहीं होनी चाहिए।

गांधीवाद तथा समाजवाद में जो विशेष अन्तर है वह यह है कि माजवाद केन्द्रीकरण का समर्थन करता है और गांधीबाद विकेन्द्रीकरण

का समर्थक है। गांधीवाद का अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपनी आवश्यकता की वस्तु स्वयं उत्पन्न करे और अपनी आवश्यकता को जितना कम कर सके करे। समाजवाद इस सिद्धान्त का विरोधी है। समाजवाद के अनुसार मशीनों का उपयोग जहां तक हो सके वहां तक किया जाना चाहिए जिससे मनुष्य कम-से-कम समय में अधिक-से-अधिक पदार्थ उत्पन्न कर सके।

गांधीवाद त्याग, अहिंसा, सत्य तथा आत्मबल को अधिक उत्तम समझता है परन्तु समाजवाद के लिए यह कोई आवश्यक वस्तु नहीं है। गांधी जी ने लिखा है—"मैं चाहता हूँ कि हिन्दोस्तान में प्रत्येक निवासी को खाना और कपड़ा मिले, जिसका अभिप्राय है कि पैदावार के साधनों पर पूरे समाज का अधिकार रहे। वे उसे उसी तरह मुक्त और स्वच्छंद प्राप्त हों जसे वायु और जल। उनका उपयोग दूसरे के शोषण के लिए बिल्कुल बन्द कर दिया जाय।" इसी आधार पर आज के समाजवादी यह घोषित करते हैं कि समाजवाद में तथा गांधीवाद में कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

जब तक भारतवर्ष को स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त थी गांधीवादी तथा समाजवादी दोनों दलों ने एक होकर काम किया। दोनों दलों का लक्ष्य स्वतन्त्रता प्राप्त करना था अतः उस समय आपस में विरोध नहीं प्रगट होने दिया। परन्तु १५ अगस्त सन् १९४७ में जब भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हो गयी तो उन दोनों दलों को एक साथ काम करने में कठिनाई होने लगी और कुछ ही दिन पश्चात् समाजवादियों न गांधीवादियों का साथ छोड़ दिया। गांधीवादी उस समय शक्तिशाली थे। अतः गांधीवादी सरकार नियुक्त रही परन्तु उन्होंने अपन को गांधीवादी नाम नहीं दिया न उन्होंने गांधी जी के किसी सिद्धान्त को ही अपनाया। उनमें से बहुतों ने समाजवादी सिद्धान्त अपनाने की घोषणा की परन्तु उसे कार्य-रूप में बहुत कम परिणत कर पाये हैं। ऐसे अवसर पर बहुत से समाजवादी नेताओं ने सरकारी पद से हटना उचित न समझा और आज भी वे सरकार के साथ काम कर रहे हैं। इसके ज्वलन्त उदाहरण माननीय सम्पूर्णानन्द जी हैं। यह पहिले समाजवादी विचार के थे परन्तु अब उस दल के साथमें रह कर कार्य नहीं कर रहे है। पता नहीं फिर कभी वे समाजवादी दल के साथ रहकर कार्य करेंगे अथवा नहीं।

गांधीवाद और समाजवाद--

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।

संसार का परिवर्तन क्रम सदैव समान गति से नहीं चलता। कभी परिवर्तन द्रुत और कभी मन्द गति से होता है। जब कभी समाज में अस्त-व्यस्तता छा जाती है, मानवजाति दुःख-ग्रस्त हो जाती है, समाज में किसी प्रकार का नियम नहीं चल पाता, मनुष्य अत्यन्त दुखी तथा किंकर्तव्य-विमूढ हो जाता है तब किसी न किसी महान् व्यक्ति का स्वतः उदय होता है। वह समाज में एक क्रांतिकारी परिवर्तन का नेतृत्व करता है। महात्मा जी हमारे ऐसे ही व्यक्तियों में से एक थे। महात्मा जी का जन्म एक पराधीन देश में हुआ था। उनकी मृत्यु के कुछ महीनों पहिले तक भारत की पवित्र भूमि विदेशी आततायियों द्वारा पदाक्रांत थी। उन विदेशियों ने भारत के शोणितों का शोषण कर इसे दुर्भिक्ष बना डाला था। जो भारत एक समय गौतम के उपदेश का संसार में प्रचार करता था, संसार को सत्य तथा अहिंसा की शिक्षा देता था, जो भारत किसी समय संसार का मुकुट कहा जाता था, जो भारत किसी समय संसार का नेतृत्व करता था, जो भारत किसी समय संसार को शिक्षा तथा संस्कृति का दीप दिखाता था, दुख है कि वही भारत एक रोटी के टुकड़े के लिए दूसरे के सामने हाथ पसार रहा था। दूसरे से तन ढकने के लिए वस्त्र की भिक्षा मांग रहा था। बात बात में दूसरों का मुंह ताकना पड़ रहा था। जो भारत राणा सांगा तथा राणा प्रतापसिंह ऐसे वीरों का उत्पन्न करने वाला था वही भारत आज के कुछ दिन पूर्व गीदड़ों का शावक बन गया था। भारत इतना निर्बल हो गया था कि उसमें शस्त्र उठाने की शक्ति न रह गयी थी। ऐसे समय में परिवर्तन अवश्यम्भावी था। इस परिवर्तन का नेतृत्व करने महात्मा जी रंगमंच पर आये। सशस्त्र क्रांति संभव न थी। गांधी जी ने आत्मबल का सहारा लिया। सत्य, अहिंसा तथा सत्याग्रह उनके शस्त्र बने। ये शस्त्र संसार के लिए अपूर्व थे। वे इसके घात को न समझ सके। उनकी तोपें तथा तलवारें इस नवीन शस्त्र के सामने निष्फल हो गयीं और भारत स्वतन्त्र हो गया।

महात्मा जी का प्रभाव केवल भारत में ही नहीं था। उन्होंने संग्राम का ढंग ही बदल दिया। आजतक संसार में जितने क्रांतिकारी परिवर्तन हुए थे व केवल भयंकर विनाशकारी शस्त्रों द्वारा हुए थे परन्तु भारत की स्वतन्त्रता का संग्राम शांति के शस्त्र द्वारा हुआ। वह प्रेम के अस्त्र द्वारा पूर्ण हुआ। गांधी जी की संसार को यही देन है। गांधी जी के पूर्व राजनीतिक संसार छल, द्वेष, आडम्बर तथा हिंसा का भण्डार मात्र था। सब से बड़ा राजनीतिक ज्ञाता वही समझा जाता था जो दूसरे को अधिक से अधिक अपने मायाजाल में जकड़ सकता था परन्तु गांधी जी ने राजनीतिक संसार को उलट दिया। उन्होंने प्रेम, सत्य तथा अहिंसा को अन्तर्राष्ट्रीय महत्व दिया। गांधी जी की देन केवल राजनीतिक ही नहीं वरन् धार्मिक भी है। महात्मा जी सब से पहिले धार्मिक थे फिर और कुछ। उनके सारे सिद्धान्त आध्यात्मिकता से परिपूर्ण थे। समाज को उनकी धार्मिक देन राजनीतिक देन की अपेक्षा अधिक है। हम गांधी जी के किसी भी राजनीतिक सिद्धान्त को नहीं समझ सकते जब तक कि हम उनके धार्मिक विचारों को पूर्णरूप से न समझ लें। गांधीजी अद्वैतवादी तथा आवागमन पर विश्वास करने वाले थे। वे प्रत्येक कार्य ईश्वर का भजन समझकर करते थे। उन्हें पूर्ण विश्वास होगया था कि आत्मा का नाश नहीं होता केवल शरीर परिवर्तित होता रहता है। उन्हें श्रीमद्भगवद्गीता पर बड़ा विश्वास था और उन्होंने उसका अनुवाद भी किया है। अनाशक्तियोग नामक ुस्तक में वे लिखते हैं कि जब कभी हमें किसी प्रकार की शंका होती है तो मैं गीता की शरण में जाता हूँ। और मेरी सारी शंकाओं का समाधान वहीं होजाता है। गीता के अनुसार व कर्मयोगी भक्त कहे जा सकते थे। उन्होंने अपना जीवन गीता के बारहवें अध्याय के अनुसार बनाया था जिसके श्लोक नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं।

श्लोक—योन हृष्यति न द्वष्टि न शोचति न कांक्षति।
शुभाशुभ परित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥

अर्थ—जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोच करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ संपूर्ण कर्मों के फल का त्यागी है वह भक्ति-युक्त पुरुष मेरे को प्रिय ै।

श्लोक—समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्ण सुख दुःखपु समः सङ्गविवर्जितः ॥

अर्थ— और जो पुरुष शत्रु-मित्र में और मान-अपमान में सम है तथा सर्दी-गर्मी और सुख -दु:खादि द्वंद्वों में सम है और (सब संसार में) आशक्ति से रहित है।

श्लोक—तुल्यनिन्दास्तुतिमौर्नी संतुष्टो येन-केन चित् ।
अनिकेत: स्थिर मतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नर: ॥

तथा जो निन्दा स्तुति को समान समझने वाला और मननशील है एवं जिस किस प्रकार से भी शरीर का निर्वाह होने में सदा ही सन्तुष्ट है और रहने के स्थान में ममता से रहित है वह स्थिर बुद्धिवाला भक्तिमान पुरुष मेरे को प्रिय है।

इसी विश्वास पर गांधी जी ब्रिटिश सरकार की कठिन-से-कठिन यातनाओं को भोग सके और उन्हें तनिक भी कष्ट न हुआ। इसी विश्वास के बल पर वे अपने से विमुख को भी हृदय से प्रेम करते थे। जिन्ना साहब से, जो उनके घोर विरोधी थे, गांधी जी ने प्रेम किया। कहां तक कहा जाय उन्होंने अपने हत्यारे को भी क्षमा प्रदान किया।

इस प्रकार गांधी जी ने एक नये दर्शन का प्रतिपादन किया जो संसार के लिए अपूर्व था। इस दर्शन को हम गांधीवाद के सिवा अन्य कुछ नहीं कह सकते। यद्यपि गांधी जी स्वयं यह कहते हैं कि गांधीवाद जैसी कोई भी वस्तु नहीं है परन्तु गांधी जी ने जिस मत का प्रतिपादन किया वह गांधीवाद के सिवा अन्य कुछ भी नहीं कहा जा सकता। गांधीवाद के मूलतत्व सत्य और अहिंसा हैं। गांधी जी का सत्य एक आदर्श है जिसकी प्राप्ति के लिए अहिंसा एक मात्र साधन है। निष्क्रिय प्रतिरोध, सविनय अवज्ञा और असहयोग यह तीनों सत्याग्रह के ही अंग हैं।

निष्क्रिय प्रतिरोध के संबंध में गांधी जी स्वयं लिख गय हैं कि निष्क्रिय प्रतिरोध कष्टसहन द्वारा अधिकार का साधन है। यह शस्त्रों द्वारा प्रतिरोध के विपरीत है। "जब मैं किसी कार्य को करने से अस्वीकार करता हूँ जो मेरी आत्मा के विरुद्ध है तो मैं आत्म शक्ति का प्रयोग करता हूँ। आत्म-कष्ट ऐसे अवसरों पर अवश्यम्भावी है।"

गांधी जी का विचार अहिंसा के संबंध में यह है कि अहिंसा एक सबल पुरुष का शस्त्र है निर्बल का नहीं। बलवान आत्मा ही अहिंसा का प्रयोग कर सकती है। निषेधात्मक रूप में अहिंसा का यह अर्थ है कि किसी भी व्यक्ति को मानसिक तथा शारीरिक कष्ट न दिया जाय। किसी व्यक्ति के प्रति द्वेषभावना होना भी हिंसा है। विधेयात्मक रूप में अहिंसा का

अर्थ है प्रेम। सच्चा अहिंसावादी उस व्यक्ति के प्रति जो अपने को शत्रु समझता है, प्रेम का व्यवहार करता है घृणा का नहीं, ऐसी सक्रिय अहिंसा में सत्य और अभय होता है। जिस व्यक्ति से प्रेम किया जाता है उसे धोखा नहीं दिया जा सकता। अतः अहिंसा बिना सत्य तथा अभय के नहीं हो सकती और यह दोनों ही बलवान् पुरुष ही कर सकते हैं। सत्याग्रह के लिए अहिंसा परमावश्यक है और इसी प्रकार सविनय अवज्ञा में भी अहिंसा ही आधार है।

गांधी जी ने केवल राजनीति में ही नहीं वरन् अर्थनीति में भी आत्मबल का सहारा लिया है। विदेशी व्यापार के शोषण से बचने के लिए उन्होंने सूत कातने तथा नमक बनाने का आग्रह किया। यद्यपि सूत कातने की नीति आधुनिक अर्थनीति के विपरीत थी, उसे सफलता मिलना बड़ा कठिन था परन्तु गान्धी जी के आत्मबल ने उसे सफलीभूत कर दिया। केवल इस चर्खा-नीति ने विदेशी कम्पनियों के व्यापार को बहुत बड़ा धक्का पहुँचाया। खादी ने भारत को केवल आर्थिक ही सहायता नहीं पहुँचायी बल्कि खादी ने धनी तथा निर्धन का अन्तर कम कर दिया। उसने कृत्रिम तथा ठाट-बाट के जीवन में क्रांति पैदा कर दी। सामाजिक जीवन के मूल में जो आधुनिक यंत्रों के कारण संघर्ष और प्रतियोगिता की वृद्धि हो रही थी उसे खादी ने आगे बढ़ने से रोका। खादी ने पूंजीपतियों के शोषण को रोका।

यह ठीक है कि खादी ने उस समय भारत का बड़ा उपकार किया परन्तु यह योजना तभी तक सम्भव थी जब तक भारत परतंत्र था। कारण यह है कि खादी की नीति से स्वतन्त्र भारत की उत्पादन शक्ति का ह्रास ोगा और अब उस नीति का अनुसरण करना भारत के हित के लिए घातक सिद्ध होगा।

गांधी जी की प्रतिभा बहुर्मुखी थी। वह केवल भारतीय राजनीतिक तथा आर्थिक आन्दोलनों तक सीमित न थी। गांधी जी ने भारतीय संस्कृति में भी एक विप्लव खड़ा कर दिया। वह शूद्रों की दयनीय दशा से बड़े द्रवित थे अतः उन्होंने उनके उत्थान का भी व्रत लिया। वे भंगी ोले में रहते थे। उन्हीं के साथ उठते तथा बैठते थे। उन्हें हर प्रकार की शिक्षा देते थे। वे उन्हें हरिजन तथा हरि-भक्त के नाम से पुकारते थे। उनके साथ भजन-भाव भी करते थे। उनका भारत के उच्च वर्ण के लोगों से यही अनरोध था कि वे उनके साथ प्रेम का वर्ताव करें। यद्यपि अछूतो-

द्धार के आदि प्रवर्तक स्वामी दयानन्द जी थे परन्तु गांधी जी ने उस आन्दोलन को सक्रियता तथा जीवन प्रदान किया। फलतः हरिजनों की दशा धीरे धीरे सुधरने लगी और आशा है कि कुछ दिनों बाद पूर्णरूपेण सुधर जायगी।

गांधी जी ने भारतीय कृषकों के निस्तेज जीवन को चेतना प्रदान की। ग्रामोद्योग का पुनरुद्धार, गांधीवाद के रचनात्मक कार्यक्रम का दूसरा महत्वपूर्ण अंग है। बम्बई कांग्रेस ने ग्रामोद्योगों के उद्धार के लिए एक प्रस्ताव पास किया जिसके नेता श्री जे० सी० कुमारप्पा थे। यह प्रस्ताव गांधी जी के तत्वावधान में पास किया गया था और इसके द्वारा अखिल भारतीय ग्रामोद्योग संघ स्थापित हुआ। यह संघ अपने जन्मकाल से ही ग्रामोद्योगों के लिए सतत् परिश्रम कर रहा है। ग्रामोद्योगों में अनेक प्रकार के स्थानीय महत्व के उद्योगों का सुधार किया गया। ग्रामोद्योग आन्दोलन ने ग्रामीणों के सुषुप्त जीवन को पुनर्जीवन प्रदान किया। उनमें नये उत्साह का संचार हुआ।

इसके अतिरिक्त गांधीजी ने भारतीय शिक्षापद्धति में सुधार किया। उनका विचार था कि भारतीय शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी के स्थान पर हिंदुस्तानी हो। यह विषय बड़ा गहन था। भारत में अनेक स्थानीय भाषाएँ प्रचलित थीं और गांधी जी के इस विचार की अनेक आलोचनाएँ तथा प्रत्यालोचानाएँ हो रही हैं। अब भी इस समस्या का पूर्णरूप से समाधान नहीं हुआ है। गांधी जी ने भारतीय कला कौशल की उन्नति के लिए स्कूलों में बेसिक शिक्षा की आयोजना बनायी। संयुक्तप्रान्त में यह शिक्षा कुछ अंश में सफल हुई परन्तु अन्य प्रान्तों में यह आयोजना सफल न हो सकी।

साम्प्रदायिक वैषम्य भारत की उन्नति का सदैव से कंटक रहा है। भारतवर्ष जैसे देश में सब कुछ किया जा सकता है परन्तु यहां से साम्प्रदायिक वैषम्य नहीं हटाया जा सकता। कबीरदास जी तथा गुरू नानक आदि इस वैषम्य को मिटाने का प्रयत्न आज के बहुत दिन पूर्व कर चुके थे। परन्तु उनको सफलता न मिली। सफलता मिलने को कौन कहे? उन्होंने नये सम्प्रदायों का निर्माण कर दिया। बड़े ही दुःख की बात है कि इसी साम्प्रदायिकता ने महात्मा जी के भी प्राण ले लिए। वे हिंदू-मुसलमान समस्या को न सुलझा सके।

इस प्रकार यदि हम देखें तो पता चलेगा कि गांधीवाद एक व्यापक विचारधारा तथा एक कार्यप्रणाली है जिसका विकास महात्मा गांधी के व्यक्तित्व पर निर्भर है। गांधीवाद में निश्चित तथा स्पष्ट सिद्धान्तों की

अपक्षा कार्यप्रणाली का महत्व अधिक है। गांधीवाद तो वस्तुतः उनके जीवन तक ही सीमित था परन्तु अब भी उनके शिष्य उसे प्रतिष्ठित कर रहे हैं।

समाजवाद का मूल्य—जिस प्रकार पहले भारत में स्वतन्त्रता का नाम लेने पर लोगों को नाना प्रकार की यातनाएँ भोगनी पड़ती थीं उसी प्रकार आज समाजवाद तथा साम्यवाद का नाम लेने पर लोगों को यातनाएँ भोगनी पड़ रही हैं। कहां तक कहा जाय-अमेरिका के लाज-ऐंजिल्स के विश्वविद्यालय ें प्रोफेसर हेरोल्ड लास्की को भाषण देने से वंचित कर दिया गया। हो सकता है कि समाजवाद का युग अभी कुछ दिन पश्चात् आये परन्तु यह आन्दोलन प्रत्येक समाज तथा राजनैतिक संस्था के लिए उपयोगी है। यद्यपि इसमें प्रत्यक्ष भलाई अधिक नहीं प्रतीत होती परन्तु परोक्षरूप से इसमें अनकों भलाइयां हैं।

इस आन्दोलन ने समाज की पहली भलाई यह की है कि विदेश में श्रमिकों तथा किसानों को पूंजीपतियों तथा भूपतियों के हथकण्डों से मुक्ति मिली। श्रमिकों तथा कृषकों के संघ बने और उन्होंने संगठित रूप से अपनी मांगों को सरकार के सम्मुख उपस्थित किया। उनकी मांग को सरकार ने विवश होकर पूर्ण किया। इस आन्दोलन के पूर्व फ्रांस तथा रूस के कृषकों तथा श्रमिकों पर बराबर अत्याचार किये जाते थे। किसानों को, सरकारी पशुओं को अपने उद्यानों से हटाने पर दण्ड दिया जाता था। श्रमिकों के ऊपर से यह विपत्ति समाजवादी आन्दोलन ने ही हटायी।

समाजवाद को दूसरा श्रेय यह है कि इस आन्दोलन ने जनता में त्याग की भावना उत्पन्न की। लोगों में समाज के लिए प्रेम उत्पन्न हुआ। समाज में एक प्रकार की जागृति फैली जो भिन्न भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रूप में पायी जाती है।

तीसरे इस आन्दोलन ने यह स्पष्ट कर दिया कि आध्यात्मिक उन्नति के लिए हमें भौतिक शक्तियों की आवश्यकता है। भौतिक शक्ति के बिना आध्यात्मिक विकास पूर्णरूप से नहीं हो सकता। समाजवादी आन्दोलन के कारण व्यक्तिवादी आन्दोलन की प्रगति स्थगित हो गयी और व्यक्तिवादी आन्दोलन की एक निश्चित सीमा निर्धारित हो गयी।

चौथे समाजवाद यह स्पष्टरूप से घोषित करता है कि मनुष्य परिस्थितियों का दास है। कभी कभी मनुष्य को परिस्थितिवश ऐसे भी कार्य करने पड़ते हैं जो उसकी च्छा के विरुद्ध होते हैं। उदाहरण के

लिए सन् १९४२ ई० में कोई भी भारतीय नवयुवक सरकारी सेना में नहीं जाना चाहता था परन्तु परिस्थितिवश भारत के अनेक नवयुवकों ने सरकारी सेना में भर्ती होना स्वीकार कर लिया।

पांचवें भारत जैसे देश के लिए जहां मनुष्य उपाधियों पर लट्टू होते हैं समाजवाद बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा। इसके अतिरिक्त आज के प्रजातन्त्र राष्ट्रों के लिए भी यह आन्दोलन अत्यन्त उपयुक्त होगा। बिना समाजवादी व्यवस्था के प्रजातन्त्र कुछ भी महत्व नहीं रखता।

छठें समाजवाद के आन्दोलन ने समाज ँ स प्रेरणा को जन्म दिया कि जब तक समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति न हो जाय तब तक कोई भी व्यक्ति विश्राम न करने पाये। सभी समाज के सेवक बनें।

इस प्रकार समाजवाद आधुनिक युग के सम्मुख भविष्य के लिए एक आदर्श प्रस्तुत करता है। इस आन्दोलन की वास्तविकता में यदि कोई कुछ सन्देह करता है तो भले ही करे परन्तु भविष्य के लिए यह आन्दोलन बड़ा ही उपकारी होगा।

बिशष अध्ययन के लिये देखिय:—

रौबर्ट फ्लिंट—सोशलिज्म

कार्ल मार्क्स—डास कैपीटल

जी० डी० एच० कोल— { दा वर्ल्ड आफ लेबर / ह्वाट मार्क्स रियली मेन्ट }

प्रिंस क्रोपोटकिन—दॉ ग्रेट फ्रेंच रिवोल्यूशन

सिडनी बेब— { हिस्ट्री आफ ट्रेड यूनियनिज्म एन्ड इन्डसट्रियल डिमांक्रेसी }

यच० स्पेंसर— { सोशल स्टडीज / दॉ मैन वरसस दॉ स्टेट }

० स्पारगो—कार्ल मार्क्स, हिज लाइफ एन्ड वर्क्स

० आर० ए० ऐलीमैन—दॉ इकनामिक इन्टरप्रटेशन आफ हिस्ट्री

० आर० मक्डोनल— { सोशलिज्म एन्ड गवर्नमेन्ट / ॉ सोशलिज्म मूवमेन्ट }

० किर्कुप—हिस्ट्री आफ सोशलिज्म

आर० इन्जर––माडर्न सोशलिज्म
एफ० एन्जिलस––सोशलिज्म, यूरोपियन ऐन्ड साइंटिफिक
मार्क्स एन्ड एफ० एन्जिलस––दॉ कम्यूनिस्ट मैनीफेस्टो
यल० बी० वाउडिन––दॉ थ्योरटिकल सिस्टम आफ कार्ल मार्क्स
मैक्स वयर–– हिस्ट्री आफ ब्रिटिश सोशलिज्म
दॉ लाइफ आफ कार्ल मार्क्स
समाज विज्ञान
समाजवाद और गांधीवाद

अध्याय १६

साम्यवाद (Communism)

जीव-विज्ञान के अध्ययन से प्रतीत होता है कि प्राणीमात्र के जीवन का लक्ष्य मानसिक उन्नति है। संसार का प्रत्येक प्राणी मानसिक उन्नति का प्रयत्न कर रहा है। आधुनिक सभ्यता मनुष्य के आदिकाल की उन्नति का फल है। मनुष्य ने आदिकाल से सतत् परिश्रम किया जिसके फलस्वरूप हमें आधुनिक युग का चमत्कार दृष्टिगोचर हो रहा है। आज के नवीन यंत्रों का बीजारोपण आदिकाल में ही हो चुका था। जैसे जैसे मनुष्य के मस्तिष्क का विकास होता जा रहा है वैसे वैसे उसकी सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक समस्यायें भी जटिल होती जा रही हैं। आदिकाल में मनुष्य की समग्र समस्याएँ केवल उसके शरीर तक सीमित थीं। परन्तु जैसे जैसे उसका विकास होता गया वैसे वैसे उसका सम्पर्क अन्य पुरुष से भी होता गया। उसी के फलस्वरूप आज के युग में हम यह देख रहे हैं कि कोई भी मनुष्य समाज से अलग रहकर जीवित नहीं रह सकता। मनुष्य जन्म से ही किसी न किसी समाज का सदस्य होता है। जन्म से ही वह पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी होता है। जन्म से ही उसे किसी न किसी धर्म और देश का सदस्य होना पड़ता है। जन्म से ही मनुष्य को सामाजिक बन्धनों तथा नियमों को मानना पड़ता है। वह जिस समाज में रहता है उसी के अनुकूल उसकी शिक्षा तथा दीक्षा भी होती है। वह किसी भी कुल का क्यों न हो उसे पाठशाला के नियमों को मानना पड़ेगा। वह गुरू की आज्ञा की अवहेलना करके पाठशाला में शिक्षा नहीं प्राप्त कर सकता। धीरे धीरे सारा संसार एक सूत्र में बंधता चला जा रहा है। आज के ६०० वर्ष पूर्व अमेरिका को कौन जानता था? वहां की सभ्यता हमारे संसार में क्या महत्व रखती थी? अफरीका तथा आस्ट्रेलिया आदि प्रदेशों का उन दिनों क्या महत्व था? परन्तु वही देश आज संसार की महत्वपूर्ण शक्तियों पर अधिकार रखते हैं। संयुक्तराष्ट्र अमेरिका का राष्ट्रपति आज संसार की शक्तियों पर अपना प्रभुत्व रखता है। संसार के भोजन की समस्या आज संयुक्तराष्ट्र अमेरिका के हाथ में है।

जैसे जैसे हमारी सामाजिक, राष्ट्रीय तथा आर्थिक समस्याएँ जटिल होती जा रही हैं वैसे वैसे उनको सुलझाने के लिए नये नये सिद्धान्तों तथा मतों का प्रतिपादन भी होता जा रहा है। भिन्न भिन्न समस्याओं के लिए भिन्न भिन्न मत तथा वाद उपस्थित किये जा रहे हैं। यदि हम आज के युग को वादों का युग कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। किसी विद्वान का यह भी कहना है कि आधुनिक युद्ध वादों का युद्ध है। जब एक समुदाय के आदर्श दूसरे समुदाय के आदर्श से भिन्न होते हैं और आदर्शों की भिन्नता के कारण स्वार्थों में भी भिन्नता आजाती है जिसका फल युद्ध होता है। आधुनिक युग में अनेक वादों का जन्म हो चुका है जिनमें प्रमुख साम्यवाद, अराजकवाद, बहुलवाद, एकतावाद, फासीवाद, नार्जीवाद बोल्शेविक मतवाद, साम्राज्यवाद और संघवाद हैं। इन सभी वादों में जो अत्यन्त प्रगतिशील वाद हैं वह है साम्यवाद। अतएव इसे प्रगतिवाद भी कहते हैं।

साम्यवाद--संभवतः आधुनिक युग का कोई भी शिक्षित व्यक्ति साम्यवाद के नाम से अपरिचित न होगा। प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति साम्यवाद की रूपरेखा का ज्ञान रखता है। परन्तु यदि किसी से पूछा जाय कि साम्यवाद की परिभाषा क्या है तो संभव है बड़ा से बड़ा विद्वान उत्तर देने में असमर्थ होगा। साम्यवाद इतना व्यापक होते हुए भी परिभाषित नहीं है और न इसकी कोई परिभाषा की ही जा सकती है। साम्यवाद की परिभाषा न होने के कारण हैं। साम्यवाद एक परिवर्तनशील वाद है। इसमें प्रगति है। देश तथा परिस्थिति के अनुकूल इसकी रूपरेखा बदल जाती है। साम्यवाद प्लेटो के समय में कुछ और था और अब कुछ और होगया है। साम्यवाद कार्ल मार्क्स के समय में कुछ था परन्तु अब कुछ और ही है। कार्ल मार्क्स जो साम्यवादी सिद्धान्तों का जन्मदाता कहा जाता है, और लेनिन तथा स्टेलिन के सिद्धातों में बड़ा अन्तर आ चुका है।

फिर भी कुछ विद्वानों ने साम्यवाद की परिभाषा करने का पूर्ण प्रयत्न किया है। निम्नांकित कुछ उदाहरण उद्‌धृत किये जा रहे हैं।

राबर्ट फ्लिन्ट महोदय के विचार से साम्यवाद समाजवाद की एक प्रमुख विचारधारा है। इसमें सन्देह नहीं कि साम्यवाद का जन्म समाजवाद से ही हुआ है परन्तु साम्यवाद और समाजवाद में आकाश और पाताल का अन्तर है। साम्यवाद क्रांतिवादी है परन्तु समाजवाद क्रमिक विकासवादी है। समाजवाद का यह विश्वास है कि शासनसत्तापर समाज-

वादियों को वैधानिक रूप से अधिकार मिल जायगा। साम्यवाद इस विचार का विरोध करता है। साम्यवाद का विश्वास है कि आधुनिक शासनसत्ता-धिकारी अपने अधिकार की रक्षा पशुबल से करेंगे। इसलिए आधुनिक शासन-पद्धति के विनाश के लिए क्रांति आवश्यक है। दूसरे समाजवाद उत्पत्ति के वितरण में आवश्यकता का ध्यान नहीं रखता। समाजवादी व्यवस्था के अनुसार उत्पत्ति का वितरण मनुष्य के श्रम तथा श्रम की श्रेणी के अनुसार होना चाहिए। साम्यवादी इस व्यवस्था की आलोचना करते हैं। उनके अनुसार उत्पत्ति का वितरण श्रम तथा आवश्यकता के अनुसार होना चाहिए। प्रकृति ने सभी मनुष्यों को समान नहीं बनाया है। समाज के सभी मनुष्यों की शक्ति तथा आवश्यकता में कुछ न कुछ अन्तर होता है। किसी को मिष्ठान्न अधिक प्रिय है तो किसी किसी को चटपटा पदार्थ अधिक प्रिय है। किसी को शाकाहारी भोजन प्रिय है तो किसी को मांसाहारी। किसी मनुष्य की रुचि अध्ययन अध्यापन के कार्य में अधिक होती है तो किसी की सैनिक रुचि होती है और अपनी रुचि के अनुकूल ही आवश्यकता में अन्तर होता है। इसलिए साम्यवाद उत्पत्ति के वितरण में आवश्यकता का भी ध्यान रखता है।

जे० डब्लू० नोयज महोदय जो अमरीकी समाजवाद के इतिहास (History of Amrican Socialism) के लेखक हैं, साम्यवाद के विषय में अपना मत प्रकट करते हुए लिखते हैं कि साम्यवाद जीवन के ऐक्य का व्यावहारिक रूप है। उनका विचार यह है कि जीवन का ऐक्य ही साम्य-वाद की नींव है। जीवन के ऐक्य का अभिप्राय यह है कि सभी आत्मायें जो हमें अनेक पिण्डों में दिखलाई पड़ती हैं एक हैं। हिन्दू दर्शन ने इसी को अद्वैतवाद के नाम से पुकारा है। सम्पत्ति का सम्बन्ध जीवन से है और संसार के सभी प्राणी एक जीवन अथवा एक आत्मा से संबंधित हैं अतः हम सब की भलाई भी एक ही होनी चाहिए। यह पदार्थ मेरा है और वह तुम्हारा है इस प्रकार का अन्तर नहीं होना चाहिए। अपने मत को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं कि जहां विभिन्न मनुष्यों में जीवन ऐक्य नहीं है वहां साम्यवाद का कोई आधार नहीं है। कुटुम्ब में जो साम्यवाद पाया जाता है उसका आधार जीवन-ऐक्य है। पति-पत्नी तथा पिता-पुत्र में जीवन का ऐक्य है। इंगलैण्ड तथा अन्य देशों के प्रचलित विधान भी कल के कुलपति तथा कुलपत्नी में जीवन के ऐक्य को स्वीकार करते हैं। बाइबिल भी स्त्री तथा पुरुष के एकत्व को स्वीकार करता है। बाइबिल

घोषित करता है कि अपन पड़ोसी को अपने जैसा ही प्रेम करो। साम्यवाद व्यवहार रूप में केवल मात्रा में किया जा सकता है। पूर्ण साम्यवाद व्यवहृत नहीं हो सकता। और साम्यवाद का व्यवहार वहीं संभव हो सकता है जहां कुटुम्ब जैसा वातावरण हो।

इसी प्रकार साम्यवाद के मीमांसक इसे भिन्न-भिन्न रूपों में समझते हैं। साम्यवाद एक प्रगतिशील आन्दोलन होने के कारण इसकी परिभाषा करना बड़ा कठिन है। वर्तमानकाल का साम्यवाद प्राचीनकाल के साम्यवाद से नितांत भिन्न है। जन-साधारण की धारणा यह है कि साम्यवाद, मार्क्सवाद, लेनिनवाद तथा स्टेलिनवाद के समन्वय का फल है। परन्तु ऐसा समझना साम्यवाद के नाम को कलंकित करना है। साम्यवाद न तो मार्क्सवाद है, न लेनिनवाद है और न स्टेलिनवाद ही है।

आधुनिक साम्यवाद एक दर्शन है। साम्यवाद आवश्यक परिवर्तनों द्वारा आर्थिक तथा राजनैतिक असमानता को दूर करने की एक प्रणाली है। आधुनिक युग में साम्यवाद एक प्रकार की राजनैतिक तथा आर्थिक नीति के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। इस संसार में एक ओर बड़े बड़े करोड़पति, लक्ष्मीपति तथा भूमिपति पड़े हुए है तथा दूसरी ओर नंगे-भूखे भिखमंगों का संसार है। एक ओर अल्पसंख्यक पूंजीपति हैं जो विला-सिता के गहन तिमिर में निमग्न हैं और दूसरी ओर निराश्रय श्रमिक हैं जिनको निरंतर कठिन परिश्रम के उपरांत भी भरपेट भोजन नहीं मिलता। नंगे और भूखों की संख्या पूंजीपतियों तथा भूमिपतियों की अपेक्षा अत्यन्त अधिक है। नंगे तथा भूखे शारीरिक बल में भी पूंजीपतियों से अधिक हैं। परन्तु सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवस्था ऐसी बन गयी है जिससे ये निर्धन श्रमिक पूंजीपतियों के दास बने हुए हैं। धनिक वर्ग अपनी सम्पत्ति-बल से राष्ट्र के उच्चतम पदों पर अधिकार बनाये हुए हैं और निर्धनों को समृद्ध नहीं होने देते। बेचारे निर्धन शिक्षा तथा संस्कृति से वंचित कर दिय जाते हैं जिससे उनको अपनी दीन दशा का ज्ञान भी नहीं होने पाता। साम्यवाद इन निर्धनों के कष्ट को मिटाने के लिए एक आन्दोलन है। साम्यवाद का आदर्श एक नवीन राष्ट्र का निर्माण करना है जिसमें धनी तथा निर्धनी सब को समान अधिकार प्राप्त हो और कोई भी व्यक्ति दूसरे के श्रम का शोषण न कर सके।

स्कफल (Sechaffle) महोदय लिखते है कि साम्यवाद निम्न-सिद्धान्तों का कट्टर प्रतिपादक है:—

उत्पादक यंत्रों पर व्यक्ति विशेष का अधिकार न होना चाहिए प्रत्युत समुदाय का अधिकार होना चाहिए। चाहे वह उत्पादन यंत्र भूमि-सम्पत्ति के रूप में हो चाहे कल-कारखाने के रूप में हो। उद्योग का संगठन समाज द्वारा होना चाहिए न कि पूंजी विनाशकारी प्रतिद्वंद्वी पूंजी-पतियों द्वारा। जिस प्रकार उत्पत्ति के साधनों पर समाज का अधिकार होना आवश्यक है उसी प्रकार वितरण पर भी समाज का अधिकार होना आवश्यक है। वितरण श्रमिकों के कार्य तथा उसकी विशेषता के अनुसार होना चाहिए। अभिप्राय यह है कि प्रत्येक श्रमिक जितना कार्य करे तथा जिस प्रकार का कार्य करे उसे उसी के अनुसार वितरण में भाग मिलना चाहिए। इस प्रकार उत्पादक केवल श्रमिक मात्र रह जायँगे वे धनिकों के दास नहीं रहेंगे क्योंकि व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं रह जायगी। संपत्ति पर समाज का अधिकार होगा और उत्पादन के यन्त्रों पर समाज का अधिकार होने के कारण सब सबके लिए कार्य करेंगे। इस प्रकार भविष्य में श्रमिक तथा पूंजीपति का भेद मिट जायगा। हानि तथा लाभ का प्रश्न भी मिट जायगा। लाभ जो आधुनिक युग में पूंजीपतियों का व्यक्तिगत रूप में होता है वह राष्ट्र का होगा। जो अधिक श्रम करेगा तथा जो उच्चकोटिका परिश्रम करेगा वह अन्य लोगों से अधिक सुखी भी रहेगा। जो व्यक्ति किसी उत्पादनक्षेत्र में कार्य न करके सार्वजनिक सेवा करेगा उसे राष्ट्र की ओर से उसकी सेवा के अनुकूल फल मिलेगा।

संक्षेप में हम यह सकते हैं कि साम्यवाद एक राज्यप्रणाली है तथा समाज संगठन है जिसमें उद्योग-धन्धों का स्वामित्व व्यक्तिगत मनुष्यों के हाथ में न रहकर सम्पूर्ण जनता के हाथ में रहेगा। साम्यवाद सर्वाधिकार-वाद का समर्थक तथा पोषक है। साम्यवाद के अनुसार राष्ट्र का कर्तव्य केवल शासन करना ही नहीं है बल्कि प्रत्येक व्यक्ति की सुख-सुविधा का भी साधन उपस्थित करना है। राष्ट्र का कर्तव्य प्रत्येक व्यक्ति को कार्य देना तथा प्रत्येक को भोजन देना भी है। सभी मनुष्य राष्ट्र के हैं। राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति पर पूर्ण अधिकार है। राष्ट्र जिससे जो उचित समझे कार्य ले सकता है।

साम्यवाद का विकास—साम्यवाद का प्रथम आचार्य प्लेटो (Plato) अफलातून हुआ था जिसका जन्म आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व हुआ था। इस आचार्य का जन्म यूनान में हुआ। उस समय की राज्य-व्यवस्था इस आचार्य को प्रिय न थी अतः उसने एक आदर्श राज्य की कल्पना की

जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अधिक सुख मिले। प्रत्येक को अपनी योग्यता तथा रुचि के अनुकूल कार्य मिले और प्रत्येक की आवश्यकता पूर्ति हो। परन्तु प्लेटो का साम्यवाद काल्पनिक जगत का एक स्वर्णिम स्वप्न था। वह आदर्शमात्र था। अपनी ही त्रुटियों के कारण वह व्यवहार जगत से दूर था। प्लेटो का विचार यह था कि यदि शासक तथा सैनिक साम्यवाद के सिद्धान्त को नहीं अपनायेंगे तो वह राष्ट्र के हित की अपेक्षा अपने स्वार्थों को महत्व देंगे जिससे जनता की भलाई न हो सकेगी। अरस्तू (Aristole) ने अपने गुरू के विचारों का खण्डन किया और निम्नांकित तर्क प्रस्तुत किया:—

(१) साम्यवाद की अपेक्षा व्यक्तिगत सम्पत्ति मनुष्य को अधिक संतोषप्रद होती है।

(२) साम्यवादी आर्थिक नीति की अपेक्षा व्यक्तिगत सम्पत्ति की नीति उच्चतर है।

(३) चरित्र निर्माण के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति सहायक है।

(४) व्यक्तिगत सम्पत्ति मनुष्य की स्वतन्त्रता तथा सहृदयता की सहायक है।

(५) सम्पत्ति पर अधिकार एक प्रकार का सुख है।

परन्तु आधुनिक साम्यवाद का प्रारम्भ कार्लमार्क्स तथा एञ्जिल्स के समय से माना जाता है। आधुनिक साम्यवाद का आदि आचार्य कार्लमार्क्स माना जाता है और १८४८ का साम्यवादी घोषणापत्र तथा दास केपिटल साम्यवाद की गीता समझी जाती हैं। साम्यवाद समय के साथ और भी अधिक विकसित हुआ। साम्यवादी दो आचार्यों का और भी उदय हुआ। उनमें से प्रथम का नाम लेनिन और दूसरे का नाम स्टेलिन है। बीसवीं शताब्दी का साम्यवाद स्टेलिन से अधिक प्रभावित है। इस प्रकार आधुनिक साम्यवाद के कार्लमार्क्स, लेनिन तथा स्टेलिन त्रिदेव हैं। मार्क्सवाद जो सर्वप्रथम सोने का स्वप्न समझा जाता था अवसर पाकर लेनिन द्वारा अंकुरित तथा स्टेलिन द्वारा परिपुष्ट हुआ।

मार्क्स के अनुसार समाज ३ श्रेणियों से होकर चलता है। प्रथम आदि साम्यवाद, द्वितीय ऐतिहासिक समाज जैसा आधुनिक युग में है और तृतीय उच्चतर साम्यवाद। तृतीय अवस्था आदि साम्यवाद को तथा ऐतिहासिक सामाजिक अवस्था को सम्बद्ध करती है। प्रथम अवस्था से द्वितीय अवस्था तक परिवर्तन अबाध मन्दगति से होता है।

परन्तु द्वितीय अवस्था से तृतीय अवस्था में परिवर्तन द्रुतगति से और अचानक होता है। दार्शनिक मार्क्स के इस सिद्धांत का खण्डन करते हैं। व्यक्तिगत सम्पत्ति जिसका उद्भव मार्क्स ने ऐतिहासिक समाज ें दिखलाया है असत्य है। कारण यह है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति उतने ही प्राचीनकाल से चली आरही होगी जितने प्राचीनकाल से मानवता। व्यक्तिगत संपत्ति का उदय मानवता के साथ हुआ होगा। क्रमिक विकास का सिद्धान्त जो आधुनिक समय में सर्व-स्वीकृत सिद्धान्त माना जाता है इस कथन का समर्थन करता है। इस भांति मार्क्स के सिद्धान्तों से क्रमिक विकास के सिद्धान्तों का परस्पर विरोध उत्पन्न होता है।

मार्क्स ने हेगल के द्वन्द्वात्मक तर्क से प्रारम्भ कर तीन अन्य सिद्धांतों को उन्नत किया। प्रथम इतिहास की आर्थिक व्याख्या, द्वितीय वर्गवाद की व्यापकता तथा तृतीय सामाजिक क्रांति की अनिवार्यता। अतः हम अब सर्वप्रथम इतिहास की आर्थिक व्याख्या पर विचार करेंगे।

इतिहास की आर्थिक व्याख्या—मार्क्स ने जो इतिहास की आर्थिक व्याख्या की वह सर्वप्रथम किसी के समझ में न आई। तत्कालीन विद्वानों ने जैसा ही चाहा वैसा ही तर्क उस व्याख्या के खण्ड के लिए प्रस्तुत कर दिया। मार्क्स ने अपने द्वन्द्व न्याय में यह प्रतिपादित किया है कि मानव जीवन तथा ऐतिहासिक घटनाओं का आधार मनुष्य की दैनिक आवश्यकताएँ हैं। जैसे जैसे मनुष्य की दैनिक आवश्यकताओं में परिवर्तन होता है, वैसे वैसे मनुष्य के सामूहिक जीवन में भी परिवर्तन हुआ करता है। आदिकाल से अबतक ज्यों ज्यों मनुष्य का जीवन सामाजिक बनता गया है, त्यों त्यों मनुष्य की दैनिक आवश्यकताओं का प्रभाव समाज पर अधिक व्यापक होता गया है। यह नवीन विचारधारा सर्वप्रथम अनीश्वरवादी तथा नितांत भ्रममूलक समझी गयी। जिस मनुष्य ने युगों से यह समझ रखा था कि संसार में जब अपार दुःखसमुद्र उमड़ने लगता है; पाप पृथ्वी पर घोर रूप में छा जाता है; महात्मा पुरुषों के लिए बचाव की कोई भी सुविधा नहीं रह जाती तो भगवान स्वयं अवतरित होते हैं और साधु पुरुषों की रक्षा तथा दुष्टों का संहार करते हैं; वह इस समष्टिवादी सिद्धान्त पर क्यों विश्वास करने लगा। वह तो ऐसे सिद्धान्तों को अवश्य ही अनादर की दृष्टि से देखेगा।

समाज व्यक्तिगत जीवन के संबंधों से बना है। जहां एक व्यक्ति के जीवन का सम्बन्ध दूसरे व्यक्ति के जीवन से नहीं है वहां हम समाज

की रचना नहीं मान सकते। यद्यपि समाज की रचना में अन्य शक्तियां कार्य करती हैं परन्तु विशेषतयः समाज रचना की मुख्य शक्ति एक व्यक्ति का सम्बन्ध दूसरे व्यक्ति के संबंध और इसी भांति समाज के प्रत्येक मनुष्य का संबंध समाज के साथ होने में है। यह समाज के संबंध स्थितशील नहीं हैं वरन प्रक्रिय हैं और यही कारण है कि समाज में निरन्तर परिवर्तन हुआ करता है। दूसरे समाज के एक मनुष्य का सम्बन्ध समाज के अन्य मनुष्यों के साथ आर्थिक व्यवहारों द्वारा प्रगट होता है। यद्यपि मनुष्य के व्यवहारों में अन्य वस्तुओं का भी समावेश होता है परन्तु सर्वप्रथम व्यवहार से जो स्वाभाविक सम्बन्धों का निर्माता है, वह है आर्थिक व्यवहार। यदि यह प्रश्न किया जाय कि मनुष्य अपना संबंध क्यों दूसरे व्यक्ति से बनाये रखना चाहता है तो यही उत्तर मिलेगा कि जिससे उसकी वह आवश्यकताएँ जो उसके जीवन के लिए नितांत उपयोगी हैं पूर्ण हों। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के बिना वह जीवित ही नहीं रह सकता। फलस्वरूप आर्थिक आवश्यकता ही समाज का मूल कारण है। मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली इस शक्ति को यदि हम "उत्पादन शक्ति" कहें तो अत्युक्ति न होगी।

उत्पादन-शक्ति के दो मुख्य अंग हैं। प्रथम प्रकृति स्वयं कुछ साधनों को उपस्थित करके उत्पादन क्रिया को सफल करती है। द्वितीय मनुष्य परिश्रम करके उन प्राकृतिक साधनों का उपयोग करता है। इस प्रकार उत्पादन शक्ति पर प्रकृति तथा मनुष्य दोनों का योग होता है। उत्पादन पर इन दोनों शक्तियों का प्रभाव पड़ता है या इस प्रकार कहिए कि बिना इन दोनों शक्तियों के समन्वय के उत्पादन नहीं हो सकता है। उत्पादन की शक्ति में सदैव से विकास होता रहा है। आदि काल में जितना परिश्रम करके मनुष्य जो उत्पादन करता था आज उसी परिश्रम से वह उससे अधिक पदार्थ उत्पन्न कर सकता है। उत्पादन की शक्ति में आदिकाल से आज तक निरन्तर अबाध-गति से विकास होता रहा है। यह विकास भविष्य में भी अवश्यम्भावी है। उत्पादन में विकास के दो कारण हैं; प्राकृतिक साधनों में परिवर्तन होजाना तथा मनुष्य की श्रम-शक्ति में यन्त्रों के प्रयोग द्वारा विकास होना। अतएव "उत्पत्ति के साधनों" अथवा "उत्पादन शक्ति" में होनेवाला क्रमिक विकास ही इतिहास की प्रक्रिया का संचालक है। इसी को हम कार्य क्षमता, शक्ति का विकास भी कह सकते हैं।

यदि हम इतिहास के पृष्ठों को उलट-पुलट के उसकी समीक्षा करें तो पता चलेगा कि समाज में आदिकाल से जो बड़ी बड़ी क्रांतियां हुई हैं, बड़े बड़े विप्लव हुए हैं उनका आदि कारण उत्पादन के साधनों के विकास ही हैं। उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व प्राप्त करके ही मनुष्य किसी योजना में सफल हो सकता है। इतिहास में जितने विप्लव हुए हैं उनके आदि कारण उत्पादन शक्ति के स्वामी ही रहे हैं। इन स्वामियों की प्रति-स्पर्धा तथा अनधिकार प्रयत्नों ने ही किसी देश विशेष के ऊपर वाह्य आक्रमणकारियों को आमंत्रित किया है। आज के युग का इतिहास प्रायः इन्हीं सम्पत्तिशालियों का इतिहास रहा है। इतिहास के पृष्ठों को उलटने से पता चलेगा कि प्राचीनकाल में भूमि आदि उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के लिए संघर्ष हुआ करता था। तत्पश्चात यह निश्चित होगया कि कौन स्वामी तथा कौन दास रहेगा जिसका दिग्दर्शन हमें हिंदू वर्ण धर्म से ही मिल जाता है। एक वर्ग ने दूसरे वर्ग को सदैव के लिए दासवृत्ति के लिए वाध्य किया। यूनान आदि देशों में स्वामी तथा सेवकों में अधि-कारों के लिए कलह हो जाया करती थी। अन्त में भूपतियों ने सेवकों को इस पर बाध्य किया कि वे कुछ भूमिकर देकर ही भूमि का उपयोग कर सकते हैं। मध्य युग में कर देकर भूमि का उपयोग करना एक प्राचीन प्रणाली के रूप में स्वीकृत होगया था। प्रत्येक कृषक भूमि का कर देना अपना एक महत्वपूर्ण कर्तव्य समझता था। परन्तु ज्यों ज्यों कृषक अपने भूपति के सम्मुख झुकता गया त्यों-त्यों भूपति उसे करों के बोझ से दबाता गया। एक समय ऐसा आगया जब कृषक भूपति के बोझ को सहन न कर सका और वह प्रतिक्रिया के लिए वाध्य हुआ। कृषक में आत्मबल तथा आत्मचेतना जागृत हुई। अब वह अकारण ही कर देने का विरोध करने लगा। फलस्वरूप सम्पत्तिशालियों तथा कृषकों का वर्ग-युद्ध प्रारंभ हुआ। समय पाकर वर्ग-संघर्ष ने उग्ररूप धारण कर लिया। जर्मनी का "किसान ुद्ध" चीन का "ताईपिंग विद्रोह" तथा रूस का "प्रकागाफ विद्रोह" इस संघर्ष के ज्वलंत उदाहरण हैं। भारतवर्ष में भी अनेक युद्ध हुए जिनका आदिकारण वर्ग संघर्ष ही था। मद्रास के मोपला विद्रोह को साम्प्र-दायिक विद्रोह कहा जाता है। परन्तु वस्तुतः वह किसानों का ही युद्ध था। जिस प्रकार यूरोप के वर्ग संघर्ष ने मध्य युग में धार्मिक रूप धारण कर लिया था उसी प्रकार भारत में वर्ग संघर्ष ने हिन्दू-मुस्लिम रूप धारण कर लिया। परन्तु यह ध्यान रखने की बात है कि इन सभी युद्धों की

प्ररणा उत्पादन के साधनों पर अधिकार प्राप्त करने के लिये ही हुई है। साम्प्रदायिक तथा राष्ट्रीय युद्ध उस वर्ग संघर्ष के एक अंग मात्र हैं। वर्ग-संघर्ष प्रधान है अन्य युद्ध उसी के गौण रूप हैं।

प्राचीन काल में भूमि ही प्रमुख उत्पादन का साधन था अतः उस युग में युद्ध केवल भूमि पर अधिकार प्राप्त करने के लिये ही हुआ करते थे परन्तु जैसे जैसे उत्पादन के साधन में परिवर्तन होता गया वैसे वैसे युद्ध का लक्ष्य भी परिवर्तित होता गया। मध्य युग प्रधानतयः औद्योगिक उन्नति का युग रहा। इसी युग में बड़े बड़े यंत्रों तथा उद्योगों का जन्म हुआ। सागर पर जलपोत इसी युग में प्लावित हुए। इसी युग में एक देश का व्यापारिक संबंध दूसरे देश से स्थापित हुआ। उत्पादन शक्ति भूमि से उठ कर उद्योग धंधों पर केन्द्रित हुई। अतः सामन्तों के हाथ से उत्पादन शक्ति उठकर पूंजीपतियों के हाथ में केन्द्रित हुई। मध्य युग में संसार छोटे छोटे राज्यों में बँटा था जो व्यापार के लिये बाधक था। व्यापारियों को अनेकों स्थानों पर चुंगी आदि कर देना पड़ता था। अतः सम्पत्तिजीवी वर्ग ने इन छोटे छो राज्यों को प्रजातांत्रिक युद्ध के द्वारा समाप्त कर दिया। केवल छोटे छोटे राज्यों का अन्त कर देने से ही संपत्तिजीवियों का मार्ग निष्कंटक नहीं हुआ। उन्हें अपने उत्पादित पदार्थों के विक्रय के लिये ऐसे हाट की भी आवश्यकता पड़ी जिसमें वे अपने पदार्थों का विक्रय कर सकें। यह हाट कोई ऐसा ही स्थान हो सकता था जहां की जन संख्या अधिक हो। और वहां औद्योगिक जागरण न हुआ हो। जब तक किसी देश पर स्वामित्व न हो तबतक उसके औद्योगिक जागरण को तथा पूंजी-वादी व्यापार को सफल नहीं बनाया जा सकता था। अतः पूंजीवादी तथा औद्योगिक देश को एक आधीनस्थ कृषि प्रधान देश की आवश्यकता हुई। पूंजीवादी इस व्यापारिक नीति को आधुनिक युग में साम्राज्यवाद के नाम से पुकारते हैं। फलतः मध्य युग का पूंजीवाद सामन्तों के बंधनों से मुक्त होकर साम्राज्यवाद की ओर अग्रसर हुआ।

लेनिन का कथन है कि सामाज्यवाद पूंजीवाद का अन्तिम रूप है। जिन उत्पादक साधनों पर स्वामित्व प्राप्त कर पूंजीवाद सामन्तवाद का अन्त कर देता है उन्हीं उत्पादक शक्तियों के कारण श्रमजीवियों का जागरण होता है और भविष्य में यह आशा की जाती है कि श्रमजीवी वर्ग पूंजीवाद का विनाश कर देगा। पूंजीवादी समाज में पुंजीपतियों की संख्या अल्प तथा श्रमजीवियों की संख्या अधिक होती है। अतः

श्रमिकों की लड़ाई श्रमिकों के तत्व में लड़ी जाने पर अवश्यमेव श्रमिकों की विजय होगी । श्रमिकों के इस संघर्ष में एक अनोखी बात और है । वह यह कि प्राचीन काल से आज तक जितने वर्गों का स्वामित्व समाज पर रहा उन सभी ने अपने स्वार्थों के लिये सारे समाज को पददलित किया । परन्तु श्रमजीवी वर्ग में अन्य किसी वर्ग का समावेश न ोने के कारण यह समाज का सदैव ही शुभचिंतक रहेगा । श्रमिकों का शासन स्थापित हो जाने से वर्ग संघर्ष का अन्त हो जाता है और विश्वशांति का मार्ग खुल जाता है । शोषक तथा शोषित वर्ग की अनुपस्थिति में कोई स्थापित स्वार्थ न होने के कारण संघर्ष का अन्त हो जायगा और मानवता का पुनर्विकास होगा ।

वर्ग युद्ध की व्यापकता--वर्ग संघर्ष का दिग्दर्शन हम इतिहास की आर्थिक व्याख्या के साथ कर चुके हैं । जिस प्रकार मानवता के विकास के लिये किसी समय अज्ञान जनित धर्म कि आवश्यकता थी उसी प्रकार आधुनिक युग में वर्ग संघ की आवश्यकता है । उन्नत समाज की रचना के लिये श्रेणी संघर्ष के अन्तिम स्वरूप समन्वय की आवश्यकता है । अतः समष्टिवादी समाज की स्थापना के लिये वर्ग संघर्ष की अत्यंत आवश्यकता है ।

वर्ग संघर्ष के इस नवीन सिद्धांत का आधुनिक युग के पूंजीवादी विरोध करते हैं । कारण यह है कि इस सिद्धांत के मान लेने से इन्हें आर्थिक हानि होने की संभावना है । पूंजीवादियों के अतिरिक्त कुछ अन्य भी विद्वान हैं जो वर्ग संघ के सिद्धांतों का विरोध करते हैं । पूंजीवादियों का विरोध तो केवल अपने स्वार्थों की रक्षा के लिये ही है परन्तु अन्य लोग अज्ञानता वश विरोध करते हैं । वर्ग संघर्ष का सिद्धांत उनकी समझ में अभी नहीं आ सका है । वर्ग संघर्षके विरोधी यह कहते हैं कि समाज की रचना का आधार उत्पादन की शक्तियों पर प्रभुत्व नहीं है वल्कि श्रम विभाग है । मनुष्य ने अपनी सुविधा के लिये श्रम विभाजन कर लिया है, परन्तु ऐसा कहना नितान्त भ्रमपूर्ण है । समाज में श्रम-विभाजन उत्पादन शक्तियों पर स्वामित्व प्राप्त करने पर ही संभव हो सका है। बमपुलिस का जमादार स्वेच्छा से जमादारी नहीं चाहता परन्तु विवश होकर उसे वह कार्य करना पड़ता है । उसी प्रकार प्रारम्भिक समय में जब बर्ण व्यवस्था बनी होगी तो शूद्र सेवा कार्य के लिये अवश्य ही बिवश किय गये होंगे । शूद्रों ने स्वेच्छा से सेवा धर्म को नहीं अपनाया होगे ।

समाज की आदिम अवस्था में जब उत्पादन शक्तियों का विकास नहीं हुआ था तो श्रम विभाजन का भी प्रश्न नहीं था। समाज में स्त्री पुरुष नहीं हुआ करते थे। उस समय केवल नर तथा मादा ही हुआ करते थे। अपनी दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये प्रत्येक को परिश्रम करना पड़ता था। बड़ी कठिनाई से जीवन व्यतीत होता था। भविष्य के लिये कुछ भी नहीं बचता था। परन्तु शनैः शनैः मनुष्य का मस्तिष्क विकसित होता गया। मनुष्य ने कृषिविद्या का अध्ययन किया तथा उसने पशुपालन करना आरम्भ कर दिया। अब उसे दैनिक जीवन की आवश्यकता से अधिक सामग्री प्राप्त होने लगी अतः उसे अब संचय की आवश्यकता हुई। खाद्य पदार्थ अधिक दिनों तक संचय नहीं किये जा सकते थे अतः मनुष्य ने विनिमय के साधन खोज निकाले। विनिमय के लिये मनुष्य ने धातुओं का आश्रय लिया। इस भांति संचय और विनिमय ने मानव समाज में दो विरोधी वर्ग स्थापित कर दिये। प्रथम वर्ग तो वह था जिसका उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व था और द्वितीय वह जो अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये विवश होकर अपने श्रम को स्वामियों के हाथ में बेंच देता था।

यहां यह स्पष्ट कर देना अत्यंत आवश्यक है कि यह वर्ग संघर्ष मानव समाज के इतिहास की वस्तु है न कि किसी देश या जाति के इतिहास की। यह वर्ग संघर्ष प्रत्येक देश तथा प्रत्येक काल में था। कोई भी ऐसा देश नहीं था जहां यह वर्ग संघर्ष व्यापक न रहा हो। जिस देश में उत्पादन के साधन अधिक विकसित हुए वहां यह संघर्ष अधिक विकसित हुआ परन्तु जिस देश में उत्पादन के साधन विकसित न हुए वहां यह संघर्ष मन्द रहा। यही कारण है कि आधुनिक उन्नत देशों में यह वर्ग संघर्ष बड़े विकराल रूप को धारण किये हुए है और जो देश अभी अवनत दशा में हैं उनमें वर्ग संघर्ष उतना व्याप्त नहीं है। मार्क्स के पूर्व भी विद्वान वर्ग संघर्ष को मानते थे परन्तु वह यह नहीं मानते थे कि उत्पादन शक्ति के साथ ही साथ संघर्ष का रूप भी परिवर्तित हो जाया करता है।

राज्य संस्था के उद्भव का कारण भी वर्ग संघर्ष ही है। राज्य संस्था का बाह्य रूप निष्पक्ष सा प्रतीत होता है परन्तु वास्तव में वह निष्पक्ष नहीं है। राज्य पर स्वतः उसी वर्ग का प्रभाव होता है जो समाज में अधिक शक्तिशाली होता है। राज्य संस्था यदि समर्थ वर्ग की सहायता न करे तो उसका अस्तित्व ही कठिनाई में पड़ जाय। मार्क्स के विचार से

तो राज्य संस्था पूंजीवादियों द्वारा निर्मित है और वह इसीलिये है कि श्रमजीवी वर्ग के आन्दोलनों को अधिक न बढ़ने दे । राज्य संस्था के विविध अंग जैसे पुलिस, सेना, न्याय विभाग तथा कारागृह आदि केवल इसीलिये थे कि श्रमजीवी किसी प्रकार भी क्रांति न कर सकें । मार्क्स के विचार से राज्य संस्था शोषितों के दमन के लिये ही एक शक्ति है । आधुनिक राज्य संस्था के बल पर ही शोषण करने वाला वर्ग दलितों पर अनेक प्रकार का अत्याचार करता है । राज्य संस्था ऐसा वातावरण उत्पन्न करती है जिससे श्रमिकों का शोषण संभव हो सके । राज्य संस्था इसीलिये श्रमजीवियों के लिये हितकर नहीं है और क्रांति द्वारा उस संस्था का अन्त कर देना श्रमजीवियों का प्रथम कर्तव्य होगा ।

पूंजीपतियों के विरुद्ध यह क्रांति किसी देश विशेष की वस्तु नहीं है, बल्कि संसार के समस्त श्रमिकों को उत्पादन की शक्तियों पर विजय प्राप्त करने के लिये एक साथ प्रयत्न करना है । संसार के समस्त श्रमिक जबतक एक साथ सम्मिलित नहीं होते तब तक यह क्रांति संभव नहीं हो सकती । यदि किसी देश विशेष में श्रमिक क्रांति सफल भी हो जायगी तो उस देश के श्रमिकों पर अन्य पूंजीवादी देश अवश्य आक्रमण करेंगे और ऐसे कठिन अवसर की रक्षा के लिये उस देश के श्रमिकों को केवल श्रमजीवी प्रधान राज्य स्थापित करना अनिवार्य होगा । अतः श्रमिकों का आन्दोलन जब तक पूर्ण संसार में व्याप्त नहीं हो जाता तब तक उनको श्रमिक प्रधान राज्य की स्थापना करनी होगी ।

कुछ लोगों को संदेह है कि श्रमिकों का जो सामयिक राज्य स्थापित होगा वह केवल श्रमिकों का ही हित चाहेगा और दूसरे एक नवीन राज्य संस्था भी उत्पन्न हो जायगी । इस प्रकार न तो वर्ग संघर्ष का ही अन्त होगा और न राज्य संस्था का ही अन्त होगा । अन्तर केवल इतना होगा कि पहले पूंजीवादियों का उत्पादन शक्तियों पर प्रभाव था और अब श्रमिकों का प्रभाव रहेगा ।

मार्क्स इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार देता है:—
"When in the course of development the distinctions of classes have vanished, and when all production is concentrated in the hands of associated individuals, public authority loses its political character. Political power in the proper sense is organised power of one class for the suppre-

ssion of another. When the proletariat, in its struggle against the middle class, united itself perforce, so as to form a class constituted itself by way of revolution the ruling class, and as the ruling class forcibly abolishes the former conditions of production, it abolishes therewith at the same time the very foundation of the opposition between classes, does away with the classes altogether and by that very fact withi own domination as a class. The place of the former bourgeois society, with its classes and class contracts, is taken by an association of workers, in which the free development of each is the condition of the free development of all."

—साम्यवादी घोषणापत्र १८४८

'जब, साम्यवाद के उन्नत काल में वर्ग विहीन समाज का निर्माण हो जाता है और जब समस्त उत्पत्ति सामाजिक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित हो जाती है तब सार्वजनिक प्रभुत्व राजनीतिकता से विच्छिन्न हो जाता है। राजनैतिक शक्ति विशेषतयः एक वर्ग व्यवस्थित शक्ति है जो दूसरे वर्ग के अतिक्रमण के लिये प्रयुक्त होती है। जब श्रमजीवी मध्यम वर्ग के विरोध के लिये बलपूर्वक अपने को संगठित करता है और क्रांति द्वारा अपना वर्ग निामत करता है तो स्वामी वर्ग अपनी उत्पत्ति की समस्त अवस्था को हटाने के लिये विवश हो जाता है और तत्काल ही वर्ग संघर्ष समाप्त हो जाता है। वर्ग संघर्ष के मूल मंत्र—उत्पादन के स्वामित्व के समाप्त होते ही समाज भी वर्गविहीन हो जाता है। एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर प्रभुत्व नहीं रह जाता। मध्यम वर्ग अपनी श्रेणियों के साथ एक ऐसे श्रमजीवी संगठन का वर्ग बन जाता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति की उन्नति सामाजिक उन्नति के साथ समाविष्ट होती है।

सामाजिक क्रांति की अनिवार्यता—क्रांति तथा शांति एक ही सिद्धांत के दो विभिन्न पक्ष हैं। एक की अनुपस्थिति में दूसरा नहीं रह सकता। शांति के लिये ही क्रांति की आवश्यकता हुआ करती है। जब कभी समाज में व्यभिचार तथा अत्याचार बढ़ा है, उसी काल में क्रांति अनिवार्य हो गयी है। मानसिक, सामाजिक, शारीरिक, तथा राजनीतिक सभी प्रकार की शांति के लिये क्रांति की आवश्यकता है। साधारण जनता की धारणा है कि क्रांति अप्राकृतिक है। परन्तु वास्तव में यह उनका भ्रममात्र है। क्रांति अप्राकृतिक नहीं वरन् अति प्राकृतिक है। प्रकृति स्वयं परिवर्तनशील

है और जब यही परिवर्तन तीव्र गति से होने लगता है तो क्रांति का रूप धारण कर लेता है। प्राचीन काल में लोगों की धारणा यह रही है कि हमारी असद् इच्छाओं का प्रगट रूप हिंसा है तथा सद् इच्छाओं का रूप अहिंसा। इसी सद् इच्छा को गीता में निष्काम बुद्धि कहकर पुकारा है। परन्तु गीता स्वयं क्रांतिकारी विचारों का समर्थन करती है। उदाहरण के लिये जब अर्जुन संग्राम के प्रति वैराग्य प्रकट करता है और धनुष बाण को रख देता है —

"एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोक संविग्न मानसः॥"

तब श्रीकृष्णजी उसको युद्ध के लिये बाध्य करते हैं और कहते हैं कि—

"क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥"

अतः यह कहना कि सद् इच्छाओं का स्वरूप अहिंसा है भ्रांतिपूर्ण है। सद्इच्छाओं का व्यावहारिक रूप सत्य हुआ करता है। सत्य मार्ग का अनुसरण करने वाला वीर कभी भी हिंसा तथा अहिंसा की चिंता नहीं करता। सत्यानुगामी द्वारा की गयी हिंसा, हिंसा नहीं होती क्योंकि वह निष्काम भाव से की जाती है। दूसरे क्रांति का यही अभिप्राय नहीं है कि वह सशस्त्र ही हो। कोई भी परिवर्तन जब तीव्र गति से होने लगता है तो हम उसे विप्लव या क्रांति का रूप देते हैं। गांधी जी ने राजनीतिक संसार में जो परिवर्तन किया है हम उसे भी क्रांति कह सकते हैं।

हम पहले ही वर्णन कर चुके हैं कि ससार के विकास का क्रम सदैव समान गति से नहीं चलता। कभी वह द्रुतगति से होता है तो कभी मन्द गति से। यदि हम इस विकास सिद्धांत की समीक्षा करें तो पता चलेगा कि क्रमिक विकास सदैव ही द्रुत विकास के लिये साधन उपस्थित करता है। जिस प्रकार फुटबाल में क्रमिक रूप से वायु भरते रहने से एक ऐसी अवस्था आ जाती है कि फुटबाल फट जाता है ठीक उसी प्रकार क्रमिक विकास क्रांति की नींव बनाने का कार्य करता है। क्रमिक विकास ऐसा वातावरण उपस्थित कर देता है कि क्रांति का होना आवश्यक हो जाता है। उदाहरण के लिये यदि हम द्वितीय संसार महायुद्ध के इतिहास का अध्ययन करें तो पता लगेगा कि संसार की राजनीतिक शक्तियों ने जर्मनी को शस्त्र उठाने के लिए बाध्य जिसके फल स्वरूप द्वितीय संसार का महायुद्ध हुआ। आज भी वे क्रान्तिकारी शक्तियां अपना कार्य अबाध गति से कर

रही है। रूस तथा अमेरिका में द्वेष भावना उत्तरोत्तर बढ़ती चली जा रही है। इसका फल भी हम देखेंगे कि एक तृतीय महा समर अनिवार्य रूप से होगा।

अब हमें यह देखना है कि एक समष्टिवादी वर्ग-विहीन समाज की रचना के लिये सशस्त्र क्रांति की आवश्यकता है कि नहीं? कुछ भारतीय विद्वानों का यह मत है कि अब संसार हिंसात्मक क्रांति से अहिंसात्मक क्रांति की ओर अग्रसर हो रहा है। ऐसे तार्किकों के लिये क्या उत्तर दिया जा सकता है कि जब संसार में पहिले से अधिक भयानक बम तथा अन्य विनाशकारी यंत्रों का उत्तरोत्तर आविष्कार होता जा रहा है। आज के संसार को यह देखकर यह कल्पना करना कि संसार अहिंसा की ओर अग्रसर हो रहा है नितान्त भ्रमपूर्ण है। अतः यह विश्वास करना कि समष्टिवादी समाज की रचना के लिये अब शस्त्रों की आवश्यकता नहीं है केवल स्वप्न है। अतः यदि श्रमजीवी वर्ग को अपना आन्दोलन संसार व्यापी बनाना है और पूंजीपतियों के मायाजाल से मुक्त होना है तो उन्हें सशस्त्र क्रांति करनी होगी ऐसा विचार साम्यवादियों का है।

साम्यवाद की आलोचना तथा प्रत्यालोचना—समाजवाद की समस्त आलोचनाएं साम्यवाद पर लागू होती हैं जिनका उत्तर समाजवाद की समालोचना नामक शीर्षक में दिया जा चुका है। उन आलोचनाओं के अतिरिक्त साम्यवाद पर अन्य कई आलोचनाओं का आरोपण किया जाता है, उनमें से प्रमुख आलोचनाओं को प्रस्तुत किया जाता है।

आलोचना—साम्यवादी व्यवस्था में राज्य सत्ता का अन्त हो जायगा। साम्यवाद के आलोचकों के लिये यह असंभव सी बात है। राज्य सत्ता का अन्त होना देश में अराजकता को आमंत्रित करना है।

प्रत्यालोचना—साम्यवाद में जब कभी "राज्यसत्ता की समाप्ति" का शब्द प्रयुक्त हुआ है तो उसका अभिप्राय यही रहा है कि राज्यसत्ता में जो दमन शक्ति का प्रयोग होता है साम्यवादी व्यवस्था में उसका ह्रास हो जाता है न कि सरकार के प्रबंधकारिणी शरीर का। पूर्ण साम्यवादी व्यवस्था में राज्यसत्ता की आवश्यकता न रहेगी बल्कि प्रबंध करने के लिये सरकार का स्वरूप एक यंत्र की भांति होगा। कार्लमार्क्स तथा एन्जिल्स ने अपने सिद्धांतों के प्रतिपादन में केवल पांच स्थलों पर ही "राज्यसत्ता का ह्रास हो जायगा" शब्द का प्रयोग किया है और प्रत्येक स्थल पर उसका यही अभिप्राय निकलता है कि राज्यसत्ता की दमनकारी शक्ति का ह्रास हो जायगा। मार्क्स

के विचार से राज्य एक वर्ग की विशेष शक्ति है और वह वर्ग अपने विरोधी दलित वर्ग के दमन के लिये ही राज्यशक्ति का प्रयोग करता है। अतः जब पूर्ण साम्यवाद की स्थापना हो जायगी तो वर्ग संघर्ष समाप्त हो जायगा और फलतः राज्यसत्ता भी समाप्त हो जायगी। इसका अर्थ यह नहीं निकलता कि राज्य का जो प्रबंधक रूप है वह भी समाप्त हो जायगा। विभिन्न प्रकार के प्रबंधों के लिये उस समय भी सरकार की आवश्यकता रहेगी। और साम्यवादी व्यवस्था में सरकार रहेगी परन्तु जब तक पूर्ण साम्यवादी व्यवस्था की स्थापना नहीं हो जाती, जब तक श्रमिकों का राज्यसत्ता पर अधिकार रहेगा। कारण यह है कि उनको अपने प्रतिद्वंन्द्वी पूंजीवादी वर्ग से सदैव चैतन्य रहना है और पूंजीवादी वर्गके दमन के लिये राज्य-सत्ता की आवश्यकता पड़ेगी।

२. **आलोचना**--द्वितीय अभियोग जो साम्यवाद पर लगाया जाता है वह यह है कि साम्यवाद कुछ समय के लिये श्रमजीवियों के निरंकुश शासन का प्रतिपादन करता है तत्पश्चात् साम्यवाद यह आशा करता है कि साम्यवाद की स्थापना के लिये श्रमजीवी वर्ग अपने निरंकुश शासन को स्वयं हटा लेगा।

प्रत्यालोचना-प्रत्येक आन्दोलन के पूर्ण होने में कुछ समय की आवश्यकता है। कोई भी आन्दोलन विद्युत की चमक की भांति अचानक नहीं पूर्ण हो जाया करता। फिर साम्यवादी आन्दोलन तो संसारव्यापी आन्दोलन है। संसार के समस्त श्रमजीवियोंको जागृत करने का आन्दोलन है। इसके लिये तो अनेक वर्षों का समय चाहिए। दूसरे प्रत्येक देश के श्रमजीवी एक साथ नहीं जागृत हो सकते। अतः आन्दोलन के प्रारम्भ से लेकर आन्दोलन के पूर्ण होने तक एक सुव्यवस्थित संचालन केन्द्र की आवश्यकता होगी। इस आवश्यकताकी पूर्ति के लिये यह आवश्यक है कि साम्यवादी आन्दोलन की पूर्णता तक श्रमजीवियों का निरंकुश शासन बना रहे।

साम्यवादी व्यवस्था के पूर्ण होने के साथ ही साथ वर्ग संघर्ष का अन्त हो जायगा। समाजमें शोषक तथा शोषित नहीं रह जायेंगे। समाज का प्रत्येक व्यक्ति श्रमजीवी ही रहेगा। इसलिये राज्यसत्ता में दमन शक्ति का होना भी कोई महत्व की वस्तु नहीं रह जायगी। जब दमन शक्ति के लिये उपयुक्त लक्ष्य ही नहीं रह जायगा तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा।

साम्यवाद के आलोचक और भी कई प्रकार की आलोचनाएं उपस्थित करते हैं परन्तु वे महत्वपूर्ण न होने के कारण यहां उद्धृत नहीं की जा रही हैं।

विशेष अध्ययन के लिए देखिये:—

एच० लास्की — कम्यूनिज्म
मैक्स बेयर — लाइफ आफ कार्ल मार्क्स
एल० बी० बाउडिन — दॉ थ्योरेटिकल सिस्टम आफ कार्ल मार्क्स
क्रिस्टफर नारवर्ग — आपरेशन मास्को
मार्क्स तथा एफ० ऐंजिल्स— दॉ कम्यूनिस्ट मेनीफेस्टो
एफ० ऐंजिल्स — सोशलिज्म यूरोपियन ऐन्ड साइन्टिफिक
सी० गाइड ऐंड सी०रिस्ट— हिस्ट्री आफ इकनामिक थाट
एल० एच० हेनी — हिस्ट्री आफ इकनामिक थाट
टी० किरकुप — हिस्ट्री आफ सोशलिज्म
मार्क्स — डास कैपीटल
जी० डी० एच० कोल — ह्वाट मार्क्स रियली मेन्ट
प्रिंस क्रोपोट्किन — दॉ ग्रेट फ्रेंच रिवोल्यूशन
प्राउधान — ह्वाट इज प्रायरटी
ई० आर० ए० सेलोमैन— दॉ इकनामिक इन्टरप्रिटेशन आफ हिस्ट्री
जे० स्पार्गो — कार्ल मार्क्स, हिज लाइफ एन्ड वर्क
आई० डी० लेवाइन — दॉ मैन लेनिन
आई० डी० लेवाइन — दॉ मैन स्टेलिन
जे० स्टैलिन — लेनिनिज्म
ट्राटस्की लिअन — दॉ हिस्ट्री आफ रशियन रिवोल्यूशन
ट्राटस्की लिअन — दॉ रिवोल्यूशन बिट्रेड
जवाहर लाल नेहरू — दॉ सोवियट सिस्टम
एल० ट्राटस्की — दॉ डिफेंस आफ टेररिज्म

अध्याय १७

अराजकवाद (Anarchism)

"प्रत्येक मनुष्य अपनी सरकार है, प्रत्यक अपना नियम, प्रत्यक अपने धर्म का निर्धारण करे तथा प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपनी एक पद्धति हो ।"

जोसिया वारेन

बादशाह दुनियां के हैं मोहरे मेरे शतरंज के,
दिल्लगी की चाल है सब शर्त सुलहो जंग के।

स्वामी राम

अराजकवाद की परिभाषा—राजनीति विज्ञान के अन्य वादों की भांति अराजकवाद भी एक वाद है। जिस प्रकार अन्य सिद्धांतों तथा वादों के अपने लक्ष्य तथा ध्येय हैं उसी प्रकार अराजकवाद का भी अपना एक लक्ष्य है। जनसाधारण की धारणा है कि अराजकवाद कुछ अराजकता से सम्बन्ध रखता है। जिस प्रकार देश में किसी प्रकार के सुव्यवस्थित शासन की अनुपस्थिति में, अत्याचारी तथा पापी बढ़ जाते हैं उसी प्रकार अराजकवाद में भी पापी तथा अत्याचारी अनेक प्रकार के उपद्रव करेंगे। परन्तु वास्तविकता कुछ और ही है। अराजकवादी यह कहते हैं कि जितन प्रकार के अत्याचार प्रस्तुत समय में हो रहे हैं वह आधुनिक समय के अव्यवस्थित तथा अनुचित शासन प्रणाली के ही कारण हो रहे हैं । सब दुखों का मूल कारण आधुनिक शासन व्यवस्था ही है। यदि सरकार न रहेगी तो प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र होगा और उसे किसी प्रकार का कष्ट न रह जायेगा। अतः अराजकवाद का प्रधान उद्देश्य यही है कि सरकार की दमनशक्ति को नष्ट करे जिससे प्रत्येक व्यक्ति को अपने उत्कर्ष के लिए पूर्ण अवकाश मिले ।

सुख सम्पति राय भण्डारी ने अराजकवाद को इस प्रकार स्पष्ट किया है। "अराजकवाद ही अपने उद्देश्य को स्पष्ट कर देता है, इसका सिद्धांत ह कि समाज पर भीतरी या बाहिरी नियन्त्रण न रखना चाहिए।" परन्तु अराजकवाद अपने उद्देश्य को ठीक रूप से नहीं स्पष्ट करता और न यह सिद्धान्त यही प्रतिपादित करता है कि समाज पर किसी प्रकार का नियन्त्रण न रहे। अराजकवाद शब्द का प्रयोग भाषा तथा साहित्य में

अच्छे भाव में नहीं प्रयुक्त होता। जहां भी कहीं अधिक राज्य विप्लव तथा अन्य किसी प्रकार से शांति भंग हुई हम यही कह उठते हैं कि अराजकता फल गई है। दूसरे यह कहना कि अराजकवाद किसी भी प्रकार का समाज पर नियंत्रण नहीं चाहता नितांत असत्य है। बीसवीं सदी का अराजकवाद केवल सरकार की दमनशक्ति का ही विरोध करता है। अराजकवादी समाज में तो मनुष्य अपने सामाजिक नियम बनाने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र होगा। समाज पर दमनकारी शक्तियों के स्थान पर प्रेम का नियंत्रण रहेगा। यदि कोई व्यक्ति समाज के हानिकारक कर्म में प्रवृत्त होता है तो उसे प्रेमपूर्ण शब्दों में समझाकर सुधारा जायगा—पुलिस की लाठी शक्ति द्वारा नहीं।

अराजकवाद के प्रतिपादकों ने अराजकवाद की कोई परिभाषा नहीं दी है और न अराजकवाद अपने इतिहासकाल में किसी विशेष सिद्धान्त के साथ अटल ही रहा है। अराजकवाद सदैव एक प्रगतिशील तथा परिवर्तन शील आन्दोलन रहा है। समय समय पर इस आन्दोलन में आवश्यक परिवर्तन होते रहे हैं। अतः इसकी परिभाषा करना नितांत कठिन है। परन्तु सुप्रसिद्ध विद्वान इ० वी० जेनकर ने अपनी पुस्तक "अराजकवाद" में अराजकवाद की परिभाषा निम्न प्रकार की है:—

"Anarchism means, in its ideal sense, the perfect unfettered self-gevernment of the individual and, consequently, the absence of any kind of external government."

"अराजकवाद का अर्थ आदर्श भाव में पूर्ण स्वतन्त्र व्यक्तिगत सरकार है जिसका अभिप्राय किसी भी वाह्य सरकार की अनावश्यकता है।" अराजकवाद के लिए किसी सीमा तक यही परिभाषा मान्य भी हो सकती है

अराजकवाद का विकास—अराजकवादी विचार अत्यन्त प्राचीन है। अराजकवादी विचार उतने ही प्राचीन हैं जितने कि राष्ट्रवादी विचार। राष्ट्र ने जब से दमन नीति का अनुसरण किया होगा अराजकवाद का तभी से आविर्भाव भी हुआ होगा। प्रकृति का नियम है सत्य को स्थिर रखना तथा असत्य को परिवर्तित कर देना। असत्य का परिवर्तन तथा विवर्तन आदि काल से ही प्रकृति का नियम रहा है। राष्ट्र की दमनकारी नीति असत्य है अतः इस नीति में परिवर्तन तथा विवर्तन आवश्यक है। अराजकवाद राष्ट्र की इसी दमनकारी नीति का फल है।

अराजकवाद भी अन्य वादों की भांति प्राचीन काल में अवैज्ञानिक तथा असंयत था। इसको वैज्ञानिक रूप देने वाला एक यूनानी था जिसका नाम जेनो था। इसका जन्मकाल ३४२ ई० पूर्व तथा मृत्युकाल २५७ ई० पूर्व माना जाता है। इस यूनानी दार्शनिक ने राष्ट्र के व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप करने की नीति की आलोचना की थी और इसी समय से आधुनिक अराजकवाद का आविर्भाव स्वीकार किया जाता है।

प्राचीनकाल में अराजकवाद का विकास नहीं हुआ। कारण यह था कि राष्ट्रशक्ति उस समय उतनी व्यापक नहीं थी जितनी आधुनिक युगमें। ज्यों ज्यों राष्ट्र-शक्ति ने मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप करना प्रारंभ कर दिया त्यों त्यों अराजकवादी विचारों का भी प्रचार बढ़ा। जिस वेग से राष्ट्र की दमन नीति में वृद्धि होती गयी उसी वेग से अराजकवादी विचारों का भी प्रचार बढ़ता गया। युग के परिवर्तन के साथ जनता राष्ट्र के अधिकतर संपर्क में आती गयी। नये युग के साथ नये नये देशों का अनुसंधान तथा नये नये यंत्रों का आविष्कार होगया। इन आविष्कारों तथा अनुसंधानों के कारण जनता में नई ज्योति जागृत हुई। मनुष्य में मानसिक परिवर्तन हुआ। मध्य युग में इन परिवर्तनों का बड़ा वेग रहा। यही कारण है कि अराजकवाद भी मध्य युग में अपनी पूर्ण उन्नति पर रहा।

अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में अनेक अराजकवादी दार्शनिक उत्पन्न हुए जिन्होंने अराजकवादी आन्दोलन को प्रगति प्रदान की। इन वैज्ञानिकों में विलियम गाडविन का नाम सर्व-प्रथम आता है। गाडविन पहिले टोरीवादी, फिर ह्विगवादी और प्रगतिवादी और तत्पश्चाप अराजकवादी में परिवर्तित हुए। उन्होंने राजनैतिक न्याय पर एक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में इन्होंने प्रायः व्यक्तिवाद का प्रतिपादन किया है।

गाडविन के विचार से समाज विभिन्न प्रकार के मनुष्यों का समूह मात्र है। मनुष्य में प्रत्येक गुण पूर्णरूप से पहिले से ही विद्यमान रहते हैं जो समय समय पर विकसित हुआ करते हैं। आविष्कार तथा अनुसंधान उस पूर्णता की झलकमात्र है। इतिहास के दिग्दर्शन मात्र से हमें अनुमान हो जायगा कि मनुष्य में तर्क शक्ति का सदैव से विकास होता रहा है। गाडविन का विश्वास है कि मनुष्य समाज में एक अचल नियम व्यवहृत हो रहा है और समाज के अन्य नियम उसी नियम के आधार पर अवलम्बित हैं। सम्पत्ति सदैव से ही समाज के लिए समस्या रही है और उसका समाधान प्रजातन्त्र आदि व्यवस्थाओं से नहीं किया जा सकता। गाडविन

का विचार है कि इस समय की पूर्ति तभी हो सकती है जब उसका ुन-वितरण किया जाय। प्रत्येक मनुष्य को पूर्ण उन्नति का तथा समाज में प्रत्येक सुविधा का अधिकार है। परन्तु वह किसी भी सुधार को हिंसात्मक क्रियाओं द्वारा नहीं करना चाहता था। वह केवल शिक्षा द्वारा ही मनुष्य की उन्नति तथा समाज में सुधार का प्रतिपादक था।

उसका विश्वास था कि प्रत्येक मनुष्य का मस्तिष्क जन्मकाल में पूर्णरूप से स्वच्छ होता है। उसमें किसी भी प्रकार का विकार नहीं होता और न उस मस्तिष्क में पिछले जन्म की ही कोई झलक होती है। प्रत्येक विद्या तथा प्रत्येक वस्तु वह इसी जन्मकाल में सीखता है। परन्तु प्रत्येक मनुष्य में जन्म से ही विचार-शक्ति होती है। बस मनुष्य का कार्य केवल इतना ही है कि वह अपनी विचार-शक्ति का परिवर्धन करे। यह शक्ति प्रत्येक में समान होती है। यह विश्व कार्य और कारणमात्र है। इसका नियमन स्थिर नैतिक नियमों द्वारा होता है। प्रत्येक व्यक्ति का चरित्र उसके वातावरण पर अवलम्बित है। जिस प्रकार मनुष्य का वातावरण होता है वैसे ही उसका चरित्र बनता है। समाज में किसी का किसी वस्तु पर जन्मसिद्ध अधिकार नहीं है। समाज में जो उच्च तथा निम्नवर्ग दिखाई पड़ते हैं वे सब कृत्रिम हैं। परन्तु समाज के प्रति प्रत्येक के कर्तव्य अवश्य हैं। समाज में प्रत्येक को प्रेम का व्यवहार करना चाहिए। सरकार के नियम दमन-शक्ति के आधार पर स्थिर हैं अतः मनुष्य उनके पालन करने के लिए वाध्य नहीं है। हमें केवल सत्य का आश्रय लेना चाहिए। क्योंकि सत्य प्रत्येक में समानरूप से वर्तमान है, सत्य की ृष्टि में सभी समान हैं अतः सत्य ही हमारी सरकार है और उसी के अनुसार हमें वर्तना चाहिए। गाडविन के विचार से आधुनिक ढंग की सरकार एक दूषण है। कारण यह है कि इसका आधार शक्ति का उपयोग है। सरकार व्यक्तिगत विचारों को अपनी प्रवल शक्ति से दबा देती है और इस दबाव से अंतः-करण के विचार दब जाते हैं। सरकार का यह कार्य बड़ा क्रूर तथा निर्दयता-पूर्ण है। सरकार, वह चाहे जिस प्रकार की हो, सदैव शक्ति का उपयोग करती है और इसीलिए गाडविन प्रत्येक प्रकार की सरकार का विरोध करता है। वह जनमत से बनी हुई सरकार का भी विरोध करता है। कारण यह है कि जनमत किसी भी असत्य वस्तु को सत्य में परिवर्तित नहीं कर सकता। अतः शनैः शनैः सरकार का विनाश कर देना आवश्यक है। सरकार के आधुनिक रुप को छोटे समान भागों में विभाजित कर देना

चाहिए। यह विभाग अपने प्रत्येक कार्य में पूर्ण स्वतन्त्र होने चाहिए। कुछ समय के लिए जब तक कि जनता का पूर्ण जागरण नहीं हो जाता सरकार के यह छोटे रूप अन्याय को बचाने के लिए समर्थ होंगे। जब समाज पूर्णरूप से जागृत हो जायगा तो इनकी भी आवश्यकता नहीं रह जायगी। उस समय प्रत्येक मनुष्य अपना शासक स्वयं बन जायगा।

गाडविन ने आधुनिक सरकार के विधान, नियम तथा न्यायालयों का भी विरोध किया। कारण यह है कि वे दमनकारी शक्ति से संबंधित है। यही नहीं, उसने व्यक्तिगत सम्पत्ति का भी घोर बिरोध किया। कारण यह है कि व्यक्तिगत सम्पत्ति अन्य व्यक्ति के स्वतन्त्रता की घातक है। व्यक्तिगत सम्पत्ति सम्पत्तिहीन को विवश करती है कि वह दूसरे की इच्छानुसार कार्य करे। व्यक्तिगत सम्पत्ति नैतिक उन्नति की बाधक तथा मानसिक अवनति का कारण है। व्यक्तिगत सम्पत्ति पापों को बढ़ानेवाली तथा युद्ध का आदि कारण है। अतः वह सम्पत्ति के पुनर्वितरण का प्रतिपादक है।

अराजकवाद का दूसरा दार्शनिक प्रौढन है। प्रौढन ने गाडविन के अराजकवादी विचारों का समर्थन किया। प्रौढन ने व्यक्तिगत सम्पत्ति का और भी तीव्र स्वर से विरोध किया। उसके विचार से व्यक्तिगत सम्पत्ति एक प्रकार की चोरी है। यह चोरी सम्पत्तिवान समाज के प्रति करता है। बड़े बड़े सम्पत्तिवान समाज पर धन के लोभ से डाका डालते हैं। न्याय की दृष्टि से समस्त श्रमिकों का सम्पत्ति पर समानरूप से अधिकार है। उत्पादन की उत्तमता अधिक प्रशंसनीय तथा संतोषप्रद है परन्तु अभिप्राय यह नहीं है कि वितरण में विषमता की जाय। समस्त सम्पत्ति का उत्पन्न करने वाला केवल श्रमिक है। सम्पत्तिवान तथा सम्पत्ति धन के उत्पादक नहीं हैं। अतः धनिकों का जो उत्पादन में भाग नहीं लिए हुए हैं वितरण में भी भाग नहीं होना चाहिए। सरकार भी उतनी ही दूषित संस्था है जितनी कि सम्पत्ति। और दूषित सम्पत्तिके ही आधार पर दूषित सरकार भी संभव है। समाज के लिए यह दोनों ही संस्थाएँ हानिकारक हैं। प्रौढन ने समाजवादी राष्ट्र की सार्वजनिक सम्पत्ति का भी घोर विरोध किया है। प्रौढन के विचार से सम्पत्ति का किसी भी रूप में होना हानिकारक है चाहे वह सार्वजनिक सम्पत्ति हो चाहे वह ट्रेड यूनियन की हो।

प्रौ न ने मार्क्सवाद का समर्थन केवल इसलिए नहीं किया कि मार्क्सवाद विध्वंसकारी नीति का समर्थक है। मार्क्स क्रांतिकारी विचारों तथा विनाशकारी कूटनीति का प्रतिपादक था। प्रौढन के आदर्शवादी समाज में

मनुष्य कुछ अंश में श्रमिक रहेगा और कुछ अंश में वह समाज के अन्य उपयोगी कार्यों में सहकारी रहेगा। परन्तु वह किसी भी रूप में सरकार का समर्थन नहीं करेगा और न वह पूंजीवाद को ही स्वीकार करेगा।

प्रौढन के पश्चात् अराजकवाद का प्रचार करने वाला वाकुनिन हुआ। प्रारम्भिक अराजकवाद अपनी उदार नीति के कारण असफल रहा। किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शक्ति तथा उसी के अनुरूप नियमों की आवश्यकता होती है। शक्ति तथा साधन के बिना किसी भी कार्य में सफलता नहीं मिल सकती। अतः वाकुनिन न अपने पूर्वजों के मार्ग का अनुसरण नहीं किया। वाकुनिन तथा क्रोपाटकिन ने अराजकवाद को क्रांतिकारी रूप दिया। अपने उद्देश्य तथा लक्ष्य की पूर्ति के लिए प्रत्येक प्रकार के साधन उपयुक्त हो सकते हैं। कर्तव्य साधन के लिए विस्फोटक बम फेंकना तथा अन्य विध्वंसकारी साधनों का उपयोग करना, किसी प्रकार का दोष नहीं है। वर्ग-संघर्ष जो एक साम्यवादी विचार है अराजकवाद में भी स्वीकृत कर लिया गया। इस प्रकार प्रिंस क्रोपाटकिन तथा वाकुनिनने एक साम्यवादी अराजकवाद की व्यवस्था समाज के सम्मख उपस्थित की।

अराजकवादी समाज—अराजकवादी एक आदर्श समाजकी कल्पना करते हैं। उनका कथन है कि समाज में प्रत्येक प्रकार का पदार्थ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। परन्तु उसे पूंजीपति तथा अधिकारी वर्ग निधनों को उपयोग नहीं करने देते। अन्न तथा वस्त्र मनुष्य को केवल थोड़े से परिश्रम से इतनी अधिक मात्रा में उपलब्ध हो सकते हैं कि वह उनका वायु तथा जल की भांति उपयोग कर सकता है। मनुष्य की उपभोग शक्ति सीमित है। अतः वह निर्दिष्ट मात्रा से अधिक किसी भी वस्तु का उपभोग नहीं कर सकता और उतनी मात्रा में वह उसे केवल थोड़े से समय में प्राप्त कर सकता है। मनुष्य का शेष समय समाज के अन्य निर्माणकारी कार्यों में लगेगा।

समाज में दमन शक्तिशाली सरकार न होगी। समाज छोटे-छोटे समुदायों में विभक्त होगा। यह समुदाय अपना प्रबंध स्वतन्त्ररूप से स्वयं करेंगे। समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने समाज के प्रबंध करने में पूर्ण सहयोग देगा। प्रत्येक आवश्यक कार्य में वह कटिवद्ध रहेगा। प्रत्येक मनुष्य उत्पादन तथा वितरण में अपना कर्तव्य पालन करेगा। विद्या का लाभ उठायेगा। क्रीडा-स्थल पर मनोरंजन करेगा तथा समाज की रक्षा के लिए कटिवद्ध रहेगा। इन समुदायों में से कोई स्थानीय महत्व के होंगे परन्तु कोई संघीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के होंगे। इन

समुदायों का रूप वही होगा जो मध्ययुग में श्रमिक समुदाय तथा स्वतन्त्र नगरों का था। परन्तु उनमें आधुनिक औद्योगिक महत्व की समस्त वस्तुयें समाविष्ट होंगी।

अराजकवादी आदर्श समाज में चर्च का कोई महत्व न होगा। वह केवल पूजनगृह मात्र रह जायगा। वह एक व्यवस्थित संस्था के रूपमें नहीं रहेगा। उसे कोई सुधार का अधिकार नहीं होगा। प्रत्येक व्यक्ति अपना धर्म स्वयं निर्णय करेगा। अराजकवादियों के विचार से चर्च एक अत्याचारी संस्था है और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का वाधक है। वह जन्म से ही अपना अधिकार प्रगट करने लगता है और मृत्युपर्यन्त वह मनुष्य को अपने बंधनों में जकड़े रहती है।

अराजकवादी समाज में धर्म का रूप बदल जायगा। प्रत्येक व्यक्ति समान समझा जायगा और वह अपने पूजन के विधि-विधान में पूर्ण स्वतंत्र होगा। न कोई हिंदू होगा न मुसलमान और न ईसाई। न किसी को कुरान का बोझ ढोना पड़ेगा न किसी को वाइबिल रटना पड़ेगा। और न किसी के लिए गीता का नित्य पाठ ही अनिवार्य होगा।

समाज के प्रत्येक उत्पादन यंत्र पर सब का समान अधिकार होगा। यदि आवश्यकता पड़ेगी तो एक समुदाय दूसरे समुदाय के सहयोग से कार्य करेगा। बड़े बड़े आधुनिक उद्योग न्धों पर किसी एक समुदाय का स्वामित्व न रहेगा बल्कि जितने समुदायों का अधिकार उचित होगा उतने समुदाय उसके अधिकारी होंगे। वेतन प्रथा सहयोग के कार्य को सुगम करेगी। व्यक्तिगत सम्पत्ति केवल उपभोग की सामग्री तक ही सीमित रहेगी।

यदि किन्हीं दो समुदायो में या दो व्यक्तियों में दैवयोग से किसी प्रकार की कलह होगी तो उस समस्या को सुधारने के लिए एक बोर्ड ोगा यह बोर्ड स्थानीय होगा और प्रत्येक प्रकार की कलह को सम्हालने के लिए सशक्त होगा।

अराजकवाद की आलोचना— अराजकवादी राष्ट्र की दमनकारी शक्ति का विरोध करता है। राष्ट्र की प्रबन्धकारिणी संस्था का विरोध अराजकवाद कदापि नहीं करता। समाज के समस्त दुर्गुण राष्ट्र की दमनकारी नीति के कारण ही हैं। अतः अराजकवादी जब राष्ट्र को समाप्त करने का प्रचार करता है तो उसका यही अभिप्राय होता है कि वह राष्ट्र-दमनकारी शक्ति की समाप्ति चाहता है। अराजकवादी के विचार से यदि राष्ट्र की सत्ता मिटा दी जाय तो समाज पुनः पूर्ववत् सुखी ो जायगा। राष्ट्र के अन्त के साथ ही साथ समाज में समस्त दुर्गुणों का भी अन्त ो जायगा।

अराजकवाद की आलोचना—अराजकवाद यद्यपि हमारे सन्मुख बड़े सुन्दर सामाजिक चित्र उपस्थित करता है परन्तु वह पूर्ण निर्दोष नहीं है।

(१) हम यह निस्संदेह स्वीकार कर सकते हैं कि नैतिक उन्नति मनुष्य की व्यक्तिगत उन्नति है। परन्तु हम यह मानने के लिए प्रस्तुत नहीं कि राष्ट्र नैतिकता का पूर्णरूप से नाश कर देता है। राष्ट्र ही सब दुखों की जड़ है। राष्ट्र का नैतिकता से कोई भी प्रत्यक्ष संबंध नहीं रहता। राष्ट्र का नैतिकता से अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है। राष्ट्र ऐसे वातावरण उत्पन्न कर सकता है जिससे नैतिक उन्नति पर प्रभाव पड़े। राष्ट्र भले ही किसी व्यक्ति की भावनाओं को दबाता हो परन्तु वह उसकी उच्च भावनाओं का नाश कभी नहीं कर सकता। राष्ट्र ही सब दुखों का कारण भी नहीं है। हमारा जीवन तभी संभव तथा सुखी बन सकता है जब कि राष्ट्र के प्रत्येक अंग अपने कर्तव्य का पालन करें अतः राष्ट्र हमारे दुखों की अपेक्षा सुखों का साधन अधिक है।

(२) अराजकवादियों का यह कथन कि स्वतन्त्रता ही मनुष्य का सर्व-श्रेष्ठ सुख-सा न है कुछ असत्यसा प्रतीत होता है। कारण यह है कि स्वतन्त्रता का सुख किसी वस्तु या ावना के निमित्त होता ै। स्वतन्त्रता स्वयं कोई सुख की वस्तु नहीं है। जब तक स्वतन्त्रता से हमें कुछ प्राप्त न हो जाय और हम उससे किसी प्रकार का लाभ न उठा लें तब तक स्वतंत्रता हमारे लिए कोई महत्व की वस्तु नहीं होती। स्वतन्त्रता किसी हेतु के लिए होती है। अहेतु की स्वतन्त्रता से तो समाज में विश्रृंखलता ही फैलेगी। दूसरे बिना शक्ति के स्वतन्त्रता का अस्तित्व होना भी संभव नहीं ह। स्वतन्त्रता के लिए शक्ति तथा अधिकार दोनों की आवश्यकता है। शक्तिमय अधिकार तथा स्वतन्त्रता एक दूसरे के पूरक हैं। संसार का कोई भी समाज ऐसा नहीं ै जो अपने समुदाय को पूर्ण स्वतन्त्र कर सके। भविष्य के समाज में भी ऐसा होना असं व है। प्रत्येक संस्था व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर कुछ न कुछ नियंत्रण रखती है। ऐसी कोई भी संस्था नहीं है जो बिना किसी नियंत्रण के लाभकारी प्रतीत हो।

अराजकवादी मनुष्य की प्रकृति का चित्रण ठीक ठीक नहीं करते। अराजकवादियों का कथन है कि राष्ट्र ने मनुष्य की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दमन करके उसकी नतिकता तथा चरित्रबल का पतन कर दिया है। यदि राष्ट्र का अस्तित्व मिट जायगा तो समाज पुनः पूर्व नैतिक तथा चरित्रबल प्राप्त कर लेगा। उसमें नैतिक तथा चरित्रबल इतने उच्चस्तर

पर पहुँच जायगा कि मद, मोह, क्रोध तथा लोभ आदि दोष उसमें नहीं होंगे । परन्तु उनकी यह धारणा नितांत भ्रमपूर्ण है। रूसी आदि दार्शनिकों ने भी पहिले ऐसा ही सोचा था परन्तु उनको अपनी भूल को सुधारना पड़ा। मनुष्य समाज अपने इन दुर्गुणों को आजीवन प्रयत्न करने पर भी नहीं छोड़ पाते। प्रेमचन्द जी के उपन्यास में भले ही ऐसे उन्नत व्यक्ति मिल जायं परन्तु समाज में महात्मा पुरुष विरले ही होते हैं। गौतमबुद्ध तथा महात्मा गांधी सर्वत्र नहीं होते । मनुष्य समाज के इतिहास के अध्ययन से यही पता चलेगा कि आधुनिक स्थिति मनुष्य के कई युगों की उन्नति का फल है ।

(३) अराजकवादियों का विचार है कि शिक्षा तथा प्रोत्साहन से वे मनुष्य के स्वभाव को पूर्णतया परिवर्तित कर देंगे । यदि वे मनुष्य के स्वभाव को आधुनिक युग में नहीं उन्नत कर सकेंगे तो भविष्य में किसी-न किसी समय वह ऐसा करने में अवश्य ही समर्थ होंगे । परन्तु उनका यह स्वर्णिम स्वप्न राष्ट्र की अनुपस्थिति में होना असंभव है । राष्ट्र की अनुपस्थिति में वे किसी प्रकार भी अपने सुधारों को कार्यान्वित नहीं कर सकेंगे। मनुष्य की नैतिक तथा चारित्रिक परिस्थिति इतनी असंतोषप्रद है कि यदि इसी अवस्था में राष्ट्र का अस्तित्व मिटा दिया जाय तो समाज में विशृंखलता आजायगी। मनुष्य एक दूसरे को अपना शत्रु सम ने लग जायेंगे। कोई किसी का विश्वास नहीं कर सकेगा। जिसकी लाठी उसकी भैंस की कहावत चरितार्थ हो जायगी। मनुष्य का एक विध्वंसकारी हिंसक चित्र सामने उपस्थित हो जायगा ।

(४) अराजकवादी अपने मत का प्रतिपादन करते समय मनुष्य को एक पूर्ण प्रेम की मूर्ति स्वीकार कर लेते हैं । उनका कहना यह है कि जिस प्रकार एक कुटुम्ब में प्रेम के बल पर घर का समस्त कार्य चलता है और सभी सुखी रहते हैं किसी कानून अथवा नियम की आवश्यकता नहीं होती। उसी प्रकार राष्ट्र में राष्ट्र के नष्ट हो जाने पर सारा संसार एक कुटुम्ब की भांति बनेगा और उसे किसी भी प्रकार की सेना तथा पुलिस की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। परन्तु मनुष्य के लिए यह कल्पना कर लेना मनुष्य को मनुष्य श्रेणी से ऊपर समझ लेना है । उसके दुर्गुणों को छिपा देना है । सूक्ष्म अध्ययन से पता चलेगा कि मानव अभी उस स्तर पर नहीं पहुच पाया है । अतः राष्ट्र की शक्ति का एक रक्षक के रूप में होना परम आवश्यक है ।

(५) अराजकवादियों की यह धारणा है कि मनुष्य का मनोबल राष्ट्रशक्ति के स्थान पर उपयुक्त हो सकेगा। परन्तु उसकी यह भी धारणा निर्मूल है। विनाशकारी तथा निर्माणकारी दोनों ही प्रकार के मनुष्यों में आन्तरिक प्रेरणा है। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि राष्ट्र के स्थान पर मनोबल का प्रयोग हो सकेगा? अतः उनकी यह धारणा भी निर्मूल है।

(६) अराजकवादी यह आशा करते हैं कि मानव समाज के उपयोग से अधिक उपभोग के पदार्थ संसार में उपस्थित हैं परन्तु आधुनिक राष्ट्र की व्यवस्था कुछ ऐसी है कि वह पदार्थ उपभोग के लिए नहीं मिलते। युद्ध और कलह के कारण वह अतुल परिमाण में नष्ट कर दिये जाते हैं। उनका यह कहना कुछ अंश में सत्य अवश्य है कि कलह और युद्ध में पदार्थ नष्ट हो जाते हैं परन्तु उनका यह कथन कि आवश्यकता से अधिक पदार्थ संसार में है निश्चय ही असत्य है। आधुनिक अनुसंधानों से पता चलता है कि संसार के मनुष्यों को जितने पदार्थों की आवश्यकता है उतना उत्पन्न ही नहीं होता।

अराजकवादियों का यह कहना है कि पृथ्वी की उत्पादन-शक्ति आधुनिक यंत्रों से बढ़ जायगी परन्तु आधुनिक कृषि वैज्ञानिकों का मत है कि पृथ्वी की उर्वरा शक्ति शनैः शनैः कम होती जा रही है और कुछ दिन पश्चात् यदि अन्य कोई अनुसंधान न हुआ तो खाद्य पदार्थ मानव समाज की विकट समस्या बन जायगी।

अराजकवाद तथा साम्यवाद--मार्क्सवाद तथा अराजकवाद का एक ऐतिहासिक बिलगाव है और दोनों वादों में बड़ा अन्तर है। मार्क्स साम्यवादी नेता था और बाकुनिन अराजकवादी। इन दोनों वादों में ऐतिहासिक बिलगाव के अतिरिक्त सैद्धान्तिक अन्तर भी है।

(१) साम्यवाद राष्ट्र के विरोध में राजनैतिक तथा आर्थिक दोनों प्रकार की नीति का अनुसरण करता है। साम्यवाद राष्ट्र की शक्ति का विरोध करने के लिए एक सुव्यवस्थित साम्यवादी दल का समर्थन करता है। परन्तु अराजकवादी आधुनिक राष्ट्र शक्ति से केवल सम्बन्ध विच्छेद मात्र स्वीकार करता है। अराजकवाद एक प्रकार का प्रजातांत्रिक सुधार चाहता है। अराजकवाद किसी दलबन्दी के पक्षमें नहीं है।

(२) साम्यवादियों के प्रधान शत्रु पूंजीवादी हैं। राष्ट्र पूंजीपतियों का ही पक्ष लेता है अतः उसका भी विरोध अनिवार्य हो जाता है। परन्तु अराजकवादियों के लिए राष्ट्र एक अनावश्यक संस्था है।

(३) साम्यवादी घोर केन्द्रीकरण के पक्षपाती हैं। वे सर्वाधिकारवादी हैं। परन्तु अराजकवादी घोर विकेन्द्रीकरण के पक्षपाती हैं।

परन्तु कुछ सिद्धान्तों में दोनों वादों में साम्य भी है।

(१) दोनों वादों के विचारों से सम्पत्ति के नाश के साथ साथ राष्ट्र का भी नाश हो जायगा।

(२) ोनों वाद राष्ट्र-विहीन तथा वर्ग-विहीन समाज का निर्माण करना चाहते हैं। अन्तर केवल इतना है कि राष्ट्र के पूर्ण विनाशकाल तक श्रमजीवी वर्ग का शासन रहेगा।

(१) **अराजकवाद का पतन**--अराजकवाद के पतन का सर्वप्रथम कारण यह था कि यह आन्दोलन अव्यवस्थित था। इसके कार्यक्रम आवश्यकता से अधिक नम्र थे।

(२) अराजकवाद एक परिवर्तनशील आन्दोलन था। इसके प्रतिपादकों के विचारों में साम्य न था। जो जिस प्रकार से चाहता था उसकी टीका कर लिया करता था।

(३) अराजकवाद के एक अत्यन्त प्रसिद्ध दार्शनिक ने उस आन्दोलन को आत्मबल द्वारा ही बढ़ाने की शिक्षा दी जिसका अप्रत्यक्षरूप से फल यह हुआ कि यह आन्दोलन मृतक आन्दोलन होगया।

(४) अमेरिका के विभिन्न प्रदेशों में जहां व्यक्तिवादी आन्दोलन हेनरी ेविड आदि की अध्यक्षता में जागृत हो उठे व्यक्तिवादियों ने सत्याग्रह के अहिंसावादी मार्ग का अनुसरण किया। जनता का झुकाव व्यक्तिवादियों की ओर अधिक हुआ फलस्वरूप अराजकवादी आन्दोलन की गति मन्द पड़ गयी।

(५) अराजकवादियों ने हिंसात्मक भीषण क्रांतियों में कार्य करना प्रारंभ कर दिया जिससे जनता में हाहाकार मच गया। वह राजनियमों का सशस्त्र विरोध करने लगे जिससे इस आन्दोलन की गति पर हानिकारक प्रभाव पड़ा। अमेरिका आदि देशों में जहां इनका प्रभाव अधिक था, बड़े-बड़े उपद्रव हुए जिनमें अराजकवादियों का भाग अधिक था। फलतः जनता अराजकवादी विचारों से घृणा करने लगी।

प्रथम संसार महासमर में अराजकवादियों के आन्दोलन का प्रायः अन्त होचुका था परन्तु स्पेन आदि देशों में यह आन्दोलन द्वितीय महासमर तक चलता रहा। द्वितीय महासमर में अराजकवादी अपने देश के हितसाधन के लिए समाजवादियों तथा साम्यवादियों से मिल गये और

इस प्रकार अराजकवादी आन्दोलन का पूर्णतयः पतन होगया।

अब अराजकवादी आन्दोलन महत्वहीन हो चुका है। इसके सिद्धान्तों की पूर्ण आलोचना हो चुकी है और इस दल का नाश हो चुका है। राजनीति विज्ञान में अब अराजकवाद प्राचीनवाद हो गया है।

विशेष अध्ययन के लिए देखिये:

यच० सीसिल — लिबर्टी एन्ड औथोरिटी
ए० हरबर्ट — ाँ राइट एन्ड रौंग ऑफ कम्पलशन बाई स्टेट
डब्ल० यस० मैक्केचायन— दॉ स्टेट एन्ड दी इन्डीवीडुअल
टी० मैके — ए प्ली फॉर लिबर्टी
यफ० सी० मान्टेग्यू — दॉ लिमिट ऑफ इन्डीवीडुअल लिबर्टी
डी० जी० रिशी — प्रिंसिपिल्स ऑफ स्टेट इन्टरफीयरेन्स
सी० ई० मेरियन — हिस्ट्री ऑफ दा थ्यौरी ऑफ सावरेन्टी सिन्स रूसो
यफ० जे० सी० हर्नशा — दॉ सोशल एन्ड पौलीटिकल थिकर्स ऑफ दा रिवोल्यूशनरी ईरा
प्राउधान — ह्वाट इज़ प्रापर्टी
यफ० के० ब्राउन — लाइफ ऑफ विलियम गॉडविन
आर० जी० गैटिल — हिस्ट्री ऑफ पौलिटिकल थॉट
सी० के० पाल — विलीयम गॉडविन, हिज फ्रैन्डस एड कन्टेम्पोरेरीज
टी० यच० ग्रीन — प्रिंसिपल्स ऑफ पौलीटिकल औब्लीगेशन
जेम्स स्टुअर्ट मिल — ऑन लिबर्टी

अध्याय १८

फासीवाद

फासीवाद (Fascism) राजनीति विज्ञान का एक महत्वपूर्ण वाद रहा है। इस वाद का प्रारंभ हेगल के तार्किक सिद्धान्तों से हुआ। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् इटली तथा जर्मनी आदि देश ऋण के भारों से कराहने लगे। उनकी आन्तरिक अवस्था अस्त व्यस्त हो गयी। इटली को महायुद्ध में भाग लेने का कोई लाभ न रहा। संसार की राजनीति में उसका स्थान नगण्य रहा। अतः इटली के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह अपने को सशक्त बनाये। उस समय इटली में मुसोलिनी जैसा विद्वान तथा पथ प्रदर्शक उपस्थित था। मुसोलिनी ने देश की परिस्थिति सुधारने के लिए तथा उसकी शक्ति बढ़ाने के लिए फासीवादी (Fascist) सिद्धांतों का प्रचार किया और उन्हीं सिद्धान्तों के आधार पर देश के नवयुवकों का एक दल बनाया। वारसेलीज की सन्धि के पश्चात् इस मत का प्रचार बड़े वेग से हुआ और इटली के नवयुवक देश की मर्यादा के लिए संगठित हुए। इस वाद का विश्व-व्यापी महत्व मुसोलिनी के जीवन के साथ साथ प्रारम्भ हुआ और उसी के जीवन के साथ ही इस वाद का लय भी हुआ।

फासीवाद (Fascism) एक प्रकार का उग्र सर्वाधिकारवादी आन्दोलन था। इस आन्दोलन का फासीवाद (Fascism) नाम इसके विरोधियों ने दिया। फासीवाद शब्द की उत्पत्ति लैटिन के Fascio से हुई और उसका अर्थ होता है 'समूह' अथवा 'गट्ठर'। फासीवादी दल बड़ा सुव्यवस्थित तथा शक्तिशाली था। इस दल का संगठन बड़ा सशक्त था अतः इसके विरोधियों ने इस दल को फासीदल (Fascist Party) के नाम से सम्बोधित किया और उसी के अनुसार इस मत का नाम Fascism (फासीवाद) पड़ा। यह आन्दोलन सर्वाधिकारवादी है। योरोप की भूमि पर सर्वाधिकारवादी आन्दोलन तीव्र रूप में आया। रूस में बोलशेविक मतवाद के रूप में, जर्मनी में नाजीवाद के रूप में तथा इटली में फासीवाद के रूप में बोलशेविक मतवाद (Bolshevism) तथा फासीवाद में महान् अंतर है परन्तु फासीवाद (Fascism) तथा नाजीवाद (Nazism) में अन्तर अधिक नहीं है। फासीवाद (Fascism) तथा नाजीवाद (Nazism) में

कोई सैद्धांतिक मतभेद नहीं है। एक ही मत इटली में फासीवाद (Fascism) तथा जर्मनी में नाजीवाद (Nazism) के नाम से पुकारा गया है। पिछले महायुद्ध में फासी तथा नाजीवादी देश धुरी (Axis) शक्तियों में थे और इन्होंने अपने अस्तित्व के लिए संसार के अन्य समस्त देशों से युद्ध किया। द्वितीय संसार समर में धुरी शक्तियों (Axis powers) की पराजय तथा विपक्षियों की जय हुई। रूसने सहायक शक्तियों (Allied powers) का साथ दिया। पराजय के साथ साथ नाजी तथा फासीदल की भी समाप्ति हो गई। नाजी तथा फासीवादी दलों पर प्रतिबन्ध लग गया। इन दोनों दलों के साथ साथ यह दोनों वाद भी समाप्त होगये। एक राजनीति-वैज्ञानिक के लिए यह आवश्यक है कि वह फासीवाद (Fascism) तथा नाजीवाद (Nazism) का सूक्ष्म निरीक्षण करे और उसकी विशेषताओं तथा कुरीतियों से शिक्षा ग्रहण करे। इस छोटे से अध्याय में हम फासीवाद (Fascism) की मीमांसा करेंगे और यह पता लगायेंगे कि इस सिद्धान्त के उत्थान तथा पतन के क्या कारण थे? इस आन्दोलन की विशेषताएँ क्या थीं? उससे समाज को क्या हानि और क्या लाभ हुए?

फासीवादका उदय—(Rise of Fascism) प्रथम महायुद्धमें इटलीने जर्मनी के विरुद्ध सहायक शक्तियों का साथ दिया था। पांच साल के भीषण समर के पश्चात जर्मनी की पराजय तथा सहायक शक्तियों की विजय हुई। सारा योरोप ऋण के भार से दब गया। मित्रराष्ट्रों ने वारसेलीज में जर्मनी से संधि की जिसमें जर्मन उपनिवेशों तथा संग्राम से बचे हुए पदार्थों का वितरण हुआ। सहायक शक्तियों में इंगलैंड, अमेरिका फ्रांस तथा रूस मुख्य थे। संधि में वितरण निष्पक्ष न हुआ। इंगलैंड, अमेरिका तथा फ्रांस ने अपनी अपनी सुविधा देखी और जर्मनी का समस्त उपनिवेश इन्हीं तीनों देशों ने ले लिया। इटली को कोई भी उपनिवेश न मिला। संग्राम से बचे हुए पदार्थों से भी इटली को कोई लाभ न हुआ। इटली ने सहायक शक्तियों का साथ दिया परन्तु सहायक शक्तियां इतनी स्वार्थी निकलीं कि अपने सहायकों का तनिक भी ध्यान न दिया। इस घटना से इटली की जनता को असंतोष हुआ और अपनी दशा पर जनता को ग्लानि उत्पन्न हुई। जनता में संगठन करने की तथा अपने देश को सशक्त बनाने की भावना जागृत हुई। अतः वारसेलीज की संधि फासीवाद के विकास का सर्वप्रथम कारण है।

इटली निवासी सदैव से ही अध्यातमवादी थे। इटली निवासियों की

प्रकृति है कि वह अपना आदर्श आध्यात्मिक तथा उच्चतम कोटिका बनायें। उस समय की समाजवादी व्यवस्था उनकी प्रकृति के विरुद्ध थी। कार्लमार्क्स के भौतिक वादी विचारों से वे संतुष्ट न थे। वे समाजवादी उग्र अर्थनीति को भी नहीं अपनाना चाहते थे। साम्यवाद (Communism) की साम्य व्यवस्था उनको प्रिय न थी। अपने देश में वे आर्थिक सुधार तो अवश्य चाहते थे परन्तु समाजवादी नीति के अनुसार नहीं। वर्ग संघर्ष के मूल रूप को भी स्वीकार करने से वे नहीं घबराते थे परन्तु साम्यवाद की उग्रनीति इटली के कोमल हृदय वाली जनता को प्रिय न थी। अतः उन्होंने साम्यवादी नीतिका अनुसरण किया।

बारहवीं तथा तेरहवीं शताब्दी में इटली एक व्यवसायिक देश था। वह योरोप के अन्य देशों से अधिक सम्पन्न था। योरोप के समस्त व्यवसाय का इटली केन्द्र था। इटली ही योरोप का धर्म गुरू भी था। जनता अभी उस गौरव को भूल न सकी थी। उसकी स्मृति पटपर वे स्वर्णिम युग यदा कदा आभासित हुआ करते थे। इटली निवासी अभी अपनी गुरुता का विस्मरण न कर सके थे। उनमें उस युग की पुनस्थापना के स्वप्न थे और वह केवल इटली के लिए प्राणों की भेंट देने से सम्भव हो सकता था। वे किसी भी समय अपने देश के गौरव के लिए अपने प्राण अर्पित करने के लिए प्रस्तुत थे। यही कारण है कि इटली निवासी की पुकार पर अपने प्राणों की बलि देने के लिए सन्नद्ध हुए। मुसोलिनी फासीवादी (Fascist) विचारों के पूर्व ही इटली भूमि उनके लिए एक देवी थी और वे उसके लिए सदैव कटिवद्ध थे।

इटली यद्यपि एक कृषि प्रधान देश था परन्तु व्यवसायिक देशों के सम्पर्क में रहने के कारण इटली में भी औद्योगिक कलाओं का विकास हुआ था। अन्य उन्नत देशों की भांति उसे भी उपनिवेश की आवश्यकता थी। अन्त में मसोलिनी की छत्र छाया में इटली निवासी अपने देश का गौरव बढ़ाने के लिए प्रस्तुत हुए। इस प्रकार फासीदल के साथ-साथ फासीवाद भी विकसित हुआ।

मुसोलिनी अपने जीवन के प्रारम्भ काल में सोरेल (Sorel) की शिक्षा से अत्यंत प्रभावित था। वह वर्ग संघर्ष तथा हड़ताल आदि का पूर्णविश्वासी था परन्तु वारसेलीज की संधि के पश्चात् उसका विचार परिवर्तित हो गया। प्रथम अगस्त १९२२ की हड़ताल ने मुसोलिनी को अपना भाग्य बनाने का पूर्ण सुअवसर प्रदान किया। इस हड़ताल के अवसर पर मुसोलिनी तथा फासीदल के अन्य स्वयं सेवकोंने जनता की भरपूर सहायता की, और जनता का उन्होंने विश्वास पालिया।

१९२२ ई० के अक्तूबर मास में मुसोलिनी ने रोम पर अपना अधिकार

प्राप्त कर लिया रेल, तार तथा अन्य सार्वजनिक विभागोंपर मुसोलिनी ने अपना प्रभुत्व प्राप्त कर लिया। यह सब प्रायः शान्ति पूर्ण कार्य थे। सरकार मुसोलिनी का कुछ न कर सकी और उसके अधिकारियों ने त्याग पत्र समर्पित कर दिये। इटली के राजाने मुसोलिनी को अपनी सरकार स्थापित करने के लिए आमन्त्रित किया जिसे मुसोलिनी ने सहर्ष स्वीकार कर लिया और ३० अक्तूबर १९२२ को मुसोलिनी ने फासीवादी सरकार की स्थापना की और उसी दिन से वह इटली का निर्विघ्न संचालक रहा।

आन्दोलन के प्रारम्भिक दिनों में मुसोलिनी के पास कोई कार्य क्रम न था अतः शक्ति प्राप्त करते ही उसने घोषणा कर दी कि टली को किसी प्रकार के कार्यक्रम की आवश्यकता नहीं है बल्कि उसे कार्य की आवश्यकता है। प्रारम्भ में उसने अपने मन्त्रिमंडल में सभी दल के नेताओं को स्थान दिया था परन्तु तदनन्तर उसने सभी राजनैतिक दलों को कुचल दिया और इटली की भूमि पर १९२६ के पश्चात् केवल फासीवादी दल ही रह गया। अपने दलका सर्वोच्च नेता होने के कारण वह इटली का पूर्ण अधिकारी बन गया। मुसोलिनी अपने जीवन पर्यन्त फासीदल का तथा इटली का नता रहा। उसकी मृत्यु के उपरान्त इटली की पराजय हुई और फासीदल पर प्रतिबन्ध लग गया।

फासीवाद-सिद्धान्त (Ideology of Fascism)—यद्यपि फासीवाद द्वितीय महायुद्ध के पूर्व तीव्र प्रगति में था और संसार के आकर्षण का केन्द्र बना था। जनता फासीवाद के ज्ञान के लिए बड़ी उत्सुक थी। विद्वानों ने भी फासीवाद के सिद्धान्तों को समझने की चेष्टा की। परन्तु ने फासीवाद के दर्शन को न समझ सके। दार्शनिकों को फासीवाद का कोई सुव्यवस्थित सिद्धान्त न मिला। फासीवाद, अपने युग के लिए एक नवीन वाद था। इस वाद के समस्त सिद्धांत राष्ट्र कर्तव्य (National Action) केरूपमें थे। राष्ट्र कर्तव्य का केन्द्र था। फासीवाद राष्ट्र के लिए महान से महान त्याग करने के लिए प्रस्तुत था। फासीवाद (Fascism) व्यक्तिवाद (Individualism) तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता का विरोधी था। फासीवादी विचारों के अनुकूल व्यक्ति राष्ट्र से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। राष्ट्र के लिए कोई मनुष्य तथा समुदाय न्यौछावर किया जा सकता है। मनुष्य जीवन का मूल्य तभी तक है जब तक कि वह राष्ट्र का एक प्राणी है। फासीवाद को यदि हम अराजकवाद का विलोम कहें तो अत्यंत उपयुक्त होगा। यदि अराजकवाद मनुष्य की स्वतंत्रता के सन्मुख राष्ट्र का कोई महत्व नहीं रखता तो फासीवाद ठीक उसी के विपरीत राष्ट्र के हित के लिए मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन का कोई महत्व नहीं रखता। फासीवाद (Fascism) पूंजीवाद (Capitalism) का

भी विरोधी हैं। फासीवाद पूंजीवादियों को उसी सीमा के अन्तर्गत स्वीकार कर सकता है जिससे देश तथा राष्ट्र का हित हो। फासीवाद पूंजीपतियों के मनमाने कर्मों का विरोध करता है। वे अपनी पूंजी को केवल स्वार्थ का साधन नहीं बना सकते। उनका कर्तव्य है कि वे देश के हित के लिए अधिक से अधिक उत्पादन करें। यदि कोई पूंजीपति ऐसा करने में असमर्थ है तो उसे उसका दण्ड भोगना पड़ेगा। राष्ट्र उसे दण्ड देगा। फासीवाद अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद का भी विरोधी है। फासीवादियों के विचार से अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद केवल कल्पना मात्र है। युद्ध प्रकृतिका एक नियम है और इसका निवारण कभी भी नहीं हो सकता। प्रत्येक राष्ट्र का कर्तव्य है कि वह अपनी शक्ति को बढ़ाये। यदि उसे अपने साधन में आवश्यकता पड़े तो युद्ध भी करे। विश्व सुख मूर्खों की एक कल्पना है। इस संसार में न कभी शान्ति थी और न भविष्य में कभी रहेगी। प्रजातंत्र शासन से देश की आवश्यकता कभी भी पूरी नहीं हो सकती। अतः प्रजातंत्र शासन उन्नति का बाधक है। फासीवाद का सबसे बड़ा विरोध साम्यवाद (Communism) से है। साम्यवाद वर्ग संघर्ष के सिद्धान्तों को तो फासीवाद (Fascism) स्वीकार करता है परन्तु उसकी शासन पद्धति तथा कार्य व्यवस्था का फासीवाद (Fascism) घोर विरोधी है। साम्यवाद पूंजीपतियों तथा श्रमिकों में भेद डालता है और इस प्रकार राष्ट्र के कार्य में तथा उसकी उन्नति में बाधा उत्पन्न करता है। इसलिए साम्यवादी विचारों को किसी राष्ट्र में स्थान नहीं मिलना चाहिए। दूसरे साम्यवाद (Communism) श्रमिक सत्तात्मक राज्य की व्यवस्था करता है जो एक उन्नत राष्ट्र के लिए उपयोगी न होगा।

फासीवाद (Fascism) राष्ट्र के घोर कर्म में विश्वास करता है। मुसोलिनीने स्वयम् लिखा है कि फासीवाद (Fascism) एक धार्मिक धारणा "जिसमें मनुष्य का संबंध उच्चतर नियमों के साथ हो जाता है उसे एक प्रकारका मनोबल प्राप्त होता है जिसके द्वारा वह आध्यात्मिक समाज का एक सदस्य बन जाता है। उसे उस आध्यात्मिक समाज से जागृति प्राप्त होती है। फासीवाद की इस स्थान पर भौतिकवादी मार्क्सवादसे पृथकता स्पष्ट"। फासीवादी राष्ट्र को आध्यात्मिक दृष्टि से देखता है। उसके लिये राष्ट्र एक देवता है। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य उस राष्ट्र देवता की सेवा करना है। मनुष्य के समस्त अधिकार उस देवता के दान है। राष्ट्र दवता यदि किसी मनुष्य के प्राणों की इच्छा करे तो मनुष्य का कर्तव्य है कि उसे अपनी बलि दे।

१९१९ के एक वक्तव्य में मुसोलिनी कहता है कि हमने अपने प्रत्येक विरोधी का नाश कर दिया है। प्रत्येक सिद्धांत को अस्वीकार कर दिया है और

प्रत्येक सुख-स्वप्न का त्याग कर दिया है। स्वच्छ, काले तथा लाल प्रत्येक के प्रलोभनों को हमने मानवता के लिये ठुकरा दिया है। हमें किसी भी प्रकार के नियम में विश्वास नहीं है और न हम स्वर्ग तथा मुक्ति में ही विश्वास करते हैं। हमें केवल मनुष्य के सुख की चिंता है। हम मनुष्य मात्र की स्वतंत्रता, जीवन तथा सुख की कामना करते हैं। उनके प्रत्येक सुख तथा सुविधा का हमें ध्यान रहता है। हम उन समस्त कठिनाइयों तथा दोषों से युद्ध करने को प्रस्तुत हैं जो उसके मार्ग के बाधक हैं। आधुनिक काल में दो धर्म हमारे मस्तिष्क में अन्दोलन मचाये हुए हैं। एक लाल धर्म है दूसरा काला है। यह दोनों धर्म संसार में अपना प्रभुत्व पाने की चेष्टा कर रहे है। लाल धर्म का केन्द्र मास्को में है और काले धर्म का रोम में। हम इन दोनों धर्मों को पैरों से ठुकराते हैं। *

फासीवाद का विश्वास है कि मनुष्य किसी कार्य को भावना तथा कल्पना द्वारा प्रेरित होकर करता है। मनुष्य यह नहीं चाहता कि मैं अपनी सरकार स्वयं बनाऊँ और अपनी व्यवस्था स्वयं करूँ। वह केवल इतना ही चाहता है कि मैं किस प्रकार अपने जीवन को अधिक सुखमय बनाऊँ? इसलिये वह अपने जीविकोपयोगी साधनों में प्रवृत्त होता है। मनुष्य स्वयं इस योग्य भी नहीं है कि वह अपनी व्यवस्था कर सके। इसे सदैव अपनी व्यवस्था के लिए योग्यतम मनुष्यों की आवश्यकता है। साम्यवादियों का सिद्धांत भ्रम मूलक है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रमजीवी आन्दोलन की कल्पना विनाशकारी है। अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन का सिद्धांत असत्य है। इस प्रकार का आन्दोलन कभी भी संभव नहीं हो सकता। यहां ध्यान देने की आवश्यकता है कि इटली की भूमि पर कभी भी प्रजातन्त्रवाद सफल नहीं हुआ था और इटली निवासियों में प्रजातन्त्रात्मक शासन के भी गुण कभी भी जागृत नहीं हुए थे। उनके लिए उपयुक्त बातें नवीन न थीं। सदैव से एकतन्त्रात्मक शासन की ओर उनकी प्रवृति रही है।

इटली की भूमिपर प्रजातन्त्र सदैव ही असफल रहा है। उस भूमिपर इंगलैंड की शासन-पद्धति कभी भी सफल नहीं हो सकी है। अतः फासीवाद को इटली में पनपने का पूर्ण अवकाश मिला। फासीवाद विरोधी दल को कभी भी नहीं सहन कर सकता था। जिस किसी ने फासीवादी सिद्धान्तों की आलोचना की अथवा उसकी कार्य व्यवस्था तथा कार्यक्रम के दोष दिखलाये वही राष्ट्र का शत्रु हो गया। (Matteotti) मेटियोटी की मृत्यु इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। फासीवाद इस प्रकार एकतंत्र सत्तावादी था। उत्पादक तथा व्यवसायिक संस्थाओं को कुछ अंश में स्वतंत्रता प्राप्त थी।

---

* आर० एच० एस० क्रासमैन द्वारा उद्धृत op. cit. p. 268

फासीवाद घोर राष्ट्रवादी था परन्तु फासीवाद की राष्ट्रीयता बड़ी संकुचित तथा सीमित थी। फासीवाद राष्ट्रहित साधन के लिए युद्धकी प्रत्यक्ष घोषणा करता था। वे राष्ट्रहित के लिए (Machiavelli) मैकियाविली के सिद्धान्तों को मानते थे। राष्ट्र के लिए किसी भी प्रकार का कर्म दूषित तथा हेय नहीं था। फासीवाद की प्रत्यक्ष घोषणा थी कि भूमध्य सागर पर इटली का अधिकार होना चाहिए। इसी आधार पर इटलीने अबीसीनिया के प्रति युद्ध छेड़ा था। अबीसीनिया पर विजय प्राप्त करने के लिए टली निवासियों ने बड़े भीषण अत्याचार किये। फासीवाद का राष्ट्रवाद इतना संकुचित था कि वह संसार की शांति का घातक बन गया। मुसोलिनी के विचार से, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति कायरों का एक स्वप्न था। साम्राज्यवाद जीवन प्राकृतिक नियम था। मुसोलिनी का कहना था कि इटली का विस्तार इटली के लिए जीवन तथा मरण का प्रश्न है। इटली के लिए केवल दो मार्ग हैं। एक विस्तार का और द्वितीय मृत्यु का।"

फासीवादी इटली में स्त्रियों का महत्व बच्चा उत्पन्न करने तक सीमित था। फासीवाद जैसे आन्दोलन के लिए यह आवश्यक था कि वह एक सुदृढ़ सेना का संगठन करे अतः इटली में उस स्त्री का महत्व अधिक था जो बच्चे अधिक पैदा कर सकती थी। कारण यह कि उन बच्चों पर इटली का भविष्य निर्भर करता था। अधिक बच्चे पैदा करनेवाली स्त्रियों को सरकारकी ओरसे पुरस्कार प्रदान किये जाते थे। अविवाहित मनुष्यों पर कर अधिक लगता था और विवाहितों पर कम। परन्तु इतना होने पर भी अधिकांश अविवाहित जीवन की अभिलाषा करते थे। जनवृद्धि के लिए प्रत्येक उपाय उपयुक्त होते थे परन्तु फिर भी भारतवर्ष की भांति वेश्यायों की दूकान नहीं होती थी। सरकारी आज्ञा थी कि समाज में प्रत्यक्ष व्यभिचार नहीं किया जा सकता। भारत के लिये तो वह बड़ी ही लज्जा जनक बात है कि स्वतंत्रता प्राप्त होने पर भी वेश्याओं की दूकानें खुली हुई हैं।

फासीवादी इटली में चर्च (church) का एक महत्व पूर्ण स्थान था। चर्च देश की मित्र संस्था थी। यद्यपि मुसोलिनी का ईश्वर में कोई विश्वास नहीं था। परन्तु देश हितके लिए यह आवश्यक था कि वह चर्च को अपना मित्र बनाये, फासीदल (Fascists) विश्वासियों की एक सेना समझी जाती थी। चर्च से अपना सम्बन्ध स्थापित करने के लिए फासीवादियों ने चर्च से संधियां भी की थीं। इस संधिका मूल कारण यह था कि चर्च की सहायता के बिना फासीवाद इटली में कभी पनप ही नहीं सकता था। टली निवासी प्रथम आध्यात्मिक फिर और कुछ होते हैं। अतः फासीदल (Fascists) के लिए यह आवश्यक था कि वह चर्च को अपना मित्र बनाये।

फासीवाद (Fascism) की एक विशेषता और भी है वह है फासीवाद का (monarchy) राजतन्त्र में विश्वास । मुसोलिनी जब शक्ति में आया तो उसने राजा के प्रति कृतज्ञ रहने की प्रतिज्ञा की । इस प्रकार जो मुसोलिनी किसी समयमें समाजवादी नेता था और जनता को समाजवादी सिद्धान्तों की शिक्षा देता था अवसर पाकर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए राज तन्त्र का पक्षपाती हो गया । इसे हम फासीवाद की अवसरवादिता कहें अथवा उसकी राजतन्त्र में भक्ति, कुछ निश्चय नहीं किया जा सकता ।

फासीवादी आर्थिक कार्यक्रम (The Fascist Economic Programme)— फासीदल (Fascist Party) जिस समय शक्ति में आया उस समय इटली की अवस्था ठीक न थी । बाह्य सम्बन्ध में इटली की कोई गणना न थी । बाह्य सम्बन्ध से भी अधिक भयानक इटली की आन्तरिक अवस्था थी । अनेक दलबन्दियां थीं । जनता का विश्वास सरकार से हट गया था । देश पर ऋण का भार लदा हुआ था । देश में साम्यवादी शक्तियां वर्ग संघर्ष का पाठ पढ़ा रही थीं जिससे अनेक स्थानों पर हड़ताल आ करती थी । देश की उत्पत्ति कम हो गई थी । अतः फासीवादी दल का प्रथम कर्तव्य यह था कि वह देश की उत्पत्तिको बढ़ाये । उसकी आंतरिक शक्तियों में अच्छे सम्बन्ध स्थापित करे । श्रमजीवी तथा पूंजीपतियों में सुन्दर सम्बन्ध स्थापित करे जिससे देश की उत्पादन शक्ति बढ़े । संसार में इटली की मर्यादा बढ़ाये ।

फासीवादी दल (Fascist Party) में प्रायः मध्यमवर्ग (middle class) के लोग सम्मिलित थे जो अपनी पूंजी तथा अन्य अधिकारों को सार्वजनिक हित के लिए त्यागने को प्रस्तुत थे अतः इन्हीं लोगों की सम्मति से फासीवाद के समस्त कार्य क्रम बनाये गये । मध्यम वर्ग ने यह प्रस्ताव किया कि व्यक्तिगत पूंजी की रक्षा की जाय और उसी के अनुसार देश के समस्त पूंजीपतियों को संगठित किया गया । देश के श्रमिक आन्दोलन को कुचल दिया गया । उनके पत्र तथा पत्रिकायें बन्द कर दी गईं । उनके प्रत्येक संगठन को कुचलने का प्रयत्न किया गया ।

फासीवाद का कार्यक्रम यह नहीं था कि देश के श्रमिक आन्दोलन को कुचल कर पूंजीपतियों के प्रभुत्व को स्थापित किया जाय । श्रमिक आन्दोलन को केवल इसलिए दबाया गया था जिससे देश के पूंजीपति उत्पादन कार्य में अपनी पूंजी, अधिक से अधिक लगायें और देश की उत्पादन शक्ति बढ़े । वर्ग संघर्ष उग्र न हो सके । फासीवादियों का प्रयत्न यह था कि पूंजीपति तथा श्रमिकों को ऐसे सूत्र में बांधा जाय जिससे देश की उत्पादन शक्ति इतनी बढ़ जाय कि वह स्वावलम्बी

हो जाय। संसार में इटली की मर्यादा रखने के लिए यह आवश्यक था। डाक्टर रामने फासीवादी दल की इस नीति को निम्न शब्दों में लिखा है। "राष्ट्रीय स्वावलम्बन के कार्य क्रम में किसानों को आर्थिक सहायता, हस्तकलाकरों को प्रोत्साहन तथा छोटे व्यवसायियों की रक्षा सम्मिलित है। यह कार्यक्रम देशके प्रबन्ध तथा राष्ट्र की रक्षा के लिए जन उपयोगी साधनों का राष्ट्रीय करण भी चाहता है। स्वावलम्बी राष्ट्रके निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने बाह्य व्यवसायों पर नियंत्रण रखे। उत्पादन के विशेष पदार्थों को सीमित करके, स्थानीय तथा स्वावलंबी आर्थिक शक्ति को प्रोत्साहन देकरके, प्रमुख उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करके तथा बाह्य व्यवसाय पर नियंत्रण रखके स्वावलम्बी राष्ट्र आर्थिक शक्ति को, अपनी ही सीमा तक सीमित * रखेगा। इस लक्ष को प्राप्त करने के लिए पूंजीपतियों तथा भूपतियों का पक्ष ग्रहण करना स्वाभाविक था।

फासीवाद इस प्रकार बड़े-बड़े पूंजीपतियों के पक्ष में अधिक था और छोटे पूंजीपतियों तथा श्रमिकों के पक्ष में कम। एक ओर फासीवादने पूंजीपतियों पर नियंत्रण लगाया कि वह देश की उत्पादन शक्ति का उपयोग केवल स्वार्थ के लिए न कर सके और दूसरी ओर श्रमिकोंपर यह प्रतिबन्ध लगाया कि वह अपने कार्य को स्थगित न कर सकें। पूंजीपतियों के लिए नियम बनाये गये। यदि वे किसी उद्योग को ठीक रूपसे नहीं चला सकते थे तो उनसे वह उद्योग छीन लिया जाता था चाहे वह कोई कृषि उद्योग हो अथवा कोई अन्य उद्योग हो। रेल, तार बिजली घरों तथा यातायात के अन्य साधनों का राष्ट्रीयकरण किया गया। यदि किसी पूंजीपति का उद्योग सुचारू रूप से नहीं चल रहा है तो वह राष्ट्र की सम्पति बन जायगी और राष्ट्र उस उद्योग को चलायेगा। श्रमिकों के लिए भी नियम बन गये कि वह किसी भी उद्योग को स्थगित नहीं कर सकते। अकारण किसी कार्य को स्थगित करना देश-द्रोह था। श्रमिकों को इस देश-द्रोह के लिए कठिन से कठिन दण्ड दिये जाते थे। श्रम को उचित रूप से चलाने के लिए राज आज्ञा बनाई गई जिसे श्रम-राजपत्र (Labour charter) कहते हैं। श्रम-राजपत्र (Labour charter) का कुछ उद्धरण दे देना यहां के लिए अनुपयुक्त नहीं होगा।

"प्रथम धारा (Article I) इटली का राष्ट्र एक प्रकार का प्राणी है जिसका एक विशेष उद्देश्य तथा जीवन है। इसके अंग उन मनुष्यों के व्यक्तिगत अंग से और उनके व्यक्तिगत जीवन से अधिक उच्च तथा महत्वपूर्ण हैं जिनके द्वारा

* State in relation to labour in India.

यह राष्ट्र निर्मित है। फासीवादी राष्ट्र राजनीतिकता आर्थिकता तथा आध्यात्मिकता की एक मिश्रित इकाई है।"

"द्वितीय धारा (Article II) प्रत्येक प्रकार का श्रम चाहे वह शारीरिक हो अथवा मानसिक एक प्रकार का कर्तव्य है। और केवल इसी कारण से राष्ट्र के प्रबंध के अन्तर्गत आता है। राष्ट्रीय विचार से प्रत्येक प्रकार की उत्पत्ति राष्ट्रों की शक्ति बढ़ाने के लिये तथा उत्पादकों के हित के लिये होती है। *

इस राज पत्र के उपर्युक्त विषयों में हम देखेंगे कि श्रमिकों का विशष ध्यान दिया गया है और उनके श्रमका विचार किया गया है। परन्तु यह सब केवल इसीलिए था कि तत्कालीन वर्ग संघर्ष अधिक उग्र न हो सके। श्रमिकों की रक्षा के लिए पूंजीपतियों के विरुद्ध नियम बनाये गये। १९२६ अप्रैल ३ का नियम अपने १८वीं धारामें घोषित करता है कि जो स्वामी अकारण अपने व्यवसाय अथवा उद्योग धन्धा को केवल इसलिए स्थगित कर देता है कि श्रमिक अपने नियम पत्र को पुनः बनायें और अपने वेतन कम करने पर विवश हों तो राष्ट्र उसे १०,००० लायर से लेकर १००,०००लायर तकका दण्ड दे सकता है।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि फासीवाद पूंजीपतियों का पक्षपाती होते हुए भी देश के श्रमिकों का ध्यान रखता था।

फासीवाद के कुछ आलोचकों का मत है कि फासीवादी राष्ट्र में केवल श्रमिक तथा पूंजीपति हो सकते हैं, अन्य स्वतन्त्र व्यवसाय संगठित रूप में नहीं हो सकते। यह ठीक है कि फासीवादी राष्ट्र में बड़े-बड़े उद्योग धन्धों की ओर विशेष ध्यान दिया जाता है। परन्तु यह कहना कि बड़े व्यवसाय और उद्योगों पर केवल पूंजीपति ही अधिकार पा सकते हैं ठीक नहीं है। कितने ही व्यवसाय इटली में संगठित श्रमिकों द्वारा ही चलायें जाते थे। उनके लिए राष्ट्र ने अलग नियम बनाया था। कितने ही व्यापारिक संगठनों में श्रमिक तथा पूंजीपतियोंका स्वतंत्र सम्बन्ध होता था। इटली में व्यवसायिक समितियां न्याय युक्त समझी गई थीं और उनके लिए राष्ट्र ने एक नया विधान बनाया था। ये सब व्यवसायिक तथा औद्योगिक समितियां तथा संघ (syndicates and corporations) फासीवादी राष्ट्रके सहायक अंग समझे जाते थे। श्रम-राजपत्र (Labour charter) की छठीं धारा में (Article 6) में उनके कार्य निम्न प्रकार से लिखे गये हैं।

उनके श्रमिक तथा पूंजीपति न्याय के सम्मुख समान अधिकारी हैं। व शासन के नियमों का पालन करते हैं और देश की उत्पादन शक्ति में वृद्धि करते हैं। औद्योगिक संघ (Corporation) एक प्रकार से पूंजी तथा श्रम को संगठित करते हैं, और प्रत्येक हित का समन्वय करते हैं। औद्योगिक संघ (Corporations) देश की उत्पति बढा कर राष्ट्र का हित करते हैं, और पूंजीपति तथा श्रमिक दोनों वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं अतः यह संघ देश के नियमों द्वारा राष्ट्र के अंग स्वीकृत किये जाते हैं।"

१९२६ में १३ भिन्न प्रकार के व्यवसायिक संघों को राष्ट्रीय स्वीकृति प्राप्त हुई थी। १९२९ ई० तक इन संघों में ३,७९८,००० स्वामी, ८,०४८,००० तथा १४३,००० मानसिक कार्य करने वाले श्रमिक सम्मिलित हुए थे। इटलीमें व्यवसायिक संघोंका इतना महत्व था कि मंत्रिमंडलमें एक मंत्री केवल इस विभाग के लिए नियुक्त हुआ था। इन संघों के लिए नियम बनाना एक राष्ट्रीय सभा (National council) के हाथमें था। इस सभा के सदस्य भिन्न-भिन्न व्यवसायिक संघों (Syndicates) के द्वारा चुने जाते थे। प्रत्येक संघ अपना सदस्य अनुपात के अनुसार भेजता था। सदस्यों में श्रमिक तथा पूंजीपतियों का अनुपात बराबर होता था। इस सभा को बड़े-बड़े अधिकार प्राप्त थे। देश की आर्थिक आयोजना बनाने, आर्थिक नीति को निर्धारित करने तथा किसी आयोजन को चलाने तक का अधिकार इस सभा को था।

श्रमिकों की सुविधा के लिए अन्य भी उपयोगी नियम बनाय गय। उनका वेतन निश्चित मात्रा से कम नहीं हो सकता था। श्रम के समय सीमित कर दिये गये। नियमित श्रमसे अधिक कोई भी पूंजीपति बिना वेतन बढ़ाये श्रमिकोंसे काम नहीं ले सकता था। सप्ताह में श्रमिकों के लिए रविवार की छुट्टी निश्चित कर दी गयी थी। रविवार की छुट्टी के अतिरिवत उनको सप्ताह में एक दिन की आधी छुट्टी मिलती थी। उनकी शिक्षा तथा स्वास्थ्य का सरकार की ओर से प्रबन्ध हो गया। प्रत्येक श्रमिक को कार्य दिलाने में सरकार अपना उत्तरदायित्व समझती थी।

२९ मार्च सन१९२८ में श्रम विनिमय (Labour Exchange) का विभाग खोला गया जिसका नियमन एक सभा द्वारा होता था। इस सभाके सदस्य श्रमिक तथा पूंजीपति समान संख्यामें होते थे। व्यवसायिक संघ (Syndicate) के भी सदस्य उसके अनुपात के अनुसार होते थे। इस सभा का सभापति फासीवादी दल (Fascist party) का एक सदस्य होता था। परन्तु सभापति पदपर जब तक नियुक्त रहता था फासीवादी दल का किसी भी प्रकार पक्षपात

नहीं करता था। श्रम-विनिमय विभागका मंत्री व्यवसायिक संघ का सदस्य होता था। कारण यह था कि यह श्रमिकों की परिस्थिति का तत्कालीन ज्ञान रखता था और उन्हीं का यह एक सदस्य भी होता था। पूंजीपति जब किसी श्रमिक को कार्यच्युत करता था तो उसे श्रम-विनिमय (Labour Exchange) को पूर्ण विवरण देना पड़ता था। उसे कार्यच्युत करने का कारण भी देना पड़ता था। रिक्त स्थान पर उसे अन्य श्रमिक केवल श्रम विनिमय (Labour Exchange) विभाग से ही प्राप्त हो सकता था और उसे रिक्त स्थान की पूर्ति करनी पड़ती थी।

श्रम विनिमय विभाग (LabourExchange) का कर्तव्य यह था कि वह श्रमिकोंको श्रम प्राप्त करने में सुविधा प्रदान करे और पूंजीपतियों को योग्य श्रमिक दे। दोनों वर्गों में संघर्ष न उत्पन्न होने दे। श्रमिकों की तथा उनकी आवश्यकता की एक सूची बनाये जिससे उसी के अनुकूल श्रमिकोंकी शिक्षा हो सके। श्रम विनिमय विभाग (Labour Exchange) प्रत्येक श्रमिक को कार्य प्राप्त करने में सहायता देता था। और यथाशक्ति सभी श्रमिकों को कार्य दिलाता था। जिन श्रमिकों को कार्य नहीं मिलता था उनको राष्ट्र से जीविका मिलती थी। परन्तु यह जीविका पर्याप्त न थी। वृद्धों तथा बच्चों के लिए सरकार की ओर से कुछ सहायता मिलती थी। जिन श्रमिकों के कुटुम्ब बड़े थे उनको उसी अनुपात के अनुसार सरकार की ओर से सहायता मिलती थी।

श्रमिकों तथा पूंजीपतियों के विग्रह को सुलझाने के लिए श्रम-न्यायालयों (Labour Courts) की स्थापनाकी गई थी। श्रम न्यायालयमें तीन न्यायाधीश तथा दो नागरिक होते थे। केवल वही नागरिक श्रम न्यायालय (Labour court) के सदस्य होते थे जो श्रम तथा उत्पत्ति के विशेषज्ञ होते थे। स्वामी तथा श्रमिकों के झगड़े पहिले समझौते से निश्चित करने का प्रयत्न किया जाता था। यदि समझौतेसे विग्रह शान्त न होती तो श्रम-न्यायालय (Labour Court) द्वारा उसका न्याय होता था। व्यक्तिगत कलह श्रम न्यायालय (Labour Courts) में नहीं लाये जा सकते थे। केवल सामूहिक कलह ही इस न्यायालय में निश्चित होता था। इस न्यायालय की आज्ञा का पालन दोनों दलों के लिए आवश्यक होता था। आज्ञा की अवहेलना करने वाला दल राजदण्ड का भागी होता था। कलह साधारण रीति से ही शान्त हो जाता था। इस न्यायालय तक १९३९ में केवल दो ही झगड़े पहुंचे। प्रथम कलह धान के श्रमिकों की अपने स्वामियों मे थी जिसका न्याय २८ जून सन् १९२७ में हुआ था और द्वितीय कलह समुद्र-कर्मचारियों की थी जिसका निर्णय २८ जून १९२८ को हुआ था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि फासीवादी राष्ट्र देश की आर्थिक महत्ता पर अधिक ध्यान देता है और व्यक्तिगत आवश्यकता पर कम। वह साम्यवादी वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त में विश्वास करता है परन्तु उसका विश्वास है कि ऐसे संघर्ष का समन्वय भी सम्भव है। परस्पर दो विरोधी वर्गों में जिस प्रकार समझौता हो उसी प्रकार श्रमिक तथा पूंजीपतियों का भी समन्वय सम्भव हो सकता है। मुसोलिनी का कथन है कि वर्ग संघर्ष सम्पत्तिवान देशों की विलासिता है। इटली निर्धन देश है और उसे यह विलासिता स्वीकृत नहीं है। वर्ग संघर्ष हिंसक उपायों से कदापि नहीं शान्त हो सकता। एक वर्ग दूसरे वर्ग को कदापि नहीं मिटा सकता। अतः वर्ग संघर्ष को शान्त करने के लिए यह आवश्यक है कि दोनों दलों को समझाया जाय।

फासीवादी श्रम नीति की आलोचना—इस नीतिके आलोचक यह कहते हैं कि इस नीतिके कारण श्रमिकों का स्वतंत्र व्यवसायिक संघ राष्ट्रके कर्मचारियों के अन्तर्गत हो गया। भिन्न-भिन्न व्यवसायिक संघों की स्वतंत्रता छिन गई। फासीवादी राष्ट्र (Fascist State) में केवल एक दल की ही सरकार सदैव रहती है अतः स्वतंत्र व्यवसायिक संघ एक दलके निरंकुश शासन द्वारा शासित होते हैं। फासीवादी दलके विरुद्ध वे कोई कार्य नहीं कर सकते। राष्ट्र व्यवसायिक संघों से जिस प्रकार चाहता है उस प्रकार का कार्य लेता है। पूंजीपति तथा श्रमिक दोनों दलों को एक निश्चित नियम में बांधता है। उनको निश्चित नियमों पर चलने के लिए विवश करता है।

सामूहिक श्रम संसर्ग (Contract) श्रम की उन्नत प्रणालीका बाधक है। वह श्रम की श्रेणी को अवनत कर देता है। श्रमिकों की अवस्था को भी इस प्रकार का संसर्ग अवनत कर देता है। इस प्रणाली से श्रमिकों की शक्ति का क्षय तथा उनकी आर्थिक अवस्था का हनन होता है। उनके आर्थिक संकट बढ़ जाते हैं। श्रम न्यायालय (Labour Courts) एक प्रकार की निर्जीव संस्था है। यह संस्था श्रमिक आन्दोलन के वेग को हीन कर देती है। यह अर्थनीति आवश्यकता से अधिक केन्द्रीय करण का पक्ष करती है जिससे देश की जनता का विकास रुक जाता है। इस नीति से देश के नवयुवकों की नेतृत्व शक्ति का ह्रास होता है।

विशेष अध्ययन के लिए देखिये—

एच० ई० गोड — ह्वाट इज फासिज्म
गिसेप— फासिज्म
पी० एन० राय — मुसोलिनी एन्ड दा कल्ट आफ इटालियन यूथ
जे० एस० बार्नस — यूनीवर्सल आस्पेक्ट्स आफ फासिज्म
सर फ० फाक्स — इटली टुडे
एच० ई० गोड — दा मेकिंग आफ कारपोरेटिव स्टेट
सी० म० कासवेल — दा सिस्टम आफ फासिज्म
एम० डब्लू० ह्वावर्ड — फासिज्म : ए चैलेंज टू डिमोक्रेसी
बी० मुसोलिनी — माई आटोबायोग्राफी
बी० एम० शर्मा — मुसोलिनी
जी० ि० गैरट — मुसोलिनीज् रोमन एम्पायर
च० फाइनर — मुसोलिनीज् इटली
डब्लू० वाई० इलियट— दा प्रागमेटिक रिवाल्ट इन पालिटिक्स

———

अध्याय १६

नाज़ीवाद

नाज़ीवाद के आविर्भाव के कारण—प्रकृति अत्यन्त नियमबद्ध है। प्रकृति का प्रत्येक कार्य किसी न किसी कारण के साथ है। प्रथम महासमर के पश्चात् बहुत समय तक जर्मन देश अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों द्वारा पदाक्रांत था। किसी को स्वप्न में भी यह आशा न थी कि यह पद-दलित देश पुनः संसार की संयुक्त शक्तियों के सम्मुख सिंह की भांति गर्जन करेगा। परन्तु जैसी किसी को आशा न थी वैसा ही हुआ। जर्मन देश जो महासमर के पश्चात् निर्जीव बना दिया गया था समय और अवसर की औषधि पाकर जीवित हो उठा। जर्मनी ने अपने पुनर्जीवनकाल में कुछ नवीन सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया। इस परिच्छद में हम भी उसी नवीन सिद्धान्त की समीक्षा करेंगे। सर्व-प्रथम हम उन कारणों का विवेचन करेंगे जिनके कारण मृतप्राय जर्मन राष्ट्र पुनः जीवित हो उठा और जिसके द्वारा नवीन सिद्धांतों का प्रति पालन हुआ। इन्हीं नवीन सिद्धान्तों को हम नाजीवाद के नाम से पुकारते हैं। नाजीवाद जर्मनी के उत्थान के लिए उतना ही आवश्यक था जितना मछली के लिए जल। जर्मनी के लिए यह आवश्यक हो गया था कि वह बर्साई की संधि के विरुद्ध अपना पैर बढ़ाये और इस प्रतिक्रिया के लिए नाजीवाद का होना अनिवार्य था। नाजीवाद की उग्रता का कारण हिटलर की स्वेच्छा न थी वरन् देश की परिस्थिति थी। देश की विषम परिस्थितियों के निवारण के लिए यह आवश्यक था कि भूतपू॰ जर्मन राष्ट्र-पिता हिटलर किसी उग्र नीति का अनु-अनुसरण करे।

वर्साई की संधि के पश्चात् जर्मन देश को महान् आर्थिक संकट ने आ घेरा। जर्मनी एक उद्योग प्रधान देश था। वहां की अधिकांश भूमि अनुपजाऊ है। देश में जंगल पहाड़ अधिक हैं। केवल कुछ भागों में कृषि होती है। खाद्यान्न समस्त जनता के लिए नहीं उत्पन्न होता। खाद्यान्न विदेशों से मंगाना पड़ता है। दिए हुए मानचित्र पर आप देखेंगे कि १९१९ की शांति संधि के अनुसार जर्मनी के प्रमुख औद्योगिक केन्द्र जर्मनी से

निकाल कर अन्य देशों को दे दिये गये। डानजिग जो जर्मनी का प्रमुख बन्दरगाह था अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार में कर लिया गया। जर्मनी की प्रमुख नदियां जिनके द्वारा जलयात्रा की जा सकती थी अन्तर्राष्ट्रीय आधिपत्य में आगईं। जर्मनी के समस्त उपनिवेश विजता राष्ट्रों ने आपस में बांट लिए। एक ओर जर्मनी के प्रधान औद्योगिक देश छीन लिए गये, देश के प्रमुख यातायात के साधनों का अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर लिया गया और दूसरी ओर जर्मनी के हाट (बाजार) भी उससे छीन लिए गये। जर्मनी की ६.५ करोड़ जनता के लिए यह जीवन और मरण का प्रश्न था। ब्रिटिश द्वीप समूह की जनता गणना में जर्मनी से कम थी परन्तु ब्रिटेन का अधिकार संसार के चौथाई भाग पर था। इस अत्याचार से ही विजेतावर्ग संतुष्ट न था। जर्मनी के ऊपर युद्ध के व्यय का ऋण भी लादा गया। ऋण का भार इतना अधिक था कि जर्मनी उसे कभी नहीं चुका सकता था। १९२३ में फ्रांस तथा बेल्जियम अपने ऋण लेने के लिए इतने उद्विग्न हो उठे कि उन्होंने जर्मनी के एकमात्र आधार प्रदेश रूर पर अधिकार कर लिया। जर्मनी शक्ति से इन दोनों देशों के अधिकार को नहीं रोक सकता था। उस समय वह सिंह जिसकी गर्जन से संसार थर्रा उठता था अपनी पराजय के कारण आहत होकर अप्रतिभ, निर्जीव तथा शक्तिहीन होगया था। जिन जर्मन सैनिकों का गर्जन सुनकर फ्रांस तथा बेल्जियम की धरा थर्रा जाती थी आज वही जर्मन सैनिक फ्रांस तथा बेल्जियम की सामूहिक शक्ति के आगे रूर की खानों की रक्षा न कर सके। किसी ने ठीक कहा है :—

मानु बली नहिं होत है समय होत बलवान।
भीलन लूटी गोपिका वहि अर्जुन वहि बान।।

जर्मन सरकार ने फ्रांस तथा बेल्जियम की इस उद्दण्डता का निष्क्रिय विरोध किया। यह निष्क्रिय विरोध जनता के लिए प्राणघातक सिद्ध हुआ। जनता की आर्थिक दशा अत्यन्त भयानक हो गयी। रूर की रक्षा का केवल एकमात्र सहारा बच रहा था। वह यह था कि देश की वस्तुओं का मूल्य बढ़ा दिया जाय। वस्तु-मूल्य की जो दशा आजकल चीन में है ठीक वही दशा १९२३ में जर्मनी की हो गयी थी। यदि इस स्थल पर जर्मनी के तत्कालीन मार्क का मूल्य डालरों के रूप में दे दिया जाय तो कुछ अनुचित न होगा।

मई	१९२१	में	१ डालर मूल्य में	जर्मनी के	६२	मार्क के	समान	था
सितम्बर	,,		,,	,,	१०५	,,		,,
*नवम्बर	,,		,,	,,	२७०	,,		,,
जुलाई	१९२२		,,	,,	४९३	,,		,,
अगस्त	,,		,,	,,	१२००	,,		,,
नवम्बर	१९२२		,,	,,	८०००	,,		,,
†जनवरी	१९२३		,,	,,	४०,०००	,,		,,
नवम्बर	,,		,,	,,	४,२००,०००,०००,०००			

ऐसी भयानक परिस्थिति में जर्मनी का व्यापार स्थगित हो गया। जर्मनी में मार्क का कोई मूल्य न रह गया। कर्मचारी वर्ग में जिनकी आय निश्चित थी हाहाकार मच गया। सरकारी कार्य में बाधा उपस्थित होने लगी। ऐसी परिस्थति तत्कालीन सरकार की शक्ति के परे थी। तत्कालीन सरकार में अनेक दलों के सदस्य थे जिसके कारण सरकार किसी निश्चित नीति का निर्धारण नहीं कर सकती थी। अतः उस परिस्थिति को सम्हालने के लिए एक उग्र तथा सशक्त दल की आवश्यकता थी जो निश्चित रूप से किसी नीति को निर्धारित कर देश को संकट से बचाती।

जर्मनी अपनी सामरिक शक्ति के लिए सदैव प्रसिद्ध था। इतिहास के पृष्ठों को उलटने से पता चलेगा कि जर्मन सैनिक यूरोप की भूमि पर सदैव अद्वितीय रहा है। जर्मनी के दक्षिणी-पश्चिमी भाग की जनता का तो प्रायः सैनिक वृत्ति पर ही जीवन-निर्वाह होता रहा है। वारसेल्ज की संधि के पश्चात जर्मन सेना जो यूरोपीय भूभाग में अधिकतम थी न्यूनतम कर दी गई। संधि की इस नीति से जनता को बड़ी क्षति पहुँची। जनता को इससे मानसिक कष्ट हुआ। जर्मन देशवासियों ने सैनिक जीवन को सर्वश्रेष्ठ जीवन समझा था। वे सैनिक वृत्ति को गौरव की दृष्टि से देखते थे। उन्हें कृषक का जीवन तथा श्रमिक का जीवन प्रिय न था। संधि के नियमों के अनुकूल जर्मनी अपनी सामरिक शक्ति नहीं बढा सकता था। निम्न ब्योरे से पता चलेगा कि संधि ने जर्मनी को, जो १९१३ में सर्वप्रथम साम-

* नवम्बर १९२१ में कुछ समय के लिए मार्क का मूल्य स्थगित हो गया था।

† जनवरी १९२३ में जब फ्रांस तथा बल्जियम की सेनाओं ने रूर पर अधिकार कर लिया उसके पश्चात् मार्क का मूल्य आश्चर्यजनक रूप से घट गया।

रिक शक्ति था, न्यूनतम स्थान दे दिया है। यह स्थान ज र्न देश-वासियों के आत्म-सम्मान के नितांत प्रतिकूल था। वे अपनी इस आत्मनिन्दा को कभी भी सहन नहीं कर सकते थे। वे अपने सैनिक कौशल का एक बार पुनः प्रदर्शन चाहते थे। वे संसार की महान शक्तियों में बराबरी का स्थान चाहते थे। वे किसी के सम्मुख झुकना नहीं चाहते थे। वे एक ऐसे नेता की आशा में थे जो उनकी शक्तियों का समुचित उपयोग कर सके। उन्हें अपना देश प्राणों से अधिक प्यारा था। वे प्राणों की आहुति देकर देश को गौरवान्वित करना भलीभांति जानते थे। उन्हें अपने पूर्वजों की कृतियां अभी स्पष्टरूप से स्मरण थीं। पूर्वजों के नाम पर वे कलंक नहीं लगाना चाहते थे। सौभाग्य से उनकी शक्तियों को संचित कर उसे क्रियाशील बनाने के लिए हिटलर जैसा नेता भी उन्हें मिल गया। हिटलर ने चिर संचित जर्मन राष्ट्र की सैनिक शक्ति का पुनस्संगठन प्रारंभ कर दिया। द्वितीय महासमर के प्रारंभ के पूर्व जर्मन राष्ट्र को उसने एक महान शक्तिशाली सैनिक राष्ट्र बना दिया। यह सैनिक-शक्ति नाज़ीवाद का प्रधान अंग रही। जो शक्ति या जो राष्ट्र नाज़ीवाद के सिद्धान्तों का विरोध करते थे उनके साथ शक्ति का उपयोग किया गया। फलतः जर्मनी का निःशस्त्रीकरण ही उसके सैनिक पुनस्संगठन का कारण बन गया। जर्मनी के निःशस्त्रीकरण ने जर्मनवासियों को अधिक शक्तिशाली संगठन बनाने के लिए आन्दोलित कर दिया।

नाज़ीवाद के उत्थान का तृतीय कारण यह था कि प्रथम संसार महासमर के पश्चात् पार्लियामेंट पद्धति के प्रतिकूल यूरोपीय भू-मण्डल में एक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था। रूस में यह आन्दोलन साम्यवाद के रूप में आया। इटली में यह आन्दोलन फासीवाद के रुप में आया। स्पेनमें यह आन्दोलन राजतन्त्र के रूप में आया। और जर्मनी में यह नाज़ीवाद के रूप में आया। केवल फ्रांस में पार्लियामेन्ट पद्धति देश के शासन के लिए उपयुक्त होती रही। परन्तु फ्रांस में भी यह पद्धति अधिक सफल नहीं रही। फ्रांस का मंत्रिमंडल इतना अधिक परिवर्तित होता रहा कि वहां की सरकार की कोई भी नीति निश्चयात्मक नहीं रही। रूस की साम्यवादी नीति उग्र भौतिकवादी थी और जर्मन प्रदेश सदैव से ही आध्यात्मवादी रहा है। जर्मनी एक धर्म प्रधान देश था अतः रूस की साम्यवादी नीति उस देश में नहीं सफल हो सकती थी। उग्र भौतिकवाद वहां के देशवासियों के सर्वथा प्रतिकूल था। स्पेन का राजतन्त्र वहां सहायक शक्तियों

द्वारा पनपने नहीं दिया जा सकता था। कारण यह था कि राजतन्त्र अमेरिका तथा इंगलैण्ड के हितों का घातक था। राजतन्त्र के द्वारा यह संभव था कि जर्मनी पुनः सशक्त हो उठता। इंगलैंड, फ्रांस, तथा अमेरिका ही सहायक शक्तियों में प्रधान थे। अतः जर्मनी को एक प्रजातन्त्र—पार्लियामेन्ट पद्धति वाली सरकार समर्पित की गयी। यह पद्धति जर्मनी की भूमि पर कभी भी सफल नहीं हो सकती थी। दूसरे जर्मनी की नवीन सरकार में और भी अनेक दोष थे। सर्वप्रथम् दोष तो यह था कि पार्लियामेन्ट के सदस्यों के निर्वाचन के लिए जो प्रथा जर्मनी में व्यवहृत थी उससे सभा भवन बहुदल वाला होगया था। सदस्यों के विचार प्रत्येक विधेयक में विलग हो जाते थे। किसी भी विधेयक पर सदस्यों की सर्व-सम्मति नहीं मिलती थी। प्रत्येक दल के सदस्य विधेयकों पर अपना विभिन्न राग अलापा करते थे। अतः जर्मन सरकार के लिए किसी निर्धारित नीति पर चलना असम्भव होगया था। किन्तु जर्मन देश को सशक्तदल की आवश्यकता थी। उस आवश्यकता की पूर्ति नाज़ीदल ने की।

चतुर्थ कारण जो नाज़ीवाद के उत्थान का ही कारण नहीं बल्कि उसकी सफलता का भी कारण था वह था सहायक राष्ट्रों का आपस में मतभेद होना। सहायक राष्ट्र जिनकी नीति ही जर्मनी में संचालित होती थी एक दूसरे को ईर्ष्या की दृष्टि से देखते थे। फ्रांस यूरोपीय महाद्वीप में सर्वश्रेष्ठ सैनिक शक्ति था। महायुद्ध के उपरान्त फ्रांस की शक्ति शनैः शनैः बढ़ती ही जा रही थी। इंगलैण्ड फ्रांस की इस बढ़ती हुई शक्ति को शंका की दृष्टि से देखता था। इंगलैण्ड यह नहीं चाहता था कि फ्रांस यूरोपीय स्थल पर सर्व-शक्तिशाली बने। अतः जब फ्रांस सहायक शक्तियों से जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति को दबाने के लिए अनुरोध करता था तो इंगलैण्ड फ्रांस के इस प्रस्ताव का विरोध करता था। जब कि १९३५ में जर्मनी प्रत्यक्षरूप से युद्ध के लिए सैनिक शक्ति का संगठन कर रहा था उस समय लार्ड सभाभवन में लार्ड लोथियन ने निम्न भाषण दिया था——

"Germany must be given a position appropriate to a nation which would normally be regarded as the most powerful single state in Europe."

(Lord Lothian in the House of Lords,
1st May, 1935)

"यह अत्यन्त आवश्यक है कि जर्मनी को यूरोपीय भूमि पर सब-

शक्तिमान एकमात्र जातीय राष्ट्र का स्थान दिया जाय और उसके साथ उसी रूप में व्यवहार किया जाय।"

लार्ड सभाभवन में लार्ड लोथियन
१ ली मई १९३५

यही शब्द 'टाइम्स' नामक पत्रिका में "इंगलैण्ड की परराष्ट्र नीति" के विषय में इंगलैंड सरकार की आज्ञानुसार पुनः उद्धृत किया गया। "वरसाई की संधि के अनुसार नीति का अनुसरण करने से यूरोप में शांति नहीं स्थापित हुई" अतः अब हमारे लिए आवश्यक है किसी अन्य नीति का अनुसरण किया जाय। वातावरण तथा परिस्थिति पूर्व से भिन्न हो चुकी है अतः नीति का परिवर्तन अत्यन्त आवश्यक है।

" Do not yet impose upon this country the obligation of interpreting literally the general terms of every article of the covenant. No other country, it can safely be said, has the slightest intention of giving practical effect everywhere to, for instance, Article 10 and Article 16."

(The Times editorial on' "British Foreign Policy"
May, 3rd, 1935).

"इस देश को नियम की प्रत्यक धारा को अक्षरशः पालन के लिए वाध्य न करो। यह समुचित रूप से कहा जा सकता है कि कोई भी देश प्रत्येक परिस्थिति में इसको कार्यान्वित करने के लिए तनिक भी ध्यान नहीं दे रहा है ; उदाहरणार्थ धारा १० तथा धारा १६।"

(टाइम्स की संपादकीय टिप्पणी में 'ब्रिटिश परराष्ट्र नीति'
३ मई १९३५)

केवल फ्रांस की ही शक्ति को वाधित करने के हेतु नहीं वरन् रूस की साम्यवादी शक्ति को विनष्ट करने के लिए भी इंगलैंड की सरकार ने जर्मनी को प्रोत्साहन देने की नीति का अनुसरण किया। यह ब्रिटिश परराष्ट्र नीति की कुशलता तथा दूरदर्शिता थी कि यूरोप की समस्त शक्तियों को लड़ाकर अपनी सत्ता को स्थिर बनाये रखा। हिटलर ने प्रथम फ्रांस को नष्ट किया तत्पश्चात् रूस से भिड़ गया और उसे भी महान् क्षति पहुंचायी। परन्तु अपनी इस नीति का परिणाम इंगलैण्ड को भी

सहना पड़ा। इंगलैण्ड की साम्यवादी विरोधी नीति की झलक स्पष्ट रूप से लायड जार्ज के समय समय पर वक्तव्यों में मिलती है। उदाहरणार्थ निम्न प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है।

"If the powers succeeded in overthrowing Nazism in Germany what would follow? Not a Conservative, Socialist or Liberal regime, but extreme communism. Surely that could not be their object. A communist Germany would be infinitely more formidable than a communist Russia. The Germans know how to run their communism effectively. They would entreat the Government to proceed cautiously."

Lloyd George, speceh at Barmaith
September 22, 1933.

"यदि शक्तियां नाजीवाद को जर्मनी से नष्ट करने में सफल हुई तो फिर क्या होगा? कन्जरवेटिव, लिबरल तथा समाजवादी नहीं वरन् घोर साम्यवादी प्रभुत्व होगा। साम्यवादी जर्मनी एक साम्यवादी रूस से अधिक सशक्त होगा। जर्मन यह समझ जायेंगे कि साम्यवाद को किस प्रकार क्रियात्मक रूप दिया जायगा। वह अपनी सरकार को सावधानी से चलायेंगे।"

लायड जार्ज का बारमाउथ का वक्तव्य,
सितम्बर २२, १९३३

एवं पुनः उसी प्रकार का वक्तव्य धारा सभा में २८ नवम्बर, १९३४ को दिया था जिसका उद्धरण उसी रूप में अधोलिखित पंक्तियों में दिया जा रहा है।

" In a very short time, perhaps in a year or two the conservative elements in this country will be looking to Germany as the bulwark against communism in Europe. She is planted right in the centre of Europe, and if her defence breaks down against the communists–only two or three years ago a very distinguished statesman said to me, 'I am not afraid

of Nazism, but of communism, and if Germany is seized by the communists, Europe will follow, because the German could make a better job of it than any other country. Do not let us be in a hurry to condemn Germany. We shall be welcoming Germany as our friend."

Lloyd George in the House of Commons
November 28th, 1934

"कुछ ही काल में, संभवतः साल दो साल में, हमारे देश का कंजरवेटिव दल यह देखेगा कि जर्मनी यूरोप में साम्यवाद के विरोध में एक प्राकार अथवा गढ़ हो जायगा। यूरोप की भूमि के मध्य में वह उचित रूप से पनपाया गया है। दो या तीन वर्ष पूर्व मुझसे जर्मनी के एक कुशल राजनीतिज्ञ ने कहा है कि मुझे नाजीवाद से नहीं वरन साम्यवाद से भय है। यदि जर्मनी कम्युनिस्टों से परास्त हो जाता है और उस पर कम्युनिस्ट अधिकार हो जाता है तो यूरोप भी कम्युनिस्ट हो जायगा। कारण यह है कि अन्य देशों की अपेक्षा जर्मनी इसे उत्तमतररूप में कार्यान्वित करेगा। जर्मनी का खण्डन करने में हमें शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। हम जर्मनी का एक मित्र की भांति स्वागत करेंगे।"

(सार्वजनिक धारा-सभाभवन में लायड जार्ज,
नवम्बर २८, १९३४)

नाज़ीवाद के उत्थान की श्रेणियां—नाज़ी आन्दोलन का सुसंगठित रूप से प्रारंभ बवेरिया में हुआ। उत्तरी जर्मनी इसकी जन्मभूमि नहीं है यद्यपि यह आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर उत्तरी जर्मनी में ही पहुंचा परन्तु इसका जन्म बवेरिया में ही हुआ। इसका पिता अन्टोन ड्रेक्सेलर (Anton Drexeler) था। यह एक ताला बनानेवाला लोहार था। ध्यान देने का विषय है कि जर्मनी के उस उग्र प्रचरित आन्दोलन का जनक एक लोहार था कि जिसके वीभत्स रूप को देखकर युद्धकाल में बड़े बड़े राष्ट्र थरथरा रहे थे। इस आन्दोलन की प्रारंभिक नींव १९१९ में पड़ी थी। उस समय इसके केवल २८ सदस्य थे। आन्दोलन का भी कोई विशेष लक्ष्य न था। १९१९ में इसी स्थान पर कुर्ट ईजनर (Kurt Eisner) ने अपनी क्रांतिकारी एवं स्वतन्त्र

समाजवादी सरकार बनायी थी। तत्पश्चात् कुछ दिनों के लिए साम्यवादी सरकार को पदच्युत कर सामाजिक प्रजातन्त्र सरकार ने अपना पैर जमाया। सामाजिक प्रजातन्त्र सरकार का भी जीवन अधिक समय का न रहा। इसे हटाकर समाजवादी मंत्रिमंडल स्थापित हुआ। ऐसी परिस्थति के बीच हिटलर ने नाज़ीदल का संगठन प्रारंभ किया था। हिटलर एक आस्ट्रिया निवासी था। यह बहुत कुलीन घराने का नहीं था। १९१२ में यह आस्ट्रिया से जर्मनी में आया। प्रथम संसार महासमर में यह एक सैनिक था और नायक के पद को प्राप्त था। युद्ध में इसे योद्धा पदक भी प्राप्त हुए थे। सर्वप्रथम जब यह नाज़ी दल में सम्मिलित हुआ तो उसमें केवल ६ सदस्य ही सक्रिय थे अन्य सदस्य निष्क्रिय थे। प्रारंभ में जब हिटलर ने इस दल का संगठन प्रारंभ किया था तो इस दल की कोई निर्धारित नीति न थी। इसकी एकमात्र विशेषता यह थी कि १९१९ की जर्मनी की पराजय को यह पराजय नहीं स्वीकार करता था। इस दल का यह विशिष्ट सिद्धान्त था कि जर्मन राष्ट्र तथा जर्मन निवासी अजेय हैं। इनको युद्ध में कोई भी नहीं परास्त कर सकता। प्रारंभकाल में यह दल कभी बवेरिया को जर्मन सत्ता से अलग करने में संलग्न हो जाता था और कभी जर्मन राष्ट्र-निर्माण में। कुछ समय पश्चात् इस दल ने यह निश्चित कर लिया कि जर्मन राष्ट्रनिर्माण ही हमारा उद्देश्य है। १९२० तक इस दल का यह लक्ष्य अत्यन्त स्पष्ट हो गया।

१९२३ में लूडेन डोर्फ जो एक घोर सेनावादी था इस दल में सम्मिलित हुआ। लूडेन डोर्फ गत युद्ध में एक अच्छे अधिकारी पद पर आसीन था। हिटलर की क्रियात्मक प्रणाली को देखकर यह नेशनल सोशलिस्ट जर्मन वर्कर्स (National Socialist German Worker's Party) जैसा कि नाज़ीदल का उस समय नाम था, की ओर अत्यंत आकर्षित हुआ। लूडेन डोर्फ ने इस आन्दोलन को सैनिक रूप प्रदान किया। तत्कालीन सरकार को अपदस्थ करने के लिए १९२३ में हिटलर ने एक षड़यन्त्र की रचना की। बवेरिया की सरकार को इस षड़यन्त्र का पता लगा गया और उसने इस आन्दोलन को कुचल दिया। हिटलर ने जिस क्रांति के लिए षड़यन्त्र रचा था वह स्थगित होगई। हिटलर बन्दी बनाकर कारागार में भेज दिया गया। उसे ५ वर्ष के लिए कठिन कारावास का दण्ड मिला परन्तु कुछ दिनों पश्चात् वह कारागृह से मुक्त कर दिया गया। कारागृह के स्वतन्त्र समय में उसने मेन काम्फ ((Mein Kampf) नामक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक भावी नाज़ी कार्यक्रम

की तालिका बन गयी। इस पुस्तक में उसने नाज़ीवाद के उद्देश्य तथा लक्ष्य को निश्चित रूप से निर्धारित कर दिया। भविष्य के समस्त नाज़ीवाद के कार्य उक्त पुस्तक के आधार पर ही कार्यान्वित हुए।

कारागृह से मुक्त होते ही हिटलर ने अपने दल का पुनः संगठन प्रारम्भ कर दिया। शनैः शनैः इस दल में अनेक अन्य दलों का सम्मिश्रण होता गया और उसी के अनुसार उस दल का नाम भी बदलता गया। सर्वप्रथम १९१९ में इस दल का नाम जर्मन वर्कर्स पार्टी (German Workers' Party) था। ततपश्चात इस दल का नाम १९२० में (National Socialist German Workers' Party) नेशनल सोशलिस्ट जर्मन वर्कर्स पार्टी पड़ा। कालान्तर में इस दल का पुनः नामकरण हुआ। कालान्तर में यही दल नाज़ी दल के नाम से संसार में विख्यात हुआ। इस दल के कार्यक्रम को प्रारंभ में सर्वप्रथम गाट फ्राइड फेडर ने उग्रकारी रूप में जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया था। यद्यपि उस समय यह जर्मनी की मानहानि का प्रतिक्रियात्मक कार्य ही समझा जाता है परन्तु नाज़ीवाद के भावी कार्यक्रमका बीज उसमें छिपा था। उस समयका नाज़ी-दल-कार्यक्रम गाटफ्राइड फेडर (Gottfried Feder) ने १५ परिच्छेदों में दिया था जिसमें व्यवसायिक उद्योगों का राष्ट्रीयकरण, भूमि का समुचित प्रबन्ध, सहकारी समितियों का राष्ट्रीयकरण तथा युद्ध में प्राप्त सम्पत्ति आदि के हरण के प्रस्ताव किये गये थे। प्रारंभ में किसी ने इस आन्दोलन की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया तथापि यह प्रस्ताव स्पष्टरूप से सहायक-शक्तियों के विरोध में थे। निम्न और मध्यम कोटि के लोगों का झुकाव इस आन्दोलन की ओर विशेषरूप से रहा और प्रायः वही लोग इस आन्दोलन के दीप बने और इसे सफल बनाया। इस आन्दोलन में विशेषतयः विद्यार्थी तथा सैनिकवर्ग के लोगों ने भाग लिया। उच्च तथा धनिक वर्ग के लोग इस आन्दोलन में बहुत कम आये। उच्च वर्ग के लोग यद्यपि इस दल में प्रत्यक्षरूप से नहीं आये परन्तु उन्होंने इसके परिवर्धन में किसी प्रकार की बाधा भी नहीं उपस्थित की। अपरंच वे समय समय पर इस दल को सहायता ही देते रहे। अनेक विद्यार्थी इस दल में केवल इस हेतु आये कि इस दल की प्रवृत्ति सैनिक थी। उन्हें इसके कार्यक्रम में इतना आकर्षण न था जितना कि इस दल की सैनिक प्रवृत्ति में। विगत युद्ध के सैनिक पदाधिकारियों ने इस दल में सम्मिलित होकर इस दल को प्रमुखतयः सैनिक बना दिया। उन्होंने इस दल को सैनिक वेष-भूषा में रंग दिया

जिससे दर्शकों का आकर्षण बढ़ा और वे उत्साहपूर्वक नाज़ीदल में सम्मिलित होने लगे। दल की शक्ति बढ़ाने के लिए अन्य उपाय भी प्रयुक्त हुए। दल की शक्ति बढ़ाने के अनेक प्रकार के विज्ञापन तथा प्रकाशन किये गयें। हिटलर तथा अन्य नेताओं की वाक्पटुताने उमंग भरे देश के नवीन वीरों में प्राण भर दिये; वे अपने प्राणों की आहुति देने के लिए प्रहर्षित हो प्रांजलि के साथ हिटलर के वचनों के पालन के लिए सन्नद्ध हुए।

१९२४ के साधारण चुनाव में नाज़ीदल, जर्मन पीपल्स मूवमेन्ट फॉर फ्रीडम (German People's Movement for Freedom) के साथ मिलकर ३२ सदस्य धारासभा में उपस्थित कर पाया था। परन्तु नाज़ीदल से इस दल की अनबन होगई और १९२८ के निर्वाचन में जर्मन पीपल्स मूवमेन्ट फॉर फ्रीडम (German People's Movement for Freedom) दल ने हिटलर दल का साथ छोड़ दिया अतः उस समय केवल १२ सदस्य ही नाज़ीदल के धारा सभा में निर्वाचित हो सके। परन्तु नाज़ीदल की शक्ति १९२८ के पश्चात् बड़े वेग से परिवर्धित हुई। १९२८ के पश्चात् संसार में एक प्रकार का आर्थिक संकट आपड़ा। संसार की समस्त व्यवहृत वस्तुओं का अवमूल्यन हो गया। जर्मनी देश के लिए यह महान् कष्ट का समय था। जर्मन प्रदेश में सर्वत्र वाह्य संपत्ति व्यवहृत होती थी। सरकार का प्रत्येक कार्य परराष्ट्र ऋण पर अवलम्बित था। अमेरिका के पूंजीपतियोंने अपनी पूंजी वापस लेली और दिये हुए ऋण का व्याज मांगना प्रारंभ कर दिया। इस प्रकार जर्मनी प्रदेश पर एक आर्थिक विपत्ति का वज्र टूट पड़ा और तत्कालीन सरकार इस विपत्ति का सामना न कर सकी। नाज़ी दल ने इस अवसर का पूर्ण लाभ उठाया। उन्होंने तत्कालीन दुःख का कारण तत्कालीन सरकार को बताया और उसे जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए धूम से प्रचार किया। फलतः १९३२ के चुनाव में जो जुलाई के महीने में हुआ था नाज़ीदल के २३० सदस्य निर्वाचित हुए हिटलर हिन्डेनवर्ग के विरुद्ध सभापतित्व के लिए खड़ा हुआ। नाज़ीदल के पक्ष में कुल १/३ करोड़ पत्र प्राप्त हुए। वह केवल अल्पसंख्या से ही समस्त संख्या के अर्धभाग से कम था। हिटलर नें सरकार का विरोध किया और इस विरोध का फल यह हुआ कि १९३२ के नवम्बर मास में पुनः सदस्यों का चुनाव हुआ जिसमें नाज़ीदल के सदस्यों की संख्या १९६ थी और नाजी दल को कुल पौने दो करोड़ मत प्राप्त हुए थे। इसका अर्थ लोगों ने यह लगाया कि नाज़ीदल अपनी पूर्ण शक्ति को प्राप्त होचुका और शनैः शनैः सकी शक्ति घटती ही जायगी। यदि

देश की आर्थिक स्थिति संभल जाती तो संभव था एसा ही होता परन्तु परिस्थिति धीरे धीरे और विकट होती गयी और हिंडेनवर्ग को वाध्य होकर हिटलर को मंत्रिमंडल में स्थान ग्रहण करने के लिए आमंत्रित करना पड़ा। हिटलर ने इस पद को स्वीकार नहीं किया। वह बड़ा ही दूरदर्शी था। उसको विश्वास था कि हिंडेनवर्ग को उसके सहयोग की आवश्यकता है। हिटलर के असहयोग में हिंडेनवर्ग को किसी भी नीति का अनुसरण करना कठिन हो गया। ३० जनवरी को पुनः निर्वाचन हुआ। पौने दो करोड़ मत नाजियों को प्राप्त हुए और संसद में २८८ नाजी सदस्य निर्वाचित हुए। हिंडेनवर्ग ने पुनः हिटलर से चान्सलर बनने के लिए अनुरोध किया और हिटलर न इस बार इस पद को स्वीकृत कर लिया। इस बार हिटलर ने ५२ राष्ट्रवादी सदस्यों को मिलाकर अपना मंत्रिमंडल बनाया। हिंडेनवर्ग ने भी हिटलर को मंत्रिमंडल बनाने में किसी प्रकार की वाधा नहीं पहुंचाई। कारण यह था कि हिंडेनवर्ग का राष्ट्रवादी मित्र वान पेपन जिस पर उसे पूर्ण विश्वास था मंत्रिमंडल में उपयुक्त स्थान पर नियुक्त हुआ। वान पेपन उपचान्सलर नियुक्त हुआ और उसे प्रशा का कमिश्नर निर्वाचित किया गया। यद्यपि वान पेपन प्रशा का कमिश्नर था परन्तु वहां की वास्तविक शक्ति नाजी कप्तान गोरिंग के हाथ में थी। वान पेपन केवल नाममात्र का ही शासक था। जनवरी १९३३ से जब से हिटलर शक्ति में आया तभी से उसकी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। क्रमशः वह जर्मनी का एक मात्र अनन्य शासक बन गया।

प्रारंभ में हिटलर का मंत्रिमंडल बड़ा शांत था परन्तु कुछ समय व्यतीत होने पर उसका रूप नितांत परिवर्तित हो गया। दुर्भाग्य से केन्द्रीय संसद में अग्निकाण्ड हो गया और इसे साम्यवादियों का षड़यन्त्र बताकर साम्यवादी दल पर प्रतिवन्ध लगा दिया गया। राष्ट्रपति ने जनता के अधिकारों पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया। सरकार ने Enabling Act (इनेबलिंग-ऐक्ट) संसद में स्वीकृत कराने के लिए संसद का पुनर्निर्वाचन कराया। यह निर्वाचन मार्च १९३३ को हुआ। इस बार ५२ प्रतिशत नाजी सदस्य संसद में आये और संसद ने Enabling Act (इनेबलिंग ऐक्ट) प्रस्ताव को स्वीकृत कर लिया। इस धारा के अनुसार संसद के सारे अधिकार मंत्रिमंडल को प्राप्त हो गय। इस धारा के स्वीकृत होने पर संसद एक निष्क्रिय संस्था बन गयी और कुछ समय बाद वह सदैव के लिए समाप्त कर दी गयी। केन्द्रीय सरकार पर तो हिटलर का इस प्रकार अविरोध प्रभुत्त्व हो

हीं गया था, कुछ दिन पश्चात् हिटलर हिन्डेनवर्ग की मृत्यु के उपरान्त जर्मनी का राष्ट्रपति भी बन गया। अब उसके अधिकार द्विगुण हो गये। इस समय वह राष्ट्रपति तथा मंत्रिमंडल का प्रधान दोनों स्वयं ही बना हुआ था। संसद ने तो अपने समस्त अधिकार पूर्व ही मंत्रिमंडल को समर्पित कर दिये थे। अब वह जर्मनी का अनन्य शासक बन गया था। उसे एकमात्र चिंता षड़यन्त्रों की रह गयी थी। इसके लिए उसने पहले ही गुप्तचर नियुक्त कर रखे थे जो प्रत्येक बात की सूचना हिटलर को दिया करते थे। १९३४ के वसंत ऋतु में कुछ षड़यंत्रकारी बन्दी बनाये गये और अभियुक्तों को हिटलर की उपस्थिति में ही प्राण-दण्ड दिया गया। इस प्रकार केवल १५ वर्ष के अनन्तर (१९१९-३४) हिटलर राष्ट्र का अनन्य शासक बन गया। नाज़ीवाद के अतिरिक्त अन्य दलों पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिये गये। प्रान्तीय सरकारें पूर्णरूप से केन्द्रीय सरकार के आधीनस्थ कर दी गयीं। संसद के प्रत्येक अधिकार मंत्रिमंडल को दे दिये गये। मंत्रिमंडल का सर्वस्व चान्सलर था। हिटलर ने चान्सलर तथा राष्ट्रपति दोनों स्थानों का एकीकरण कर दिया था। अतः स्वयं हिटलर ही जर्मन सरकार बन गया था।

हिटलर ने अनुशासन पूर्णरूप से पालन होने के लिए समस्त विभागों पर नाज़ीदल के सदस्य नियुक्त कर दिये। न्यायविभाग, रक्षाविभाग तथा शिक्षाविभागों में नाज़ीदल की प्रचुरता हो गयी। प्रायः सभी विभागों से अनार्य निष्कासित कर दिये गये। पीपलस कोर्ट (जन-न्यायालय) नामक एक नये न्यायालय की स्थापना की गयी। विरोधियों को इस न्यायालय में दण्ड दिया जाता था। विश्वविद्यालय तथा अन्य समस्त शिक्षालय मंत्रिमंडल के आधीन तथा उसके निरीक्षण में कर दिये गये। इस प्रकार १९३४ तक जर्मनी के प्रत्येक कण में नाज़ीदल व्याप्त हो गया। मनुष्य जीवन का कोई भी अंग ऐसा नहीं था जिस पर नाज़ीदल का कठोर नियन्त्रण न लग गया हो। इस प्रकार जो दल १९१९ ई० में एक लोहार द्वारा प्रारंभ किया गया था १९३४ ई० तक जर्मन भूमि में प्रचण्डरूप से छा गया था। जब से हिटलर शक्ति में आया तभी से नाज़ीदल तथा नाज़ी राष्ट्र परराष्ट्रों के लिए अनवरत रूप से कंटक की भांति खटकने लगा था। हिटलर ने पुनः जर्मन सैनिकता को उत्कर्ष दिया और उसे उन्नति के शिखर पर पहुंचा दिया। शनैः शनैः उसने निकटवर्ती राष्ट्रों पर विजय प्राप्त की और १९३९ में द्वितीय महासमर का कारण बना। १९४५ में हिटलर महासमर में परास्त हुआ और नाज़ीदल सदैव के लिए परास्त हो गया।

राष्ट्रीय समाजवाद (National Socialism) का अर्थ—नाज़ीवाद कोई सुव्यवस्थित तथा परिमार्जित वाद नहीं है। ठीक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि वह किन मूलभूत सिद्धान्तों पर अवलम्बित है। नाज़ीवाद हमारे सम्मुख वर्साई संधि की प्रतिक्रिया के रूप में आया। उस समय यूरोप की प्रजातन्त्र संस्थाओं में जो दोष थे उनके विरोध में यूरोप के भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के आन्दोलन उठ खड़े हुए। रूस में इस आन्दोलन ने साम्यवादी रूप को धारण किया। इसका रूप इटली में फासीवाद के रूप में आया। स्पेन में इसने राजतन्त्र का रूप धारण किया और जर्मनी में यह नाज़ीवाद के नाम से पुकारा गया। वस्तुतः नाज़ीवाद का कोई दर्शन नहीं है। यह एक प्रकार का आन्दोलन था। नाज़ीवाद की प्रायः प्रत्येक वस्तु इटली के फासीवाद से मिलती-जुलती है। केवल रूप में थोड़ा सा अन्तर है। यदि नाज़ीवाद को फासीवाद का रूपान्तर कहा जाय तो अनुचित न होगा। फासीवाद इटली की भूमि पर जिस रूप में था जर्मनी की भूमि पर उसी रूप में नहीं पनप सकता था। जिस प्रकार किन्हीं किन्हीं जन्तुओं को अपनी प्राण-रक्षा के लिए निवास स्थान की वनस्पति के अनुरूप अपने रंग को परिवर्तित करना पड़ता है उसी प्रकार फासीवाद को जर्मनी की भूमि पर जर्मनी के रंग में रंगना पड़ा। फासीवाद तथा नाज़ीवाद के मूलतत्वों में विशेष अन्तर नहीं है। अन्तर केवल दोनों वादों के रंग में है।

नाज़ीवाद का दूसरा नाम राष्ट्रीय समाजवाद (National Socialism) था। नाज़ीदल को राष्ट्रीय समाजवादी दल के नाम से पुकारते भी थे। नाज़ीवाद को पूर्णतया समझने के लिए हमें राष्ट्रीय समाजवाद का समझना अत्यन्त आवश्यक है। यही नाज़ीवाद का आधारभूत सिद्धान्त है। यही उसका प्रचार है। और यही नाज़ीवाद का प्राण है। इस वाद की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं:—

१—एक घोर सर्वाधिकार वादी राष्ट्र का निर्माण करना।

२—तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीयता (Internationalism) का विरोध करना।

३—तत्कालीन उदार नीति (Liberal Policy) का विरोध करना।

एक पत्रकार जर्मनी की राष्ट्रीय समाजवादी नीति को निम्न शब्दों में प्रदर्शित करता है:—"'सैनिक तथा अनियन्त्रित शासन जर्मनी की परम्परा रही है। प्रधानतयः यह बात प्रशा के लिए लागू होती है परन्तु हम उन उपायों से पूर्णरूप से परिचित हैं जिनके द्वारा बिस्मार्क ने जर्मन राष्ट्र

का एकीकरण किया । वही अधिकार-पिपासा जर्मन जाति में जागृत है। इसी के साथ समाजवाद का वह पक्ष जिससे यह निष्कर्ष निकाला जाता कि राष्ट्र का कर्तव्य आर्थिक तथा सांस्कृतिक जीवन में भी है, सम्मिलित है। यह जर्मनी की सर्वदा स्थिर रहनेवाली समस्या है। इसके अतिरिक्त जर्मनी की अनेक अस्थिर समस्यायें भी हैं। यह समस्यायें समय समय पर विशेष महत्वपूर्ण क्रीड़ाएं उत्पन्न करती रहती हैं। समय के साथ इन अस्थिर समस्याओं में परिवर्तन भी हुआ करता है । National Socialism (राष्ट्रीय समाजवाद) अपनी भावनाओं से परिपूर्ण जर्मनी में ही उत्पन्न हो सकता था। परन्तु इसकी प्रमुख विशेषता युद्धोत्तर यूरोप के पुनर्निर्माण में राष्ट्रीय तथा समाजवादी भावनाओं के सम्मिश्रण में है। अन्तर्राष्ट्रीयता एक छायामात्र है। वास्तव में राजनैतिक क्षेत्र में इसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। अतः हमें नवीन राष्ट्रीयता की ओर ध्यान देना चाहिए जो वास्तविक तथा गंभीर है। यह साम्राज्यवादी भी नहीं है। इसका आकर्षण आर्थिक नीति पर है और राष्ट्रीय जीवन की सेवा ही इसका लक्ष्य है। अतः सूक्ष्म रूप से इसका कार्य व्यक्तिवादी उदार युग द्वारा छोड़े हुए आर्थिक संकट, जिसके कारण समाज में एक क्रांति मची हुई है, का निवारण करना है। ... नाज़ीइज्म ने जो इस समय अपने उद्देश्य जातीय-जागृति को प्राप्त कर लिया है, नितांत पृथक वस्तु है। यह आन्दोलन इससे भी अधिक महत्व पूर्ण आधारभूत सिद्धान्तों का प्रतिनिधि है। वित्त तथा व्यापार संबंधी अन्तर्राष्ट्रीय प्रत्यक्ष घटनाओं को ध्यान में रखते हुए, जर्मनों को एक नवीन आर्थिक व्यवस्था जो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता तथा सामाजिक न्याय के नियमों से निर्धारित हो, की ओर देखने से अब अधिक समय के लिए नहीं रोका जा सकता। पिछले अक्तूबर मास से जर्मनी को व्यापारिक आयात तथा निर्यात संग्राम में महान क्षति पहुंची है। प्रत्यक्ष प्रमाणों को ध्यान में रखते हुए तथा राजनैतिक, आर्थिक सत्यता को देखते हुए कोई भी मनुष्य देश के स्वावलम्बी होने की नीति का विचार नहीं कर सकता। राष्ट्रीय मितव्ययिता जिसकी व्यवस्था जर्मनी के लिए की गयी थी, ऐसी असहनीय खींचा-तानी में पड़गई कि जर्मनी को पिछले वर्षों में महान क्षति उठानी पड़ी और इससे जर्मनी की आर्थिक व्यवस्था क्षीण हो गयी।" *

१९१७-१८ की क्रांति प्रायः अन्तर्मुखी थी। इसका ध्येय देश की सभ्यता तथा संस्कृति की रक्षा ही था। रूस में उस समय साम्यवादी सर-

* Fortnightly Review, September, 1932.

कार थी। संसार व्यापी साम्यवाद का प्रचार हमें इसीलिए सुनने में आता था कि रूस अपनी प्रणाली की रक्षा चाहता था। उसे पर-राष्ट्रों से भय था। यह भय इसलिए था कि पर-राष्ट्र साम्यवादी प्रणाली की आलोचना करते थे। अतः उसे भय था कि साम्यवादी व्यवस्था तथा प्रणाली को निकटवर्ती राष्ट्र कहीं नष्ट न कर डालें। इसी प्रकार पूर्व में जापान भी डर रहा था कि कहीं प्राचीन सभ्यता नष्ट न हो जाय। यद्यपि मंचूरियामें वह आधुनिक तथा नवीन यूरोपीय शस्त्रों का प्रयोग कर रहा था परन्तु उसे यूरोपीय रीति प्रिय न थी। वह यूरोपीय ढंग के वस्त्रों का प्रयोग नहीं चाहता था। भारत में महात्मा जी ने यूरोपीय नियन्त्रण के विरुद्ध आन्दोलन चलाया और उन्हें भी प्रायः उन्हीं लोगों से सहायता मिली जिन्हें यूरोपीय वेष-भूषा आदि प्रिय नहीं थी।

इटली की क्रांति एक राष्ट्रीय प्रतिक्रिया थी। यह उदार तथा प्रजातन्त्र सत्ता, जिसके लिए इटली अभी परिपक्व नहीं हुआ था, के विरोध में थी। इसी प्रकार जर्मनी का नाज़ीवाद आन्दोलन भी अपनी चिरसंचित संपत्ति की रक्षा के लिए था। उसकी यह संपत्ति वित्त प्रधान न थी वरन् भावना प्रधान थी। गांधी जी के यरवदा चक्र की भांति हिटलर अपनी साधारणता की ओर लौटना चाहता था। सब से अधिक महत्व की वस्तु इस क्रांति में यह थी कि यह भौतिकवादी आन्दोलन की प्रतिक्रिया थी। जर्मनी की क्रांति रूस की घोर भौतिकवादी प्रणाली के विरोध के लिए की गयी थी।

ऐसे देश में जहां निर्यात पर देशवासियों का जीवन अवलम्बित हो देश के स्वावलम्बन की बात सोचना कितना भ्रमपूर्ण है? ऐसे देश को स्वावलम्बी बनाने की चेष्टा करना उस देशवासियों की जीविका की अवस्था को समुद्र के गर्त में ढकेलना नहीं तो और क्या है? परन्तु नाज़ीवाद इसका तर्कपूर्ण समाधान करता है। संसार का व्यापार आजकल निशाचरों के हाथ में चला गया है। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मची हुई है। किसी भी देश में शांति नहीं है। अतः जर्मनी को इस व्यापार पर आश्रित नहीं होना है और इस कष्टमय काल के निवारण के लिए जर्मन निवासियों को कष्टसहन की क्षमता प्राप्त करनी होगी। उनको कष्टसहन में ऐसा प्रवीण होना है कि कष्ट उनके लिए स्वाभाविक बन जाय। आपत्तिकाल के निवारण के लिए इस प्रकार नाज़ीवादियों ने जीवन का एक नवीन दर्शन जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया।

(Liberalism) उदारतावाद केवल शब्दों का आडम्बरमात्र है। उदारतावादी शक्तियां दूसरे देशों पर अपना प्रभुत्त्व बनाये हुए हैं अतः इस उदारतावाद (Liberalism) का अर्थ है सशक्त राष्ट्रों का निःशक्त राष्ट्रों पर अधिकार। इस मत के अनुसार सशक्त शक्तियां ही स्वतन्त्र होने योग्य हैं और निःशक्त शक्तियां (राष्ट्र) दासत्व के ही योग्य। उदारतावाद ने मनुष्यों को दो विपरीत श्रेणियों में विभाजित कर दिया है। प्रथम वह श्रेणी जो नियंता है और द्वितीय वह श्रेणी जो नियंत्रित है। इन महान शक्तियों के अधिकार की सीमा निश्चित नहीं है; इन शक्तियों में आन्तरिक प्रबंध ऐसा है कि एक वर्ग का मनुष्य उत्पादन करता है और दूसरे वर्ग का मनुष्य उसका फल भोगता है। बिना किसी नवीन पद्धति के प्रचार के इस परम्परा को नहीं परिवर्तित किया जा सकता। महान शक्तियां अधिक हैं और शोषित देशों की कमी है। अतः इन महान शक्तियों में संघर्ष आवश्यक है। इसी कारण से युद्ध हुआ और उसमें जर्मनी परास्त हुआ। मात्रा में सशक्त शक्तियां प्रधानतयः केवल तीन हैं अन्य सभी शक्तियां इन्हीं तीनों (फ्रांस, अमेरिका तथा ब्रिटेन) की उपनिवेश मात्र हैं।

इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयतावाद भी केवल आडम्बर मात्र है। इस वाद का भी अभिप्राय अशक्त जातियों का शोषण मात्र ही है। ब्रिटिश उपनिवेश इसी शोषण के लिए अभी स्वतन्त्र नहीं किये गये। फलतयः ब्रिटिश उपनिवेशों में राष्ट्रीय जागरण हो गया है और वे अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के हेतु स्वतन्त्रता संग्राम में तन्मय हैं। रूस ने अपने को स्वावलम्बी बना लिया है। जर्मनी विजित देश होने के कारण अभी स्वावलम्बी नहीं हो सका है। इस देश को व्यापार के लिए उपनिवेश नहीं मिल पाते हैं। फलतः इसे राष्ट्रीय सामाजवादी होने के लिए बाध्य होना पड़ा, समाजवादी इसलिए कि राष्ट्र को जनता के लिए आर्थिक व्यवस्था करना है। जनता के व्यक्तिगत वर्ग (पूंजीपति वर्ग तथा निर्धन वर्ग) संघर्ष ने जातीय वर्ग संघर्ष का रूप धारण कर लिया है। निर्धन देशों ने पूंजीपति देशों के विरोध में क्रांति कर दी है। उस क्रांति के कारण जातीयता बड़ी उग्र हो चुकी है। इस क्रांति में महान शक्तियां एक दूसरे को सहायता प्रदान कर रही हैं। वे एक दूसरे को बराबरी की दृष्टि से देखती हैं। वे निर्धन देशों के शोषण में एक दूसरे से ऐसे सहमत हैं जैसे यन्त्र के चक्र की दंतियां एक दूसरे से सहमत होती हैं और एक दूसरे के साथ ही चलती हैं। जर्मनी में समाजवाद ने एक नवीन ढंग से अपने कार्य को प्रारंभ कर दिया है जो इसके प्रतिकूल है।

"A conquered and oppressed people has no place either for an internationally-minded and internationally organised commerce or for an internationally-minded and internationally organised working class. Both must be re-organised on the national basis." (Hans Zehrer, June 1933.)

"एक विजित तथा दलित पुरुष को अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थित व्यवसाय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थित श्रमजीवी वर्ग के संघों में स्थान नहीं है। अत्यंन्त अनिवार्य है कि दोनों जातीय (National) आधार पर पुनर्व्यवस्थित किये जाय।" (हैंन्स जेहरर १९३३ जून)

अत: यह आवश्यक है कि राष्ट्र के अन्तरंग में व्यक्तिगत वर्ग-संघर्ष न हों। इससे जाति (nation) को क्षति पहुंचेगी।

नाज़ीवाद यह प्रतिपादित करता है कि आधुनिक क्रांतियां मध्यम वर्ग द्वारा चलायी जाती हैं। कारण यह है कि पूंजीपति सुसंगठित थे और श्रमजीवी भी सुसंगठित थे, केवल मध्यम वर्ग असंगठित था। अत: इसी वर्ग को विशेष क्षति उठानी पड़ी। रूस का साम्यवाद भी अन्तर्राष्ट्रीय संपत्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम को नहीं रोक सका। इटली के फासीवाद तथा जर्मनी के राष्ट्रीय समाजवाद ने रूसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से अपना संबंध विच्छेद कर लिया। नाज़ीवाद अपना समर्थन विशेषत: निम्न मध्यम वर्ग से पाता था। अत: इसका पराक्रम पूर्व के अन्य आन्दोलनों से अधिक था।

यह नया राष्ट्रीय समाजवाद प्राचीन समाजवाद द्वारा व्यवस्थापित-वर्ग संघर्ष को अस्वीकार करता है। मध्यम वर्ग पराजय के पश्चात् इतना निर्धन होगया है कि इससे अब कुछ भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। अब श्रमजीवी वर्ग ही राष्ट्र का सर्वस्व होगया है और उसमें तथा जाति में अब अन्तर नहीं रह गया है। अत: वर्ग-संघर्ष के विषय में कुछ सोचना ही मूर्खतापूर्ण है। नया राष्ट्रीय समाजवाद जातीय वर्ग-संघर्ष में विश्वास करता है। यह संघर्ष जाति की आर्थिक स्वतन्त्रता के हेतु चल रहा है। सम्भव है संघर्ष के समय जीविका का आदर्श कुछ कम हो जाय।

"Large estates can no longer be defended when hundreds of thousands of men demand land for

settlement purposes. Great wealth has no right to exist when nine-tenths of the people are poor ; large salaries can no longer be paid when the average income has fallen to a low level ; and the security of a small class cannot be maintained if the existence of the rest of the people has become insecure. This form of Socialism does not appeal to social resentment, to the instincts of the lower class and to its desire to climb, but it insists upon social justice in order to bring about national unity. It cannot promise the worker that he will be rich but it promises him that he will be free."

—Hans Zahrer.

"बड़े बड़े भूपतियों की रक्षा अधिक समय तक नहीं हो सकती जब कि लक्ष-लक्ष जनता जीविकोपार्जन के लिए भूमि चाहती है। महान संपत्तियों के लिए कोई स्थान नहीं है जब कि जनता का ९० प्रतिशत भाग निर्धन है। महान वेतन अधिक समय तक नहीं दिये जा सकते जब कि औसत आय का स्तर अति न्यून होगया है, तथा एक छोटे से वर्ग की सुरक्षा नहीं की जा सकती जब कि अन्य मनुष्यों का जीवन ही सुरक्षित नहीं है। इसी प्रकार का समाजवाद निम्न वर्ग के मनुष्यों की प्राकृतिक अंतर्चेतना को सामाजिक विद्रोह के लिए नहीं जागृत करता। इस प्रकार उनमें ऊपर चढ़ने की इच्छा को नहीं जागृत करता वरन् राष्ट्रीय एकता उत्पन्न करने के लिए न्याययुक्त सामाजिक व्यवस्था का प्रतिपादन करता है। यह श्रमजीवियों को यह आशा नहीं देता कि वह संपत्तिवान बन जायेंगे वरन् उन्हें यह आशा दिलाता है कि वे स्वतन्त्र हो जावेंगे।"

हैन्स ज़हरर।

आश्चर्य इसमें नहीं है कि यह नवीन समाजवाद जातीय एकता तथा आर्थिक एकता के आधार पर राष्ट्रीय एकीकरण का प्रस्ताव प्रस्तुत करता है। आश्चर्य तो इसमें है कि जनता ने बड़े संतोष के साथ इस नवीन समाजवाद के दर्शन को स्वीकार कर लिया। परन्तु जनता ने तो सदैव ही

किसी न किसी अन्धविश्वासी प्रणाली का अनुसरण किया है। यदि हम विचार करें तो हमें पता चलेगा कि संसार के प्रायः सभी धर्मों, हिंदू, मुसलमान सिख तथा ईसाई, में किसी न किसी रूप में अन्धविश्वास सदैव से ही उपस्थित है और हम उन्हें अन्धविश्वास स्वीकार भी करते हैं। परन्तु फिर भी हम अपने धर्म से विमुख नहीं होना चाहते। हम उसी अन्धविश्वासी धर्म की मर्यादा की रक्षा करना चाहते हैं। यदि जर्मनों ने अपने राष्ट्रीय समाजवाद रूपी धर्म में विश्वास कर लिया तो आश्चर्य ही क्या ?

नाज़ीवाद तथा अन्य सामाजिक तथा राजनैतिक संस्थाएँ—नाज़ीवाद तत्कालीन सभी राजनैतिक संस्थाओं को दोषपूर्ण देखता है। साम्यवादी संस्थाएं इसलिए दोषपूर्ण हैं कि वह जनता में वर्गसंघर्ष के सिद्धांतों को प्रतिपादित करती हैं, इस संघर्ष से जातीय एकीकरण जो राष्ट्रीय समाजवाद के अनुसार आवश्यक है, परिपूर्ण नहीं हो सकता। इस संघर्ष से राष्ट्र को आर्थिक क्षति पहुंचती है।

उदार प्रजातन्त्र संस्थाएँ इसलिए दोषपूर्ण हैं कि वे व्यक्तित्व पर अधिक ध्यान देती हैं जिसका अर्थ यह है कि समाज के निर्धनों का धनिकों द्वारा शोषण। समाज में कुछ धनी लोग हैं जिनकी क्रयशक्ति महान है और अधिकांश ऐसे हैं जिनके पास क्रयशक्ति नहीं है। ऐसी परिस्थिति में उदार नीति का पालन करना निर्धनों का शोषण करना है। लक्ष्मीपति निर्धनों को एक निश्चित वेतन पर काम करने के लिए बाध्य कर देते हैं। वह उनको उतना ही वेतन देते हैं जिससे उनकी जीविका चल जाय। निर्धन होने के कारण यह राजनैतिक परतन्त्रता में भी पड़ जाते हैं। उनके पास इतना धन नहीं होता कि वह किसी निर्वाचन क्षेत्र से सदस्यता के लिए खड़े हो सकें और एक धनी प्रतिद्वंद्वी के विरुद्ध निर्वाचन क्षेत्र में मत प्रदान कर सकें। धनिक अनेक प्रकार के षड़यन्त्रों द्वारा अपना निर्वाचन करा सकता है जो एक निर्धन के लिए दुर्लभ है। आधुनिक पार्लियामेन्ट पद्धति में धनिकों का ही प्रभुत्व है। ऐसी पद्धति जिन देशों में है उनमें केवल धनिक वर्ग के लोगों के लिए ही समस्त सुविधाएं हैं। देश की अधिकांश जनता इन लक्ष्मीपतियों की आधीनता में दासत्व के दुःख भोग रही है। इसी प्रकार आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं में भी इन्हीं धनिक देशों का और परोक्ष रूप से धनिक वर्ग का ही सर्वस्व है। निर्धन देश और निर्धन जनता तो दासता की शृंखला में बद्ध है। अतः उदार तथा प्रजातन्

संस्थाएँ जनता को दासत्व की शृंखला में बांधे हुए हैं। वह निर्धनों का शोषण कर रही हैं।

नाज़ीवाद सर्वाधिकारवादी (Totalitarian) है। राष्ट्र ही जनता का सर्वस्व है। व्यक्ति का अस्तित्व राष्ट्र से अलग कुछ भी नहीं है। राष्ट्र व्यक्ति का ईश्वर है। जनता को राष्ट्र की सेवा का ही अधिकार है, फल प्राप्त करने का अधिकार उसको नहीं है। निवेदन का जो कुछ प्रतिफल राष्ट्र दे दे वही पर्याप्त है। जनता का कार्य अपने कर्तव्यों को पूर्ण करना है। अधिकार प्राप्त करना उसका कर्तव्य नहीं है। इस सिद्धान्त ने तो "जर्मनी को बहुत महान बना दिया और जर्मनवासियों को अतिन्यून।"

नाज़ीदल राष्ट्र तथा जनता में सामञ्जस्य स्थापित करता था। यह दल दोनों (राष्ट्र तथा निवासियों) के विचार विनिमय का साधन था। इस दल का प्रमुख ही राष्ट्र प्रमुख था। दल के अधीनस्थ सदस्यों का कार्य राष्ट्र प्रमुख के शब्दों का जनता द्वारा अक्षरशः पालन करना था। यह दल देश में इस प्रकार व्याप्त था कि अन्य दल जर्मनी की भूमि पर किसी भी प्रकार पनप ही नहीं सकता था। यदि कोई किसी अन्य दल की स्थापना का प्रतिपादन करता था तो उसे तीन वर्ष के कठिन कारावास का दण्ड दिया जाता था और उसे जर्मनी देश में रहना कठिन हो जाता था। इस दल का प्रबन्ध प्रजातन्त्र प्रणाली से नहीं होता था। इसका प्रबन्ध ऊपर से नीचे की ओर था नीचे से ऊपर की ओर नहीं। हिटलर के शब्द ही सब कुछ थे। उनमें किंचितमात्र भी परिवर्तन नहीं हो सकता था।

देश की समस्त संस्थाएं राष्ट्र संस्था के हित के लिए थीं। राष्ट्र विमुख होकर कोई भी संस्था नहीं रह सकती थी। यहां तक कि धार्मिक संस्थाए भी राष्ट्र के अधीनस्थ बना दी गयी थीं। गिरजाघरों के उच्च-पदाधिकारी भी राष्ट्र की ओर से नियुक्ति पाते थे। प्रोटेस्टेन्ट धर्म के अनेक पदाधिकारी नाज़ीदल के सदस्य नियुक्त कर दिये गये थे। इससे जनता में बड़ा हाहाकार मच गया और फिर सरकार ने अपनी नीति बदली। हिटलर को भगवान माना जाता था। "Hitler is a new, a great and a more powerful Jesus Christ" हिटलर एक नवीन, एक बड़ा तथा अधिक शक्तिशाली ईसा है।"

जर्मन देश में अनार्यों के लिए कोई स्थान न था। नाज़ीवाद एक नवीन सिद्धान्त को प्रतिपादित किया था जिसके अनुसार आर्य ही सर्व-श्रेष्ठ और सर्वोन्नति जाति है। अन्य जातियां पशुओं से कुछ ही अधिक

उन्नत हैं अन्य जातियों में न तो शारीरिक बल ही अधिक है और न मानसिक ही। आर्य जाति में ही सभी गुण पाये जाते हैं। आर्य शारीरिक तथा मानसिक बल में अन्य लोगों से बहुत आगे हैं। जर्मनी में अधिकांश आर्य ही हैं। अन्य जातिवाले अथवा अनार्य इस देश की उन्नति के लिए घातक हैं। ज्यू लोग अनार्य हैं। अतः इनको जर्मनी में रहने का कोई भी अधिकार नहीं है। यह जर्मनी की उन्नति में घातक सिद्ध होंगे। इसी आधार पर ज्यू लोगों को जर्मनी से निर्वासन की आज्ञा दी गयी थी। डाक्टर विल्लीवाल हेन्सचल (Dr. Willibaed Hentschel) लिखते हैं कि एक सहस्त्र शुद्ध जर्मन रुधिरवाली लड़कियों को पकड़ो। उनको एक एकान्त शिविर में स्थान दे दो। तत्पश्चात् उनमे और जर्मनों, जो शुद्ध जर्मन हैं, से संयोग कराओ। यदि इस प्रकार के सौ भी शिविर स्थापित हो जायं तो एक बार में लाखों शुद्ध जर्मन रुधिर के बच्चे उत्पन्न होंगे।" ऐसे मूर्खतापूर्ण सिद्धांतों पर राष्ट्र की नीति निर्धारित करनेवालों के लिए क्या कहा जाय? जर्मनी की नवीन नीति निर्धारण में जिन लोगों ने दार्शनिक तर्क उपस्थित किये वे ही अनार्य थे। इसके अतिरिक्त जर्मनी में अनेकों प्रतिभाशाली पुरुष हुए हैं जो दैवात् अनार्य थे। दूसरे अनेकों जर्मन ऐसे हैं जो शुद्ध आर्य होते हुए भी अप्रतिभ हैं।

नाज़ीवाद आन्दोलन इतना घोर सर्वाधिकारवादी तथा व्यापक था कि कुटुम्ब तथा परिवार भी उसके नियंत्रण से नहीं बच सके। मातृ-कर्म की इति श्री केवल शुद्ध रुधिर के शिशु उत्पादन में ही समझी जाती थी। हिटलर के अनुसार माताओं की शिक्षा निम्न प्रकार की होनी चाहिए—
"स्त्री शिक्षा में हमें प्रमुख ध्यान उसकी शारीरिक उन्नति पर देनी चाहिए। तत्पश्चात् आध्यात्मिक और मानसिक उन्नति पर ध्यान देना आवश्यक है। मातृत्व ही स्त्री शिक्षा का उद्देश्य है।"

शिक्षाविभाग पूर्णरूप से नाजीवाद द्वारा आवृत्त था। मेन कैम्फ (Mein Kamph) नाज़ीवाद की गीता मानी गई है और इसी पुस्तक में हिटलर ने अपने सिद्धान्तों को प्रतिपादित किया है। डाक्टर रस्ट (Dr. Rust) जो प्रशा का शिक्षामंत्री था मार्च १९३३ में अपने विभाग को निम्न आज्ञा देता है:—

"मैं पाठशालाओं के कुलपतियों को यह सूचित करता हूँ कि वे विद्यालय के पाठ्य पुस्तक सम्बन्धी नियम का यथेष्ट पालन करें। नेता की (Mein Kamph) मेन कैम्फ नामक पुस्तक को अनिवार्य रूप से प्रथम

स्थान दिया जायगा। यह अनिवार्य है कि कुछ दिन में ही प्रत्येक लड़का तथा लड़की स पुस्तक का अध्ययन कर ले। प्रत्येक शिक्षक के लिए यह आवश्यक है, वह सच्चे राष्ट्रीय समाजवाद जैसा कि स पुस्तक में ति-पादित है, के प्रमुख सिद्धान्तो को समझाये।"

जनता के साधारण व्यसन साधनों पर भी नाज़ीवाद का प्रकोप हो गया था। सचल-चित्र-प्रदर्शन (Cinema), पाठशाला, नृत्यशाला तथा साहित्य आदि सभी स्थलों पर नाज़ीवाद का प्रभाव था। ये स्थान नाज़ीधर्म के प्रचार के लिये अत्यन्त उत्तम समझे गये थे। अध्ययन पुस्तकों में नाज़ी प्रचार संबंधी वस्तुएं आवश्यक थीं। प्रायः प्रत्येक जर्मन प्रत्येक दिन १५० बार हेल हिटलर (Heil Hitler) के नारे लगाता था। यहां तक कि जीवन का कोई भी अंग ऐसा नहीं था जहां नाज़ीवाद का पांव न अड़ा रहा हो। फासीवाद व्यापकता में नाज़ीवाद से अत्यन्त पीछे था। परन्तु यह नाज़ीवाद की चरम अवस्था थी। उसका पतन शीघ्र ही आने वाला था। बुझते समय दीपक अधिक दीप्तमान हो जाता है।

नाज़ीवादी परराष्ट्र नीति--नाज़ीवादी दर्शन के अनुसार युद्ध अनिवार्य है। युद्ध ही मनुष्य का उच्चतम आदर्श है। युद्ध से ही मनुष्य का उत्थान संभव है शांति में मनुष्य पतित हो जाना है। यह युद्ध के सिद्धांत मेन कैम्फ में प्रतिपादित किये गये हैं। उस पुस्तक के कुछ अवतरण नाज़ीवादी परराष्ट्रनीति का दिग्दर्शन कराने के लिये उद्धृत किये जा रहे हैं।

प्रथम "निरन्तर युद्ध से ही मानव समुदाय महान बना है। शाश्वत शांति में मनुष्य समुदाय का पतन हो जायगा।"

इसी सिद्धांत को कर्नल हर्ले ने फाउन्डेशन आफ जर्मन वार पालिटिक्स में इस प्रकार विकसित किया है--

संतोष दो प्रकार के होते हैं। एक संतोष कायरता के कारण होता है जो प्राकृतिक संतोष कहलाता है। तथा द्वितीय संतोष मिथ्या होता है जो दिखावट के लिये उपयुक्त होता है। यह कृत्रिम संतोष होता है। यह द्वितीय प्रकार का संतोष युद्ध का अमोघ अस्त्र तथा शस्त्र है। इस शस्त्र के प्रयोग से शत्रु सुरक्षा की चेतना नहीं रखता। शत्रु केवल धूम्रपट के निष्प्रयोजन प्रयोग से ही वशीभूत हो जाता है

और आक्रमणकारी को अपने अन्य अस्त्र-शस्त्रों को छिपाने का अवसर मिल जाता है ।"

परन्तु दुःख की बात है कि जर्मनी परराष्ट्र नीति में इस अमोघ शक्ति का प्रयोग नहीं कर सका ।

नता की मेनकैम्फ नामक पुस्तक से हमें उसके परराष्ट्र नीति संबंधी अन्य मन्तव्यों का भी आभास मिलता है ।

द्वितीय — युद्ध ही संधि का ध्येय था । जर्मनी परराष्ट्र से मैत्री केवल युद्ध के लिये करता था । "वह संधि जिसका अभिप्राय युद्ध नहीं है निरर्थक तथा निष्प्रयोजन है ।"

तृतीय — जर्मन परराष्ट्र नीति का मुख्य ध्येय अन्य राष्ट्रों को जो सुसैन्य थे नष्ट करना था ।

"जर्मन राजनीति अपने बाह्य विकास के लिये सदैव और सर्वदा यह घोषित करेगी कि यूरोप महाद्वीप में दो स्थल शक्तियां नहीं रह सकतीं और न जर्मनी उसे रहने ही देगा । जर्मनी की राष्ट्रसीमा पर किसी सैन्य शक्ति की व्यवस्था करना चाहे वह राष्ट्र निर्माण के ही रूप में हो जर्मनी पर आक्रमण करना है । तुम प्रत्येक प्रकार से ऐसे राष्ट्र के अस्तित्व की संभावना को नष्ट करने का प्रयत्न करो । ऐसा करने का तुम्हारा अधिकार और तुम्हारा कर्त्तव्य भी है । तुम ऐसे प्रयत्न में शस्त्र का भी प्रयोग कर सकते हो । यदि ऐसा राष्ट्र निर्मित हो चुका है तो तुम उसे पुनः नष्ट कर दो ।"

चतुर्थ — उपनिवेशों की पुनर्प्राप्ति के हेतु युद्ध अनिवार्य था । "यह अनिवार्य तथा स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाना चाहिए कि भगवान से प्रार्थना करने से अन्तर्राष्ट्रीय संघ हमारे खोये हुए उपनिवेशों को नहीं लौटायेगा ।"

"दलित प्रान्त प्रार्थना करने से साम्राज्य की गोद में नहीं आयेंगे । उनको लाने के लिये एक तीव्र कृपाण की आवश्यकता है । इस कृपाण का प्रयोग जनता की गृह-नीति से संबंधित है । यह ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि यह प्रयोग पूर्ण प्रतिम् के साथ किया है । परराष्ट्रीय नीति के लिये हमें शस्त्र में सहायकों की आवश्यकता है ।"

पञ्चम् जर्मन परराष्ट्र नीति का लक्ष्य अन्य देशों पर विजय प्राप्त करना था ।

"युद्धोत्तर (१९१८ के महायुद्ध) के पूर्व जर्मन प्रदेशों को प्राप्त करना जर्मन परराष्ट्र नीति का ध्येय है । इन उपनिवेशों को प्राप्त करने से भूमि जनता की संख्या की अनुरूपता में आ जायगी ।"

षष्ठम् जर्मन परराष्ट्र नीति का उद्देश्य १९१४ में प्राप्त किये हुए प्रदेशों तक ही सीमित न था । जाति के विचार से तथा सेना संबंधी भूगोल के विचार से भी यह प्रान्त अपर्याप्त थे ।

"१९१४ की सीमा प्राप्ति का अनुरोध तो राजनैतिक उन्माद मात्र है । १९१४ की देश की सीमा तर्क-युक्त थी । परन्तु वास्तव में वह न तो जातीय एकीकरण के विचार से पूर्ण थी और न सामरिक भौगोलिक परिस्थिति के विचार से ही उचित थी । १९१४ की जर्मन सीमा भविष्य के जर्मनी के हेतु है अन्य कुछ भी नहीं है ।"

इसका अभिप्राय यह है कि १९१४ की जर्मनी की सीमा जर्मनी के भविष्य के विस्तार का एक साधन मात्र है । जर्मनी जब १९१४ की सीमा को प्राप्त कर लेगा तो उसे भविष्य में अभिवृद्धि के लिए अवसर मिल जायगा ।

सप्तम् जर्मनी की परराष्ट्र नीति नवीन देशों के विजय के लिये थी । यह देश विजय प्रायः पूर्वी देशों के विजय की ओर लक्ष्य करके थी । यह नीति विशेषतः रूसी प्रान्त तथा अन्य निकटवर्ती देशों के विजय के लिये थी ।

"जर्मनी की यह औपनिवेशिक नीति केवल यूरोपीय भूमि पर ही कार्यान्वित हो सकती है । यदि किसी प्रकार का उपनिवेश यूरोप में प्राप्त किया जा सकता है तो वह रूस को ही हानि पहुंचाकर हो सकता है ।"

"हमें अपनी दक्षिण पश्चिम की निरन्तर यात्रा को समाप्त कर पूर्व के देशों पर दृष्टि डालनी चाहिए । जब हम यूरोप में भूमि के विषय में विचार करते हैं तो हमारे सम्मुख रूस तथा उसकी सीमा पर अन्य पर्वी राज्य ही दिखायी पड़ते हैं ।

यहीं हमारा भाग्य हमें अग्रसर होने के लिये निर्देश देता है। पर्व का यह महान राष्ट्र नष्ट होने के लिये परिपक्व हो गया है।"

अष्टम

अपनी साम्राज्यवादी नीति के लिये जर्मनी इटली तथा ग्रेट ब्रिटेन से संधि चाहता था जिससे कि फ्रांस जो उसका घातक शत्रु था अकेला पड़ जावे। इससे सामरिक क्रियाओं के लिये महत्वपूर्ण स्थलों की सुरक्षा हो जायगी।

"ग्रेट ब्रिटेन जर्मनी को संसार की महान शक्ति के रूप में नहीं देखना चाहता था परन्तु फ्रांस हमें शक्तिहीन बनाना चाहता है। दोनों देशों की ृष्टि में महान अन्तर है। इस समय हमें संसार की शक्ति के लिये आकांक्षा नहीं करना है वरन् अपने अस्तित्व के लिये प्रयत्न करना है। हमें अपनी जाति का एकीकरण करना है। हमें अपने बच्चों की रोटी का प्रबंध करना है। यदि हम इस दृष्टि से यूरोप की ओर देखते हैं तो हमें केवल दो सहायक दिखायी पड़ते हैं। प्रथम ग्रेट ब्रिटेन तथा द्वितीय इटली।"

नवम्

जर्मनी की परराष्ट्र नीति का नवम् लक्ष्य जो मेन कैम्फ नामक पुस्तक के अन्तिम अध्याय से प्रगट होता है, संसार व्यापी साम्राज्य था।

"जर्मनी अनिवार्य रूप से संसार में अपना स्थान प्राप्त करगा यदि वह इस पुस्तक में दिये गये सिद्धांतों के अनुसार व्यवस्थित तथा अनुशासित किया गया।"

"जातीय विष के युग में जो राष्ट्र अपने उत्तमत जातीय तत्वों को समुन्नत करेगा वह अवश्यमेव एक दिन संसार का प्रभु होगा।"

मेनकैम्फ नामक पुस्तक में दिये गये इन सिद्धांतों से जर्मनी की परराष्ट्र नीति अत्यन्त स्पष्ट हो गयी है। नाजीवाद ने सर्व प्रथम अपने देश वासियों को जागृत करने के लिये राष्ट्रीय समाजवाद के आडम्बरमय सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। पर उस नीति को परराष्ट्र नीति में नहीं माना। परराष्ट्रनीति में उसने अत्यन्त उग्र साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण किया। यदि इस स्थल पर कुछ उद्धरण नाजीवादी सरकार द्वारा दिये गये वक्तव्यों तथा आदेशों से उद्धृत कर दें तो उक्त पुस्तक में प्रतिपादित सिद्धांतों का स्पष्टीकरण तथा र्ण रूप से समर्थन ो जायगा।

"तृतीय साम्राज्य क्रिश्चियन जर्मन साम्राज्य का भविष्य होगा। यह साम्राज्य मध्य युग के जर्मन साम्राज्य तथा बिस्मार्क के साम्राज्यवादी साम्राज्य का उत्तराधिकारी होगा। और यह समस्त जाति जो मध्य यरोप में है का एकीकरण कर देगा।"

(नेशनल सोशलिस्ट पोलिटिकल ए० बी० सी०, पृ० २६)

"जातीय ऐश्वर्य के लिये उपनिवेश की आवश्यकता है। ....इस संघर्ष में अयोग्य पोल तथा चेक लोगों का कुछ भी विचार नही किया जा सकता। .... जर्मन कृषकों के लिये स्थान रिक्त हो जाना चाहिए।"

(अलफ्रेड रोजेन वर्ग)

आज तक संसार में इतने स्पष्ट रूप से किसी राष्ट्र ने भी अपनी नीति नहीं निर्धारित की थी। साम्राज्यवादी परराष्ट्र नीति तो अनेक राष्ट्रों की थी और है परन्तु किसी राष्ट्र ने अपनी नीति को इतने स्पष्ट शब्दों में न व्यक्त किया था और न करता है। इतने उग्र विचार होने पर भी किसी राष्ट्र ने जर्मनी की इस नीति में हस्तक्षेप नहीं किया। इसका कारण हम नाज़ीदल के उत्थान में समुचित रूप से दे चुके हैं। उसके पुर्नविवेचन की आवश्यकता नहीं है।

जर्मनी ने शनैः शनैः अपनी नीति को क्रियात्मक रूप दिया। उसने वर्साई की संधि के अनेक नियमों का उल्लंघन किया। जमनी को अस्त्र-शस्त्रादि से सुसज्जित किया और जर्मनी को एक महान सैन्यबल बना दिया। १९३४ की जनवरी में रूस पर आक्रमण करने के लिये पोलैण्ड की सरकार से संधि हुई। डांलफस की हत्या करा कर आस्ट्रिया पर अधिकार करने की निष्फल चेष्टा की गयी। जन-मत-गणना (Plebiscite) कराकर १९३५ में सार प्रान्त जर्मनी में पुनः मिला लिया गया। १९३५ में आंग्ल-जर्मन नाविक संधि हुई जिसमें जर्मनी को इंगलैण्ड के ३५% प्रतिशत नाविक शक्ति का अधिकार प्राप्त हुआ। मार्च १९३६ में लोकार्नो को दोषपूर्ण घोषित कर राइन प्रदेश में पुनर्सैन्य स्थापित किया गया। तत्पश्चात् आस्ट्रिया, डानजिग, पोलैण्ड, बेलजियम, फ्रांस आदि देशों पर जर्मनी ने विजय प्राप्त की और महासमर प्रारम्भ हो गया। यूरोपीय भूमि पर महा समर छिड़ते ही पूर्व में जापान ने भी सहायक राष्ट्रों के प्रतिकूल युद्ध घोषित कर दिया। सहायक राष्ट्रों में प्रमुख इंगलैण्ड, फ्रांस, अमेरिका रूस तथा चीन थे और धुरी शक्तियों में जापान, जर्मनी तथा इटली थे।

युद्ध के आरम्भ में धुरी शक्तियों की बड़ी तीव्रता के साथ विजय होती रही परन्तु अन्त में धुरी शक्तियों की पराजय हुई और धुरी शक्तियों के प्रदेश पर सहायक शक्तियों ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। जर्मनी की पराजय १९४५ में हुई। राष्ट्र के पराजय के साथ साथ उस वाद का भी अन्त होगया जिसपर यह अवलम्बित था। कहा नहीं जा सकता कि भविष्य में क्या प्रतिक्रिया होगी।

नाज़ीवाद तथा उसकी नीति का जर्मनी को यही प्रतिफल मिला है।

अध्याय २०

राष्ट्रवाद (NATIONALISM)

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में यूरोप में राष्ट्रवाद का प्रचार हुआ। उससे पूर्व राष्ट्रवाद को कोई जानता भी न था। सन् १७७२ में पोलैन्ड का विभाजन हुआ उसी समय मे पोलैन्ड निवासियों को यह अनुभव हुआ कि "हमलोग एक जाति के हैं और एक देश के हैं। हमारी सभ्यता और संस्कृति समान है। हमारी भाषा और परम्परागत रीति रिवाज समान है अत: हमको विभक्त करना अन्याय है।" इसके पश्चात् फ्रांस की क्रान्ति में फ्रांस के लोगों में राष्ट्रीयता के भावों का विकास हुआ और शनै: शनै: ये विचार सम्पूर्ण यूरोप तथा संसार के अन्य भागों में फैल गये।

राष्ट्र, राष्ट्रीयता तथा राष्ट्रवाद--अठारहवीं शताब्दी के अन्त में केवल एक देश में रहने वाले समान सभ्यता और संस्कृति को मानने वाले, तथा समान भाषा बोलने वाले और परम्परागत रीति रिवाजों के मानने वाले लोगों को राष्ट्र समझा जाता था। अत: सर्वप्रथम राष्ट्र के अस्तित्व के लिये पांच बातें आवश्यक समझी जाती थीं--देश, सभ्यता, संस्कृति, भाषा और परम्परागत रीतिरिवाज। इसके पश्चात् इन पांच बातों में धर्म भी सम्मिलित किया गया और राष्ट्र के लिये ये छ: बातें अत्यन्त आवश्यक समझी जाने लगीं। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में राष्ट्रीयता के विचारों में कुछ परिवर्तन हुआ। 'राष्ट्र' और 'जाति' दो भिन्न-भिन्न बातें समझी जाने लगीं। 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ, "एक राजनीतिक रूप में संगठित मनुष्य समाज जो एक देश में रहता हो और जो स्वतंत्र हो अथवा स्वतंत्रता प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा हो" ऐसा समझा जाने लगा। 'जाति' शब्द में राजनीतिक कल्पना का सम्मिश्रण न रहा। एक समान रीति रिवाज वाले समान भाषा बोलने वाले, समान सभ्यता और संस्कृति को मानने वाले जिनका वंशीय मूल एक हो, ऐसे मनुष्य समुदाय के लिये 'जाति' शब्द का प्रयोग होने लगा। ब्लंशली (Bluntschli) ने जाति की परिभाषा इस प्रकार की है "एक परम्परा गत मनुष्य समाज जिसमें भिन्न-भिन्न व्यवसाय करने वाले लोग सम्मिलित हों, जिनके विचार, भाव, तथा स्वभाव एक से हों, जिनका जातीय मूल एक हो, जिनकी भाषा, रीति रिवाज और सभ्यता समान हो, और भूमि अथवा निवास स्थान का विचार करके वह समाज यह अनुभव करता

हो कि हम एक हैं और अन्य विदेशियों से बिल्कुल भिन्न हैं, ऐसे मनुष्य-समाज को जाति कहेंगे" *। अतः राष्ट्र (nation) और जाति (nationality) समान नहीं हैं । इन दोनों शब्दों में भेद है । राष्ट्र (nation) एक स्वतंत्र तथा स्वशासित देश को कहते हैं उसमें अनेक जाति (nationality) के लोग भी हो सकत हैं। स्विट्जरलैन्ड एक राष्ट्र है वहां इतालियन, फ्रेंच तथा जर्मन जाति के लोग रहते हैं।

जिस प्रकार राष्ट्र और जाति में भेद है उसी प्रकार राष्ट्र वाद तथा राष्ट्रीयता में भी भेद है। राष्ट्र और जाति का भेद हमारे सामने दो भिन्न भिन्न कल्पनायें उपस्थित करता है। राष्ट्र में देश भक्ति का सम्मिश्रण है। एक राष्ट्र के लोगों में देश भक्ति के विचार होना आवश्यक है। 'जाति' में देश भक्ति के विचारों का होना आवश्यक नहीं है। परन्तु राष्ट्र वाद में देश भक्ति के विचारों की पराकाष्ठा होती है। राष्ट्रवादी लोग अपने देश के प्रेम में इतने अन्धे होते हैं कि वे अपने देश के हित के लिये दूसरे देशों पर अत्याचार करने को भी उद्यत हो जाते हैं। राष्ट्र वादी लोग अपने देश को देवता के समान समझते हैं उसके लिय अपने को बलिदान करने के लिये उद्यत रहते हैं। केवल यही नहीं राष्ट्र वादी अपने देश को राष्ट्र मानते हैं। भिन्न भिन्न जातियों का विचार न करके सब जाति के लोग मिलकर रहते हैं। भिन्न भिन्न भाषा रीति, रिवाज, सभ्यता, तथा संस्कृति के होते हुये भी राष्ट्र-वादी आपस में अपने देश की उन्नति करने के लिये प्रेम पूर्वक रहते हैं। अन्य देशों तथा राष्ट्रों से अपने को बिल्कुल भिन्न समझते हैं। अन्य राष्ट्रों से वे लोग अधिक सम्पर्क स्थापित करना स्वदेश के लिये अहितकर समझते हैं। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जर्मनी में राष्ट्रवाद को पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया। यहां तक कि स बात पर जोर दिया कि जर्मनी एक ेश, एक जाति, एक दल, (party), एक राष्ट्र, एक भाषा-भाषी ही रहेगा। इसकी सभ्यता तथा संस्कृति भी एक ही रहेगी। इन विचारों से उत्तेजित होकर जर्मन निवासियों ने जो कुछ किया वह सब को विदित है ।

राष्ट्रवाद के मूलतत्व—प्रत्येक सिद्धान्त के कुछ मूलतत्व हुआ करते हैं जिनके आधार पर वह सिद्धान्त स्थापित होता है। राष्ट्रवाद के मूलतत्व निम्नलिखित हैं:—

१. **स्थानीय भूगोल**—किसी देश के भूगोल का उस देश के निवासियों

* ब्लंटली—थ्यौरी ऑफ दी स्टेट, पृष्ठ ९०।

पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। एक विशेष भूभाग में रहने वाले लोगों में परस्पर प्रेम हो जाता है और वे उस प्रेम के बंधनका अनुभव करते है। मनुष्य जिस ग्राम, नगर अथवा देश में जन्म लेता है उसे अपनी मातृ-भूमि अथवा पितृ-भूमि कहकर संबोधित करता है। जर्मन अपने देश को पितृ-भूमि कहते हैं। भारतवासी अपने देश को मातृ-भूमि कहते हैं। सम्भव है अपने देश में रहते हुए मनुष्य इस बात का अनुभव न करे परन्तु जब मनुष्य अपने देश से बाहर जाता है तब उसे पता चलता है कि मातृ-भूमि अथवा पितृ-भूमि बंधन क्या वस्तु है। जब हमें विदेश में अपने जन्म स्थान का कोई मिल जाता है तो उसके प्रति हमको बड़ा प्रेम होता है उसे अपने कुटुम्बी के सामान समझते है। संसार में देखने में आता है कि जन्म भूमि का बन्धन बड़ा महत्व रखता है। यह बन्धन राष्ट्रीयता के भावों का जन्म-दाता है और राष्ट्रीयता का मूल आधार है। एक विशेष भूभाग में रहने वाले लोग अपने को अन्य भूभाग के रहने वाले लोगों से बिल्कुल भिन्न समझते हैं, चाहे उनका वंशीय मूल एक ही क्यों न हो। संसार के प्रत्येक भाग में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। अपने ही प्रान्त में कमाऊं और गढ़वाल के निवासी अपने को एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न समझते हैं। पहाड़ी और देशी (Hillman and plainsman) का प्रश्न बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है। युनान और रोमन में प्राचीन काल में पहाड़ी लोग अपने को देश के निवासियों से बिल्कुल भिन्न समझते थे और एक दूसरे को दूरस्थ विदेशियों की भांति समझते थे। भौगोलिक परि-स्थिति के कारण प्राचीन काल में यूनान के नगर राज्यों में आपस में बड़ा भेद-भाव था। स्पार्टा (Sparta) नगर के रहने वाले ऐथन्स (Athens) नगर-निवासियों से अपने को भिन्न मानते थे। उनके रहन सहन तथा शासन पद्धति बिल्कुल भिन्न थी। स्पार्टा निवासी शारीरिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान देते थे और ऐथन्स निवासी मान-सिक अथवा बौद्धिक उन्नति की ओर अधिक ध्यान देते थे।

मैजिनी (Mazzini) आधुनिक राष्ट्रवाद का जन्मदाता कहा जाता है। उसका मत है कि "हमारा देश हमारी जन्म-भूमि है, यह घर हमें ईश्वर ने दिया है। उसने इसमें एक बड़ा कुटुम्ब उत्पन्न किया है जिससे हम प्रेम करते हैं और जो हमें प्रेम करता है, जिसके साथ हमें सहानुभति है, जिसे हम अन्य कुटुम्बों की अपेक्षा अधिक भली भांति समझते हैं, जो एक निश्चित स्थान पर केन्द्रित हैं और समान जीवन व्यतीत करते हैं। हमारा

देश एक सर्व सामान्य कर्मशाला है, जहां एसी वस्तुओं का उत्पादन होता है जो संसार के काम आती है और जहां ऐसे उपकरण एकत्र हो सकते हैं जिनका उपयोगिता पूर्ण प्रयोग हो सकता है।" * बिना निश्चित भूमि के वास्तव में राष्ट्रीयता के भाव जागृत नहीं हो सकते हैं। यूरोप की भ्रमण करने वाली जिप्सी (Gypsies) जातियों में राष्ट्रीयता के भाव नहीं हैं क्योंकि वे किसी निश्चित भूभाग पर निवास नहीं करते हैं। टंड्रा की एस्किमो (Eskimos) जातियों में भी राष्ट्रीय भावना का ह्रास है क्योंकि वे लोग भी चलते फिरते रहते हैं और किसी एक ही निश्चित स्थान पर निवास नहीं करते हैं और न कर ही सकते हैं। उन लोगों की भौगोलिक परिस्थिति ऐसी है कि जिससे वे इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने के लिये बाध्य हैं। बी जोज़फ (B. Joseph) का भी विचार है कि राष्ट्रीयता में भूमि बड़ा महत्व रखती है वास्तव में किसी स्थान की भौगोलिक परिस्थिति का वहां के निवासियों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। उस देश की जलवायु उनके रहन-सहन पर बड़ा प्रभाव डालती है। जलवायु के अनुसार उनका रहन-सहन, उनके उद्योग धंधे, उनके कारबार आदि सब बातों में समानता होती है और यही समानता उनमें भ्रातृभाव उत्पन्न करती है।

राष्ट्र के लिये निश्चित भमि की आवश्यकता तो अवश्य है परन्तु सम्पूर्ण संसार की भूमि को राष्ट्रीयता के अनुसार विभाजित करना बड़ी भारी भूल है। इसी भल के कारण संसार में बड़े-बड़े अत्याचार और महायुद्ध हो चुके हैं और हो सकते हैं। प्रोफेसर हेज़ (Professor Hayes) ने राष्ट्रीय निर्माण के लिये भौगोलिक आधार का विरोध किया है।

२—**सामान्य संस्कृति** (common culture)—संस्कृति भी राष्ट्रवाद का एक महत्वपूर्ण आधार है। मनुष्यों के समान विचार तथा समान आदर्श उनका राष्ट्रीय संगठन करने में बड़े सहायक होते हैं। प्रोफेसर हेज़ ने संस्कृति को राष्ट्रीयता का महत्वपूर्ण आधार बतलाया है। उसका कथन है कि मनुष्यों का एक ऐसा समुदाय जिसकी संस्कृति समान है, वास्तव में एक राष्ट्र का स्वरूप है। संस्कृति की समानता में केवल विचारों की ही समानता सम्मिलित नहीं है। संस्कृति में बहुत बातें सम्मिलित हैं। संस्कृति में मनुष्यों के

* "जिनी—लाइफ ऐन्ड राइटिंग्स पुस्तक, पृष्ठ २७६।

परम्परागत रीतिरिवाज, साहित्य, प्राचीन कथाएँ तथा गाथाएं आदि अनके बातें सम्मिलित है। जिनकी संस्कृति समान होती है उनके विचारों में भी समानता होती है। यह तो एक साधारण अनुभव की बात है कि जिन लोगों के विचार समान होते है उनमें आपस में परस्पर मित्रता हो जाती है। विचारों की समानता मनुष्यों का परस्पर संगठन करने में बड़ी सहायक होती है। जिस प्रकार भौगोलिक परिस्थिति मनुष्य समाजका संगठन करने में और राष्ट्रीयता के भी उत्पन्न करने में सहायक होती है उसी प्रकार संस्कृति भी राष्ट्रीयता के भाव उत्पन्न करने में सहायक होती है। बी० जोज़फ़ का विचार है कि राष्ट्रीय साहित्य, शिक्षा, संस्कृति तथा कलाकौशल राष्ट्रीयता के कारण तथा परिणाम हो सकते हैं। उसका कथन है कि राष्ट्रीय साहित्य राष्ट्रीय-परम्परा को उत्पन्न तथा स्थित करने का प्रयत्न करके और राष्ट्र के लिये राष्ट्रीय इतिहास को प्रिय बना कर राष्ट्रीयता की प्रगति में बड़ा सहायक होता है।* वास्तव में साहित्य राष्ट्र का गौरव है। वाल्टेयर (Voltaire) बड़े गौरव के साथ कहा करता था कि "हमारी भाषा तथा साहित्य ने शार्लिमन (Chaarlemagne) की अपेक्षा कहीं अधिक विजय प्राप्त की है।"

साहित्य के समान शिक्षा ने भी राष्ट्रीयता के भा ों की उन्नति करने में बड़ी सहायता की है। शिक्षा द्वारा किसी देश अथवा जाति में राष्ट्रीयता के भाव फूंके जा सकते हैं। शिक्षा एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा लाभ भी हो सकता है और हानि भी। शिक्षा द्वारा राष्ट्रीयता के कलुषित तथा संकुचित विचार भी उत्पन्न किये जा सकते हैं, और श्रेष्ठ विचार भी उत्पन्न किये जा सकते हैं। बी० जोज़फ़ का विचार है कि शिक्षा एक राष्ट्र में नैतिक ऐक्य स्थापित करती है, गुण अवगुण अथवा बुराई भलाई को समझने के ज्ञान का विकास करती है और राष्ट्र के व्यक्तियों में पारस्परिक सम्पर्क स्थापित करती है। जब संस्कृति तथा साहित्य की समानता का ह्रास हो जाता है तभी राष्ट्र के व्यक्तित्व का भी ह्रास हो जाता है। राष्ट्रीयता के भाव किसी देश अथवा जाति में उसी समय तक रहते हैं जब तक उस देश व जाति के लोगों के विचार समान रहते हैं और उनके दृष्टि कोण में समानता

---

* बी० जोजफ़–नेशनैलिटी, पृष्ठ ११४।

रहती है। जब तक उन की भावनाएं, ईच्छाएं तथा प्रवृत्तियां समान रहती हैं तभी तक उनमें राष्ट्रीय संगठन रह सकता है। किसी राष्ट्र का नाश उसकी संस्कृति पर कुठाराघात करके बड़ी सरलता से किया जा सकता है।

३—सामान्य भाषा (common language)—

भाषा भी राष्ट्रवाद का एक महत्वपूर्ण अंग है। रम्जे म्यूर (Ramsay Muir) का विश्वास है कि "एक राष्ट्र के ढालने में भाषा की समानता वंशकी समानता से अधिक महत्व रखती है"। उसका विचार है कि सामान्य भाषा होने से साहित्य, महान-विचारों का अन्तर्बोध, परम्परागत **गीत** तथा कथाएं व गाथाएं समान होती है। जे० एच० रोज (J. H. Rose) का विश्वास है कि भाषा की समानता बड़ा राजनीतिक महत्व रखती है। बी० जोज़फ़ (B. Joseph) का कथन है कि "राष्ट्रीयता का सबसे महत्वपूर्ण तत्व भाषा है"। वास्तव में भाषा की समानता द्वारा मनुष्यों का संगठन होता है और उन में राष्ट्रीयता के भावों का विकास होता है। सन् १९०५ में जब लार्ड कर्जन (Lord Curzon) ने बंग-भंग किया था उस समय बंगाली भाषा बोलने वाले लोगों का विभाजन हो गया था उन लोगों ने इस बात का बड़ा विरोध किया। बंगालियों का यह विश्वास हुआ कि हमारी राष्ट्रीयता पर कुठाराघात किया जा रहा है। बंगालियों ने रुष्ट होकर बड़े-बड़े अराजकता के कार्य किये परिणाम यह हुआ कि बंगाल को फिर एक करना पड़ा। जर्मन बोलने वाले लोगों का एक राष्ट्र बनाने के लिये हिटलर (Hitler) ने बड़ा प्रयत्न किया था। आधुनिक काल में भी राष्ट्र निर्माण में भाषा जो कार्य कर रही है सब को विदित है। अभी तक भारतवर्ष में बहुत से लोग भाषा के आधार पर प्रान्त बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इन लोगों का यह विश्वास है कि उनकी राष्ट्रीयता का अस्तित्व तभी स्थापित रह सकता है जब समान भाषा बोल वालों को पृथक पृथक प्रान्तों में विभाजित कर दिया जाय। इस प्रकार की संकुचित राष्ट्रीयता वास्तव में देश के लिये अहित कर है। कुछ लोगों का मत है कि "समान भाषा-भाषी लोग समान रूप से विचार करते हैं, और समान रूप से अपने विचार प्रकट करते हैं अतः समान भाषा बोलने वालों का आचार-विचार, रीति, रिवाज, रहन-सहन भाव, प्रवृत्तियां आदि समान होती हैं। ये बातें राष्ट्रीयता के विकास में बड़ी सहायक होती हैं। यह देखने में आता है कि एक राष्ट्र में इन बातों की समानता पाई जाती

हैं। भाषा और भी महत्व रखती है। भाषा ऐतिहासिक परम्परा स्थापित रखती है और लोगों को प्राचीन काल के राष्ट्रीय महान पुरुषों का स्मरण करा कर राष्ट्रीयता के भाव जागृत रखती है।

भाषा राष्ट्रीयता का भाव जागृत करने में सहायक अवश्य होती है परन्तु यह भी देखने में आता है कि भाषा की समानता का ह्रास भी राष्ट्र निर्माण में बाधक नहीं होता है। रूस में अनेक भाषाएं बोलने वाली जातियां एक राष्ट्र के बंधन में बंधी हुई हैं। स्विटज़रलैंड में तीन भाषाएं बोलने वाले लोग एक राष्ट्र बनाये हुए हैं। अमेरिका के संयुक्त राज्य में भी एक से अधिक भाषा बोलने वाले लोग एक राष्ट्र बनाये हुए हैं। संसार में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे ज्ञात होता है कि भाषा किसी भी प्रकार से राष्ट्र निर्माण में बाधक नहीं हो सकती है। इसी लिये जे० एच० रोज (J. H. Rose) का यह विचार है कि "शिक्षा का प्रचार होने से राष्ट्र-निर्माण में भाषा का महत्व कम ो जायगा।" बी० जोज़फ का कथन है कि "जो लोग एक भाषा बोलते ैं उनमें परस्पर स्वाभाविक आकर्षण होता है।"* वास्तव में जोज़फ़ का यह विचार सत्य है। मैं जब कभी अपने देश से सैकड़ों मील की दूरी पर होता हूं और किसी को ब्रजभाषा बोलते हुए सुनता हूं तो मेरा चित्त उसकी ओर अर्कषित हो जाता है और हृदय में यह भाव उत्पन्न होता है कि यह व्यक्ति हमारी तरफ़ का है। कभी-कभी तो मैं यह पूछने को भी विवश हो जाता हूं कि "आप का निवास स्थान कहां है?" पोलैन्ड में अब भी यह देखने में आता है कि उनमें भाषा के कारण ही राष्ट्रीयता के भाव जागृत हैं।

४-सामान्य वंश (common racc)—राष्ट्र निर्माण में वंशीय समानता बड़ा महत्व रखती है। वंशीय मूल के आधार पर बहुधा प्राचीन काल में लोग संगठन किया करते थे और मध्य काल में भी वंश के अधार पर लोगों ने राष्ट्रीय संगठन किया था। प्राचीन काल में यूनान में केवल यूनानियों को ही नागरिकता के अधिकार प्राप्त थे। वहां विदेशियों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे। यूनानी लोग विदेशियों को अन्य वंश का समझते थे। ए० ई० ज़िमर्न (A. E. Zimmern) ने राष्ट्र निर्माण के लिये वंशीय मूल को आवश्यक समझा है। रोज़ का विचार है कि सभ्यता की अनुन्नत दशा में वंशीय मूल राष्ट्र निर्माण के लिये आवश्यक समझा जाता था। बेल्जियम के प्रसिद्ध विद्वान लैवेलिये

* बी० जोज़फ़—नेशनैलिटी, पृष्ठ ६१।

(Laveleye) का विचार है कि ज्यों-ज्यों मनुष्यों की संस्कृति की उन्नति होती जायगी त्यों-त्यों उनके इस विचार का ह्रास होता जायगा कि वंशीय मूल राष्ट्र-निर्माण के लिये आवश्यक है। वास्तव में आधुनिक काल में इस बात का उदाहरण कहीं नहीं मिलता जहां लोगों ने वंशीय मूल के आधार पर राष्ट्र का निर्माण कर रखा हो। बीसवीं शताब्दी में हिटलर ने वंशीय मूल के आधार पर राष्ट्र की स्थापना करने का प्रयत्न किया था उसने आर्य जाति को राष्ट्र में संगठित करने का पूर्ण प्रयत्न किया परन्तु उसे इस प्रयत्न में सफलता प्राप्त न हो सकी। मेजि ी का विचार है कि राष्ट्र निर्माण के लिये वंशीय मूल आवश्यक नहीं है। ब्राइस (Bryce) ने अवश्य एक स्थान पर यह लिखा है कि राष्ट्रीय भावना के विकास में वंश भी कुछ महत्व रखता है। हेज़ (Hayes) का कथन है कि वंशीय मूल राष्ट्र निर्माण के लिये आवश्यक अंग नहीं है असभ्य जातियों में ही एक वंश के लोग दिखाई पड़ते हैं। पिल्सबरी (Pillsbury) ने लिखा है कि "साधारण तथा राष्ट्रीयता को निर्धारित करने में वंश कोई महत्व नहीं रखता है। किसी राष्ट्र में भी एक ंश के लोग नहीं है सब स्थानों पर मनुष्य वर्ण संकर है। (Man is everywhere a mongrel.)- अधिकांश विद्वानों का यही मत है कि वंश राष्ट्रीयता के लिये कोई विशेष महत्व नहीं रखता है। इस विचार के लोग स्विटजरलैन्ड, कनाडा, अमेरिका के संयुक्त राज्य, आदि देशों का उदाहरण देकर सिद्ध करते हैं कि इन देशों में भिन्न-भिन्न वंश के लोग रहते हैं और वंशीय मूल की विभिन्नता राष्ट्रीयता के भावों में किसी प्रकार से बाधक नहीं हो ी इन देशों के लोगों में राष्ट्रीयता के भाव पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। ज्यों-ज्यों मनुष्यों में सभ्यता फैलती जायगी त्यों त्यों वंशीय मल का प्रभाव कम होता जायगा।

आधुनिक काल की परिस्थिति ने भी वंशीय मूल के प्रभाव को कम कर दिया है। वर्तमान युग के भिन्न-भिन्न प्रकार के आविष्कारों ने संसार में राष्ट्रीयता के भावों में बड़ा परिवर्तन कर दिया है। उद्योग व्यापार की उन्नति तथा यातायात की सुविधा के कारण लोगों में राष्ट्रीयता के संकुचित विचारों का ह्रास होता जा रहा है। अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संवासों (associations) के स्थापित हो जाने से राष्ट्रीय बातों की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय बातों पर अ िक ध्यान दिया जा रहा है और ऐसे ही विचारों की अधिक उन्नति होती जा रही है।

५—सामान्य धर्म (common religion)—इतिहास पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि प्राचीन काल में राष्ट्र निर्माण में धर्म का बड़ा महत्व-पूर्ण स्थान रहा है। प्राचीन काल में जब मनुष्य अनुन्नत दशा में थे तब केवल धर्म ही एक ऐसी वस्तु थी जिसके आधार पर लोग अपना राष्ट्रीय संगठन करते थे। समान धर्म के लोग अपने को संगठित करके अपने आप को राष्ट्र के रूप में परिवर्तित कर लेते थे। प्राचीन समय में यूनान में ऐसे सामान्य धार्मिक स्थान थे जहां दूर दूर के लोग आकर एकत्र होते थे और एक ही प्रकार से उन धार्मिक त्यौहारों को मनाते थे। इस प्रकार यूनानियों में राष्ट्रीयता के भावों की जागृति रहती थी। ईसाई धर्म के स्थापित होने पर ईसाई राष्ट्रों (Christian Nations) और ईसाई राज्यों (Christian States) की स्थापना हुई। पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) की स्थापना इसी आधार पर हुई थी। न ईसाई राज्यों में धर्म का इतना प्रभाव रहा कि किसी किसी राज्य में केवल ईसाइयों को ही नागरिकता के अधिकार प्राप्त होते थे, अन्य मतावलम्बियों को नहीं। धर्म ने वास्तव में राष्ट्रीयता के भावों का विकास करने और उनकी उन्नति करने में बड़ी सहायता की है।

स्काटलैण्ड में प्रौटेस्टैन्ट धर्म तथा जान नाक्स (John Knox) के विचारों से राष्ट्रीयता के भाव जागृत करने में बड़ी सहायता की थी। मुसलमानों ने संसार के अनेक भागों में धर्म के आधार पर राष्ट्रों की स्थापना की और बहुत समय तक मुस्लिम राष्ट्र स्थापित रहे। महाराजा शिवाजी के समय में धार्मिक विचारों ने मराठा राज्य को स्थापित करने में सहायता की। समर्थ रामदास तथा गुरु कोणदेव ने महा-राष्ट्र देश में धार्मिक विचारों का प्रचार करके राष्ट्र का उत्थान करने का उपदेश दिया। भारत वर्ष में अत्याचारी मुसलमान बादशाहों का विरोध करने के लिये शिवाजी धर्म की रक्षा के नामपर लोगों का संगठन करके शक्तिशाली मराठा राष्ट्र का संगठन करके माराठा साम्राज्य स्थापित किया। महाराणा रणजीत सिंह ने सिक्खों को एकत्र करके और उनमें संगठन करके राष्ट्रीयता के भावों की पूर्ण जागृति करके सतलज नदी से लेकर अफगानिस्तान तक सिक्ख-राज्य स्थापित किया। इस प्रकार इतिहास में अनेक उदाहरण ऐसे हैं जिन से पता चलता है कि धर्म के आधार पर लोगों ने राष्ट्रीय-संगठन किया है और राष्ट्रीय राज्य (Nation States) स्थापित

किये हैं। भारतवर्ष में बीसवीं शताब्दी में धर्म के नाम पर राष्ट्रीयता के भाव जागृत करके यहां के मुसलमानों ने पाकिस्तान की स्थापना की। परन्तु यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये कि जब जब धर्म के आधार पर राष्ट्रीय भावों को जागृत करके राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना की गई तब तब बड़ा अत्याचार और रक्तपात हुआ है। धर्म के नाम पर जब जब संगठन किया गया और राष्ट्रीयता स्थापित की गई तब तब अन्य धर्म के अनुयायियों की हत्या करके उनके नाश करने का प्रयत्न करके शुद्ध धार्मिक राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना करने का प्रयत्न किया गया और सहस्त्रों और लाखों निर्दोष स्त्री-पुरुषों और बच्चों की हत्या की गई।

इतिहास के पढ़ने से पता चलता है कि धर्म ने वास्तव में राष्ट्रीयता स्थापित करने में बड़ी सहायता की है और यह भी पता चलता है कि धर्म के आधार पर राष्ट्रीयता स्थापित करने में बड़े-बड़े अत्याचार भी हुए हैं और कुछ काल तक इन राष्ट्रों की उन्नति भी हुई है परन्तु अन्त में सब राष्ट्र नष्ट हो गये और आज संसार में ऐसे राष्ट्रों को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता है।

धार्मिक संस्थाएं राष्ट्रीयता के भाव जागृत करने में बड़ी सहायक होती हैं परन्तु इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि कहीं यह धार्मिक संस्थाएं धर्मान्धता के भाव उत्पन्न न कर दें जिससे अन्य ध विलम्बियों के साथ परस्पर वैमनस्य हो जाय।

६—सामान्य आर्थिक स्वार्थ (Common Economic Interest)—आर्थिक हितभी मनुष्यों में राष्ट्रीयता के भाव जागृत करने में में बड़ा सहायक होता है। मध्यकालीन यूरोप में आर्थिक हित के आधार पर लोगों ने राष्ट्रीय संगठन किया था। भिन्न-भिन्न जातियों तथा वंशों के लोगों ने वहां शिल्पि-संघ (Guilds) स्थापित किये थे। शिल्पि-संघ के सदस्यों ने अपने आपको राष्ट्र के रूप में संगठित कर के निकाय राज्यों (Guild States) की स्थापना की थी। बहुत काल तक ये निकाय राज्य यूरोप में स्थापित रहे। जापान और आस्ट्रेलिया में आधुनिक काल में उनकी आर्थिक दशा ने उनमें राष्ट्रीयता के भाव जागृत किये हैं। जापान निवासी छोटे-छोटे द्वीपों में निवास करते हैं। उनकी जन-संख्या की वृद्धि होने पर उनके निवास स्थान अथवा देश का विस्तार समुद्र में नहीं बढ़ सकता। उनको नवीन भूमि की आवश्यकता हुई। उन्हें अपने उद्योग-धंधों की उन्नति करने के लिये

हाट, बाजारों की आवश्यकता हुई जहां वे अपने सामान की खपत कर सकें। इन विचारों ने संपूर्ण जापा द्वीपोंनी के निवासियों में एकता तथा राष्ट्रीयता के भाव फूंके परिणाम यह हुआ कि जापान संसार में सबसे प्रसिद्ध और शक्ति शाली हो गया। उसने अपनी शक्ति का प्रयोग करके अपने राज्य का विस्तार बढ़ाने का प्रयत्न किया जिसमें वह असफल रहा। इसी प्रकार आस्ट्रेलिया में भी वहां के लोगों की आर्थिक दशा ने उनमें राष्ट्रीयता के भावों का विकास किया। उन्होंने राष्ट्रीय संगठन किया और यह भी अनुभव किया कि यदि उनमें राष्ट्रीय संगठन न हुआ तो जापान आदि अन्य देशों के लोग आकर उनके देश की आर्थिक अवस्था का लाभ उठायेंगे और अन्त में वे हीन दशा को प्राप्त होंगे अतः उनमें राष्ट्रीयता के भाव जागृत हुए। उन्होंने अपने आपको पूर्ण रूप से संगठित किया। इस समय आस्ट्रेलिया निवासी एक श्रेष्ठ तथा समृद्ध राष्ट्र के रूप में संगठित हैं। उन्होंने अपने राष्ट्र की जापान आदि अन्य देशों के आर्थिक आक्रमण से रक्षा करने के लिये भांति-भांति के ऐसे विधान बना रखे हैं कि अब उनके देश में अन्य देश अनुचित आर्थिक लाभ नहीं उठा सकते।

जहां आर्थिक स्वार्थ राष्ट्रीयता के भावों का विकास करन में और उनको स्थित रखने में सहायक होता है वहां यह बात भी है कि ऐसी दशा में लोगों के विचार संकुचित हो जाते हैं और ऐसी जाति कूप मंडूक की भांति सबसे पृथक रहने का प्रयत्न करती है। आधुनिक काल में वही जातियां और राष्ट्र उन्नति कर सकते हैं जो अपने आपको संपूर्ण विश्वका एक महत्वपूर्ण अंग समझें। राष्ट्रीय विचारों की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय विचारों की वृद्धि करना अधिक उपयोगी है।

७-सामान्य शासन तथा सर्वोच्च सत्ता (Common Government and Sovereign)—एक शासन भी राष्ट्रीयता के भावों का विकास करने में बड़ा सहायक होता है। एक श्रेष्ठ शासक अपने सुशासन द्वारा राष्ट्रीयता के भाव फैलाने में बड़ा सहायक होता है। महाराजा शिवाजी ने लोगों पर अच्छा शासन करके महाराष्ट्र में मराठा राज्य स्थापित किया। मराठा लोगों में राष्ट्रीय भावों का विकास किया और भारत के बहुत बड़े भाग में वह राष्ट्रीय राज्य स्थापित करने में सफल हुआ। सिक्खों के महाराजा रणजीत सिंह ने भी पंजाब में राष्ट्रीय खालसा राज्य की स्थापना की। एक श्रेष्ठ राष्ट्रीय राज्य में किसी प्रकार का अत्याचार

नहीं होता है। सब धर्मों को समान समझा जाता है। सब धर्मों के अनुयायियों के साथ समान व्यवहार किया जाता है और सब संप्रदायों के लोग अपने को एक राष्ट्र की प्रजा समझते हुए सच्ची देश-भक्ति के साथ अपने राष्ट्र की रक्षा करते हैं।

बीसवीं शताब्दी में हिटलर और मुसोलिनी ने भी अपने-अपने देश के लोगों में राष्ट्रीय भावों को उत्तेजित किया और राष्ट्रीय राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया परन्तु उन्होंने राष्ट्रीयता के संकुचित विचारों का प्रचार किया। उन्होंने अपने धर्म, भाषा, संस्कृति, सभ्यता, आदि को अन्य राष्ट्रों की जाति, धर्म, भाषा, संस्कृति, सभ्यता आदि से अधिक श्रेष्ठ समझा। सबको समान न समझकर अन्य लोगों पर अत्याचार करना आरम्भ किया। अपने अपने देशों में उन्होंने राष्ट्रीयता के अशुद्ध विचार फैला कर अन्य देशों पर आक्रमण किया और अन्त में बालू की भीत के समान गिरे और उनका नाश हुआ।

अंग्रेजों ने भारतवर्ष में राष्ट्रीयता के भावों का ह्रास किया। विदेशी राज्य अपने स्वार्थ के लिये तथा अपने राज्य को दृढ़ तथा स्थायी रखने के लिये अधीन राज्य की जनता के आचारण को भ्रष्ट करने, उनकी संस्कृतिका नाश करने और उनमें द्वेष फैलाने का प्रयत्न किया करता है। अंग्रेज शासकों ने भी भारत में यही कार्य किया। भारतवर्ष के देशी राज्यों के शासकों में ऐय्याशी को प्रोत्साहित किया उनको इंगलैण्ड में शिक्षा दिलवा कर उनके विचार बदलने का प्रयत्न किया। भारतवर्ष में अंग्रेजी भाषा, ईसाई धर्म, तथा अंग्रेजी रीति-रिवाज, रहन-सहन, खानपान, का प्रचार करके भारत की प्राचीन संस्कृति पर कुठाराघात करके उनके राष्ट्रीयता के भावों को नष्ट करने का प्रयत्न किया।

शासक का अत्याचार राष्ट्रीय भावनाओं को उत्तेजित करन में बड़ा सहायक होता है। अंग्रेजोंने भारत में अत्याचार किया उन्होंने जनमत को ठुकराया। अंग्रेजों के स्वेच्छाचारी शासन के कारण भारतवासियों की आंखें खुलीं। गोखले, तिलक, दयानन्द, गान्धी आदि ने भारतवासियों को एक सत्र में बांधने का प्रयत्न किया और विदेशी राज्य के दोष साधारण लोगों को बतलाये। लोगों में धार्मिक सहिष्णुता का प्रचार किया। लोगों की आंखें खुलीं राष्ट्रीय भावनाओं का विकास हुआ। अन्त में इन लोगों का प्रयत्न सफल हुआ और भारतवर्ष स्वतंत्र हुआ।

कुछ विद्वानों का मत है कि शासन कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो वह राष्ट्रीयता के भाव उत्पन्न नहीं कर सकता । ऐसे विद्वानों में से रेमजे म्योर (Ramsay Muir) एक है, उसका कथन है कि "चाहे कितना ही श्रेष्ठ शासन क्यों न हो, शासन की एकता कभी राष्ट्रीयता का विकास नहीं कर सकती है ।" ज़िमर्न (Zimmern) का कथन है कि "राष्ट्रीयता एक ऐसी आन्तरिक प्रेरणा है जो राजनीतिक अत्याचार द्वारा अस्वस्थ तथा तीक्ष्ण आत्मचेतना में परिवर्तित हो जाती है ।" उदाहरण के रूप में यह कहा जा सकता है कि सन् १८७० के फ्रांको-प्रशन युद्ध के (Franco Prussian War of 1870) पश्चात् फ्रांस में राष्ट्रीयता के भाव अत्यन्त तीक्ष्ण हो गये थे । स्पेन में मुसलमानों का शासन कई शताब्दियों तक रहा । उनके अत्याचारों ने स्पेन में राष्ट्रीयता के तीक्ष्ण भाव उत्तेजित किये । नैपोलियन (Napoleon) के युद्धों ने स्पेन निवासियों के हृदय में राष्ट्रीयता के भाव दुबारा उत्तेजित किये पोलैण्ड-भंग ने पोलैंड में राष्ट्रीयता उत्तेजित की । अंग्रेजों के अत्याचार और भेद-नीति (Divide and rule policy) के कारण आयरलैंड (Ireland) में राष्ट्रीयता का विकास हुआ और अन्त में आयरलैन्ड भी स्वतन्त्र हुआ। परन्तु जोज़फ़ का मत है कि "एक समुदाय का अत्याचार पर किया गया अत्याचार उस समुदाय को राष्ट्र में परिवर्तित नहीं कर सकता।" उसका विचार है कि विभाजित किये हुए समुदायों में से प्रत्येक अत्याचार करने वाले का प्रेम-पात्र तथा प्रिय बनने का प्रयत्न करता है और उन समुदायों में कभी ऐक्य स्थापित नहीं हो सकता है।

कुछ लोगों का मत है कि सर्वोच्च सत्ता द्वारा मनुष्यों में राष्ट्रीयता का विकास होता है । अर्थात् अनेक जाति अथवा धर्म के लोग एक सर्वोच्च सत्ता के अधीन रहते हुए अपने हितों को समान समझ कर राष्ट्रीयता के सूत्र में बंध जाते हैं। वेल्स (Wales), इंगलैन्ड (England) और स्काटलैन्ड (Scotland) के क्रमशः वैल्श, अंग्रेज और स्काट लोग एक अंग्रेज शासक की सर्वोच्च सत्ता के अधीन संगठित है। लैस्की (Laski) का यह मत है कि "राज-भक्ति निरर्थक वस्तु है। उन्नीसवीं शताब्दी का इतिहास इस बात का प्रतीक कि राष्ट्रीय भावनाओं द्वारा राज-भक्ति की भावनाओं में परिवर्तन हुआ है।" परन्तु इसके विपरीत स्विटजरलैन्ड का उदाहरण इस बात का प्रतीक है कि एक श्रेष्ठ शासन द्वारा वास्तव में भिन्न-भिन्न जातियों

के लोग भी राष्ट्रीयता के सूत्र में बंध सकते है। एक ही शासन के अधीन वहां जर्मन, फ्रेंच और तालियन जाति के लोग एक राष्ट्र के रूप में संगठित हैं और सब कार की उन्नति कर रहे हैं।

इससे प्रकट होता है कि शासन और एक सर्वोच्च सत्ता राष्ट्रीयता के भाव जागृत करने में सहायक हो सकते हैं। परन्तु वास्तव में एक जनतंत्र शासन में ही ऐसा सम्भव हो सकता है। जहां जनता के हाथ में अथवा जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में सर्वोच्च सत्ता है वहीं राष्ट्रीयता का विकास हो सकता है क्योंकि ऐसे शासन में सदा लोक हित का ध्यान रखा जाता है।

८. **लोकमत** (Popular will)—लोकमत भी राष्ट्रीयता का महत्व पूर्ण अंग है। लोकमत द्वारा राष्ट्रीयता के भावों का विकास होता है । यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो राष्ट्रीय भावना उत्पन्न करने के लिये पहले मनुष्यों की चित्तबृत्ति पर राष्ट्रीयता के विशे गुणोंका प्रभाव डालना अत्यन्त आवश्यक है जिससे जनता की मनोवृत्ति इस प्रकार की हो जाय कि वह परस्पर सहयोग करके राष्ट्रीयता की उन्नति करे। जब तक लोगों में परस्पर सहयोग करने की भावना न होगी। राष्ट्रीयता स्थापित नहीं हो सकती है। राष्ट्रीयता लोगों की चित्तवृत्ति की अभिव्यक्ति और उनकी भावुकता को प्रतीक है। टौइनबी Toynbee के मतानुसार "राष्ट्र बनने की इच्छा" ही राष्ट्रीयता का प्रधानतत्व है। राष्ट्रवाद के जन्मदाता मेजिनी (Mazzini) के मतानुसार "लोकमत राष्ट्रीयता का आधार है।"

९. **आन्तरिक-प्रेरणा** (Instinct) कुछ विद्वानों का मत है कि अन्तरिक प्रेरणा भी राष्ट्रीयता का एक तत्व है। आन्तरिक-प्रेरणा को राष्ट्रीयता का तत्व मानने वालों का कथन है कि मनुष्य स्वभाव से एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य आन्तरिक प्रेरणा के अनुसार समाज में रहने का इच्छुक होता है। समाज़ में ही रहकर मनुष्य सब प्रकार की उन्नति कर सकता है। यदि मनुष्य मनुष्य-समाज से पृथक कर दिया जाय तो वह किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता ह। आन्तरिक प्ररणा के आधार पर मनुष्य बहुमत की आज्ञा पालन करने को प्रेरित होता है। मनुष्यों के राष्ट्र के रूप में संगठित करने के लिये उनकी अन्तरात्मा

१०. **ऐतिहासिक घटना** (Historical accident)-कुछ लोगों का मत है कि राष्ट्रीयता कोई विशेष वस्तु अथवा लक्षण नहीं है, यह केवल एक ऐतिहासिक घटना है जो मानव समाज में विकास की अवस्था में स्वतः घटित होती है।

११. **मुद्रण यन्त्र का प्रभाव** (Press)—आधुनिक काल के कुछ विद्वानों का मत है कि राष्ट्रीयता मुद्रण यन्त्र द्वारा स्थापित होती हैं। जो लोग जनता को मुद्रण यन्त्र द्वारा अत्यधिक प्रभावित कर सकते हैं उन्हीं के मतानुसार जनमत हो जाता है। राष्ट्रीयता के भावों का प्रचार करने में मुद्रण यन्त्र का बड़ा हाथ है। परन्तु हमारा यह विचार है कि मुद्रण यन्त्र के आविष्कार से पूर्व प्राचीन काल में भी राष्ट्रीयता के भावों से लोग प्रभावित हुए हैं। अतः जो लोग मुद्रण यन्त्र को राष्ट्रीयता का तत्व समझते हैं वे बड़ी भूल करते हैं।

१२. **देश-निष्कासन** (exile)-लार्ड ऐक्टन (Lord Acton) ने देश-निष्कासन को राष्ट्रीयता का तत्व बतलाया है। उसने यहूदी तथा आयरिश (Jewish and Irish) जातियों के उदाहरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि निर्वासित लोगों के हृदयों में राष्ट्रीयता का विकास होता है।

१३. **समान भाव, त्यौहार, चिन्ह तथा रीति रिवाज**—कुछ विद्वानों का मत है कि समान भाव, गीत, त्यौहार, रीति, रिवाज, तथा एक राष्ट्रीय, धार्मिक तथा जाति-पताका राष्ट्रीयता के भावों की पोषक हैं। इन सब वस्तुओं द्वारा भी राष्ट्रीय भाव जागृत होते हैं।

डिजरायली (Disraeli) का कथन है कि "व्यक्ति जाति-मंडलियां (Communities) बना लें परन्तु राष्ट्र की उत्पत्ति तो केवल संस्थाओं से ही हो सकती है। आर० डी० हिचकाक (R. D. Hitchcock) का कथन है कि "शासन के आदेश राष्ट्र के लिये जीवन का भोजन (bread of life) ।" गारफील्ड (Garfield) का मत है कि "भूमि राष्ट्र का केवल शरीर है। जो लोग उसके पहाड़ों पर और घाटियों में निवास करते हैं वे उसके प्राण, उसकी अन्तरात्मा और उसका जीवन हैं।" हैनरी क्ले (Henry Clay) का मत है कि "एक राष्ट्र का चरित्र उसके भव्य कार्यों का योग है। वे (भव्य कार्य) सम्मिलित पैतृक धन बनते हैं, वे राष्ट्र के दायें भाग (inheritance) हैं, वे वैदेशिक शक्तियों

(राज्यों) को भयभीत करते हैं और हमारे (राष्ट्र के) लोगों को उत्तेजित करते हैं।" एस० स्माइल (S. Smiles) का कथन है कि "जिस प्रकार राष्ट्रीय ह्रास व्यक्तिगत जीवन, आलस्य, स्वार्थ तथा दोषों का योग है उसी प्रकार राष्ट्र की उन्नति व्यक्तिगत उद्योग, ओजस्व (energy) तथा सद्गुणों का योग है।" सी० सुम्नर (C. Sumner) का कथन है कि "राष्ट्रों की वास्तविक महानता उस राष्ट्र की व्यक्तिगत महानता पर निर्भर है।" एमरसन (Emerson) ने अपनी "सिविलाइजेशन" नामक पुस्तक में लिखा है कि "प्रत्येक राष्ट्र की अपनी निजी मानसिक योग्यता होती है और उसकी अपनी निजी सभ्यता होती है।

राष्ट्र और राज्य—राष्ट्रवाद का वर्णन करने से पूर्व हम यह आवश्यक समझते हैं कि पाठकों को राष्ट्र और राज्य का भेद पूर्ण-रूप से प्रकट कर दें क्योंकि ऐसा देखा गया है कि बात से लेखकों ने राष्ट्र और राज्य को एक ही बात समझा है। वास्तव में राष्ट्र और राज्य में बड़ा भेद है। अमेरिका के प्रसिद्ध राज-शास्त्रवेत्ता जे० डब्ल्यू गार्नर (J. W. Garner) के मतानुसार "राज्य एक वैधानिक अथवा राजनैतिक कल्पना है। राष्ट्र जातीय अथवा मानव वंशीय कल्पना है। * १ उसका मत है कि राज्य और राष्ट्र में बड़ा भेद है। चेजो लोग राज्य और राष्ट्र को एक समझते हैं वे बड़ी भूल करते हैं। गार्नर का कथन है कि "पूर्णरूप में राष्ट्र-समाज का वह भाग है जो प्राकृतिक भौगोलिक सीमा द्वारा अन्य राष्ट्रों से पृथक है, जिनका जातीय मल एक है, जिसके निवासी एक भाषा बोलते हैं, जिनकी सभ्यता तथा संस्कृति एक सी है, जिनका चरित्र एक सा है, जिनके रीति-रिवाज, साहित्य आदि एक से हैं। † २ बर्गेस (Burges) का मत है कि राष्ट्र "वह जनसंख्या है जिसकी भाषा साहित्य, परम्परागत रीति रिवाज, तथा इतिहास समान हैं, जिनमें भले बुरे की चेतना के समान भाव हैं और जो ऐसी भूमिपर वास करते हैं जिसमें भौगोलिक ऐक्य है। ‡ ३ वर्गेस ने जो राष्ट्र की परिभाषा की है उससे विदित होता है कि वह मानव-जातीय मूल को राष्ट्र का आवश्यक अंग नहीं समझता है। उसकी दृष्टि में मानव वंशीय उद्भव (ethnic origin) कोई महत्व

---

* १ जे० डब्ल्यू० गार्नर—इन्ट्रोडक्शन टु पोलीटिकल साइंस पृष्ठ ४५।

† २ वर्गेस—पोलीटिकल साइंस ऐन्ड कॉन्स्टीच्यूशनल ला पुस्तक १—पृष्ठ २।

‡ ३ प्रैडियर—फोडेरे-त्रेते दि द्रोइत इन्त० त पब० पुस्तक पृष्ठ १२५-१२६।

नहीं रखता है। फ्रांस के प्रसिद्ध न्यायशास्त्रवेत्ता प्रैडियर-फोडेरे (Paradier Fodéré) का मत है कि राष्ट्र "एक देश के निवासियों के समाज का ऐसा संगठन है जो एक भाषा बोलते हैं, जो एक ही विधान धारा शासित होते हैं, जिनका मानव वंशीयमूल एक है, जिनका भौतिक आचरण एक सा है, जिनका नैतिक स्वभाव एक सा है तथा जिनके हित और भाव शताब्दियों से साथ रहने के कारण एक से हैं।" * एक स्थान पर उसने यह भी लिखा है कि "वंशीय एकता, निवासियों की भाषा की समानता, तथा रीति-रिवाज और धर्म की समानता से राष्ट्र बनते हैं।" अर्जैन्टाइन के प्रसिद्ध न्याय-शास्त्र वेत्ता कैल्वो (Calvo) ने अन्तर्राष्ट्रीय विधान के सम्बन्ध में जो ग्रन्थ लिखा है उसमें उसने भी राष्ट्र के विषय में अपने विचार सी प्रकार प्रकट किये हैं। उसने राष्ट्र की कल्पना के लिये वंशीय मूल तथा जातीय और भाषा सम्बन्धी समानता को अत्यन्त महत्वपूर्ण बतलाया है।

लेकी (Lecky) का मत है कि राष्ट्र के अस्तित्व के लिये वंशीय समानता की आवश्यकता नहीं है। वह ंशीय मूल को राष्ट्रीयता का आधार नहीं मानता है। मनुष्यों के रंग--सम्बन्धी भेदों को राष्ट्रीयता निर्धारित करने में प्रयोग नहीं करना चाहिये क्योंकि राष्ट्रीयता निर्धारित करने में "रंग क अस्पष्ट तथा छलने वाला पथप्रदर्शक है। † वह इस बात को स्वीकार करता है कि ऐसे बहुत से उदाहरण देखने में आते हैं जहां भिन्न भिन्न धर्मो के अनुयायी तथा भिन्न-भिन्न भाषाओं के बोलने वाले लोग राष्ट्रीयता के पाश में बंधे हुए हैं। लैकी का विचार इस सम्बन्ध में कुछ भी हो गार्नर के मतानुसार वंशीय समानता और भाषा की समानता राष्ट्रीय एकता के आधार हैं। राष्ट्र का अस्तित्व वास्तव में इन्हीं दो बातों पर निर्भर है। गार्नर का मत है कि वंशीय एकात्म्य (identity) से संबंध स्थापित होता है और भाषा की समानता लोगों को एक दूसरे में सम्पर्क स्थापित करने और उन्हें परस्पर मित्र बनाने में सहायक होती है। भाषा की समानता वास्तव में राष्ट्रीय एकता का अत्यन्त महत्वपूर्ण आधार है। भाषा ही के द्वारा लोगों में परस्पर बौद्धिक तथा सामाजिक सम्पर्क स्थापित होता है।

---

* पैडियर---फोडेरे-त्रेते दि द्रौइत इन्त० त पब० पुस्तक पृष्ठ १२५-१२६।

† लैकी—डिमाक्रेसी ऐन्ड लिबर्टी-पस्तक १ पृष्ठ ५।

भाषा द्वारा ही मनुष्यों में राजनीतिक चेतना का विकास होता है और भाषा की समानता ही मनुष्यों में राजनीतिक विचारों की समानता स्थापित करती है। यूरोप के प्रसिद्ध न्यायाचार्य गम्प्लाविज् (Gumplowicz') का विचार है कि सभ्यता की समानता राष्ट्रीय एकता का आधार है और भाषा द्वारा सभ्यता की समानता प्रकट होती है। अतः भाषा की समानता ही राष्ट्रीय समानता स्थापित करती है। उसके मतानुसार सभ्यता तथा भाषा की समानता का आधार वंशीय मूल नहीं है। उसका विचार है कि भाषा तथा सभ्यता का एकात्म्य प्राचीन तिहास पर निर्भर है। यदि कुछ लोग बहुत काल तक एक ही भाषा बोलते हुए और एक ही प्रकार की सभ्यता में रहते रहें तो उनमें राष्ट्रीयता के भावों का विकास हो जाता है अतः राष्ट्रीय समानता इतिहास पर ही निर्भर है। इस बात को सिद्ध करने के लिये उसने इटली, स्पेन, जर्मनी फ्रांस आदि देशों के उदाहरण देकर बतलाया है कि इन देशों में राष्ट्रीय राज्य स्थापित हैं। इन देशों के लोगो के हृदय राष्ट्रीयता के विचारों से ओत-प्रोत हैं परन्तु इनमें से किसी भी देश में एक ही वंशके लोग नहीं रहते हैं। इन देशों में भिन्न-भिन्न वंश के लोग रहते है और भिन्न-भिन्न वंशों से उत्पन्न होने पर भी ये लोग राष्ट्रीय बन्धन में बंधे हुए है। इनमे शनैः शनैः समान भाषा तथा समान सभ्यता का विकास हो गया है।* धर्म की समानता मध्यकाल में राष्ट्रीयता का आधार समझी जाती थी परन्तु आधुनिक काल में धार्मिक स्वतंत्रता के विचारों की उन्नति के कारण धर्म राष्ट्रीय समानता का आधार नहीं समझा जाता है।

राष्ट्र और राज्य में बड़ा भेद है। एक राज्य में अनेक जातियां हो सकती हैं† और तिसपर भी वह राष्ट्रीय राज्य हो सकता है। अंग्रेजों के राज्य की भौगोलिक सीमा के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न वंश के लोग हैं दक्षिणी कैनैडा के फ्रेंच, दक्षिणी अफ्रीका के डच आयरलैण्डके कैल्ट्स आदि जातियों के लोग अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित हैं। हंगेरी राज्य में च्यूटन, रूमानियन, स्लव आदि जातियों के लोग निवास करते हैं। बेल्जियम में फ्लैमिश तथा फ्रेंच लोग रहते हैं। रूस में फिन, तातार, लिथ्युऐनियन, स्लव आदि जातियों के लोग निवास करते हैं। स्विट्जरलैण्ड में जर्मन,

---

* गम्प्लाविज—ऐलैमीन्स स्टैट्स्लख्ट—पृष्ठ १११।

† „ „ „ „ १२४।

इतालियन और फ्रेंच जातियों के लोग रहते हैं। अमेरिका के संयुक्त राज्य में ट्यूटन, हब्शी, जर्मन, इतालियन, आइरिश, स्कैन्डिनेवियन आदि जातियां निवास करती हैं। इन उदाहरणों से प्रकट होता है कि एक ही राज्य में भिन्न-भिन्न जातियों के लोग निवास करते हैं और ये सब जातियां प्रेम-पूर्वक साथ-साथ सहयोग करती हुई अपनी सभ्यता, संस्कृति, उद्योग-व्यवसाय की उन्नति करती हुई अपने देश की उन्नति करती है और आवश्यकता पड़ने पर अन्य देशों से युद्ध होने पर जातीय पक्षपात को छोड़ कर स्वदेश हित के लिये स्वजातियों से युद्ध करने को तत्पर होती हैं।

इसके विपरीत यह भी देखने में आता है कि एक ही वंश के लोग एक से अधिक राज्यों में पाये जाते हैं। स्कैन्डिनेवियन जाति (Scandinavian race) के लोग नार्वे (Norway), स्वेडन (Sweden) और डेनमार्क (Denmark) में निवास करते हैं। जर्मन जाति के लोग ऐलसास (Alsace), लौरेन (Lorraine), स्विटजरलैन्ड (Switzerland), हालैन्ड (Holland), श्लैस्विग (Schleswig), और आस्ट्रिया (Austria) में निवास करते हैं। स्लव (Slav) जाति के लोग यूरोप के अनेक राज्यों में पाये जाते हैं। एक ही राज्य में भिन्न-भिन्न जातियों का अस्तित्व अथवा भिन्न-भिन्न राज्यों में एक ही जाति का अस्तित्व राष्ट्रीयता में किसी प्रकार बाधक नहीं होता है।

राष्ट्रवाद का विकास (Growth of Nationalism)—सृष्टि के आरम्भ में राष्ट्र वाद का क्या रूप था, इसका ज्ञान हम केवल इतिहास से प्राप्त कर सकते है। इतिहास से हमको पता चलता है कि आरम्भ में मनुष्य कुटुम्ब के रूप में संगठित थे। मनुष्य स्वभाव से ही संघचारी (gregarious) है। अतः वे वंश अथवा कुटुम्ब के रूप में संगठित थे। कुटुम्बों और वंशों की वृद्धि हो जाने पर वे बन जातियों के रूप में संगठित हुए। पहले तो वे निश्चित स्थानों पर रहते ही न थे। उस समय वे आधुनिक काल के यूरोपीय जिप्सियों की भांति अपनी सुविधा के अनुसार अपने निवास स्थान में परिवर्तन करते रहते थे। जब एक स्थान पर मनुष्य तथा पशुओं के भोजन की कमी हो जाती थी तो दूसरे स्थान पर पहुंच जाते थे। अपने साथ थोड़ा सामान और पशु रखते थे जिनपर सामान लादते थे, उनका दूध पीते थे और भोजन न प्राप्त होने पर उनको मार कर खालिया करते थे। कुटुम्ब अथवा वंशीय जीवन ही उनका राष्ट्रीय जीवन

था। इसी अवस्था में कुछ उन्नति होने पर उनमें पितृसत्तात्मक समाज (Patriarchal Society) की स्थापना हुई। लोगों ने एक ही स्थान पर निवास करना आरम्भ किया और वंश के अथवा जाति के वृद्ध पुरुष को उस कुटुम्ब अथवा वंश तथा जाति का स्वामी समझा जाने लगा। उस वृद्ध पुरुष को वंश व जाति के सब व्यक्तियों पर और उनकी सम्पति पर पूर्ण अधिकार था। ऐसे जीवन में हमें एक प्रकार की राष्ट्रीयता की झांकी मिलती है। ऐसी अवस्था में उन लोगों को वास्तव में राष्ट्रीयता का ज्ञान तो न था परन्तु उनका रहन-सहन, रीति-रिवाज भाषा की समानता तथा एक ही वृद्ध पुरुष के अधीन रहने के कारण हम कह सकते हैं कि वे राष्ट्रीयता के सूत्र में बंध गये थे। उनमें अपने वंश और कुटुम्ब के लिये प्रेम हो गया था वे एक ही शासक की आज्ञाओं का पालन करते थे जिस भूमि पर रहते थे उससे प्रेम करते थे। जो अन्य जाति अथवा वंश उनपर आक्रमण करता था अथवा उनकी भूमि तथा संपत्तिपर अतिक्रमण करता था उसका पूर्ण-रूप से विरोध करते थे और अपना जीवन बलिदान करने को उद्यत हो जाते थे। यही उनकी राष्ट्रीयता के भाव थे जिनका उनको अनुभव नहीं होता था। यह उनका स्वभाव बन गया था।

इस जीवन की उन्नति हुई और इसके पश्चात् इतिहास हमको उनके जीवन के विकास की अगली श्रेणी में ले जाता है। इस श्रेणी की दशा का ज्ञान हमको प्राचीन काल के यूनान-निवासियों की राजनीतिक तथा सामाजिक दशाका तिहास पढ़ने से होता है। उस समय यूनानी लोग छोटे-छोटे नगर राज्यों में विभाजित थे। प्रत्येक नगर-राज्य पूर्ण रूप से स्वतंत्र था। प्रत्येक नगर-राज्य का शासन प्रबन्ध एक-दूसरे से भिन्न था। उनकी शिक्षा प्रणाली भी एक दूसरे से भिन्न थी। उनके राष्ट्रीय विचार भी संकुचित थे। वे अपने नगर को ही अपना देश मानते थे। अन्य नगरों से पृथक रहते थे और बहुधा नगरों में एक दूसरे से युद्ध हुआ करते थे। यूनान के स्पार्टा (Sparta) और एथन्स (Athens) उस समय सबसे प्रसिद्ध राज्य थे। स्पार्टा निवासी शारीरिक बल तथा सैनिक शक्ति के लिये प्रसिद्ध थे और एथन्स निवासी बौद्धिक शक्ति, शिक्षा तथा संस्कृति के लिये प्रसिद्ध थे। यूनान के नगर-राज्यों में राष्ट्रीय भावना का विकास हो गया था। यूनान निवासियों में स्थानीय देश भक्ति की मनोवृत्ति अधिक थी। एक नगर दूसरे नगर

के प्रभाव से बचने का प्रयत्न करता था। प्रत्येक नगर के निवासी यह प्रयत्न करते थे कि उनपर दूसरे नगर के आचार विचारों का प्रभाव न पड़ने पाये। यूनान निवासियों में राष्ट्रीय भावना का पूर्ण रूप से विकास हो गया था। प्रत्येक नगर निवासी अपने नगर की भाषा, रीति-रिवाज, भूमि साहित्य तथा संस्कृति की रक्षा करने के लिये अपने प्राणोंकी आहुति देने को तत्पर रहता था।

कालान्तर में रोमन लोगों (Romans) ने यूनान को विजय कर लिया और यूनान रोमन साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया। रोमन साम्राज्य स्थापित होने पर यूनानी संकुचित राष्ट्रीयता का अन्त हो गया। यूनान पर रोमन विचारों का प्रभाव पड़ा। रोमन लोगों में राष्ट्रियता के भावों का अभाव था रोमन-निवासी एक साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे परन्तु वे उसमें सफल न हो सके। रोमन लोगों में एक देश अथवा एक राष्ट्र का भाव कभी जागत न हो सका। उनको सदा-संपूर्ण रोमन साम्राज्य का ध्यान रहा। सम्पूर्ण रोमन साम्राज्य में एक ही शासन था और एक ही विधान। संपूर्ण प्रान्त केन्द्रीय शासनद्वारा शासित होते थे। बी० जोजफ (B. Joseph) ने ठीक कहा है कि "रोमन साम्राज्य में भांति-भांति तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के मूल-तत्वों का सम्मिश्रण था। और इन मूलतत्वों की संस्कृति में एक जातीयता का अत्यधिक ह्रास होने के कारण रोमन साम्राज्य एक राष्ट्रीयता के सांचे में नहीं ढल सकता था। * कुछ काल पश्चात् रोमन साम्राज्य का भी अन्त हुआ और राष्ट्रीयता के भावों का ह्रास होने के कारण लोग पुनः प्राचीन कालकी उस दशा को प्राप्त हुए जब उनमें राष्ट्रीयता के भावों का विकास भी नहीं हुआ था। अथवा यों कहना चाहिये कि उस समय लोग बन-जातीय दशा (tribal stage) को प्राप्त हुए। इसका कारण यह था कि असभ्य टयूटन जातियों के आक्रमण ने रोम साम्राज्य को नष्ट कर दिया और रोमन सभ्यता नष्ट हो गई।

रोमन साम्राज्य के अन्त होने के पश्चात यूरोप में वह समय आया जिसे अन्धयुग (Dark Ages) के नाम से संबोधित करते हैं। यह अराजकता का समय था स समय के विषय में इतिहास भी मूक है। इस समय के विषय में इतिहास हमें केवल इतना बतलाता है

* बी० जोजफ—नेशनैलिटी, पष्ठ १६८।

कि जिन सभ्य ट्यूटन जातियों ने रोमन साम्राज्य को नष्ट भ्रष्ट किया उन्होंने अपने विचारों के अनुसार शासन स्थापित किया और अपने ही विधानों द्वारा शासन किया। इस काल में किसी प्रकार की कला, साहित्य तथा विज्ञान सम्बन्धी उन्नति नहीं हुई। इस काल के पश्चात् मध्ययुग (Middle Ages) का आरम्भ हुआ। इन दोनों युगों में (अर्थात अन्धयुग तथा मध्य युग के आरम्भ में) राष्ट्रीयता के विचारों में किसी प्रकार की उन्नति न हुई। इन युगों में यूरोप में सामन्तवाद का बोलबाला था। शक्तिशाली सामन्तों ने सामन्तिक राज्य स्थापित कर लिये थे। उस समय के सामन्तिक राज्यों की दशा अठरहवीं शताब्दी के भारतीय देशी राज्यों के समान थी। ये सामन्त आपस में लड़ते भिड़ते रहते थे और अपनी प्रजापर अत्याचार करते थे। इसके अतिरिक्त यूरोप में उस समय धर्मसम्राट (Pope) और भूमिसम्राट (Emperor) में परस्पर विरोध बढ़ रहा था। पोप समझता था कि सम्पूर्ण ईसाइयों का सम्राट मैं ही हूं और एम्परर समझता था कि सम्राट मैं हूं। इन दोनों में बहुत काल तक राजनैतिक सर्वोच्च सत्ता के लिये परस्पर युद्ध होता रहा इस युद्ध में कभी पोप को सफलता प्राप्त होती थी और कभी एम्परर को। ऐसी दशा में राष्ट्रीयता के भावों का उत्पन्न होना सर्वथा असम्भव था। क्योंकि इस प्रकार की अराजकता के साथ साथ लोगों के विचार भी उस समय राष्ट्रीयता के विकास के लिये सहायक न थे। उस समय लोगों की रुचि लैटिन भाषा सीखने की अधिक थी। यूरोप के अधिकतर देशों में लोग लैटिन भाषा पढ़ते थे। प्रान्तीय भाषाओं के अध्ययन की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था। प्रान्तीय भाषाओं से प्रेम न होने के कारण राष्ट्रीय चेतना नहीं होती थी।

ज्यों ज्यों समय व्यतीत होता गया यूरोप की परिस्थिति में परिवर्तन होता गया। कुछ विद्वानोंने मातृ-भाषा सीखने और उससे प्रेम करने के लिये अपने देशवासियों से आग्रह किया। चौसर (Chaucer) ने इंगलैण्ड में और इटली में दांते (Dante) ने अपनी अपनी साहित्यिक रचनाओं में मातृ-भाषा का प्रयोग किया और लोगों में मातृ-भाषा का अध्ययन करने की रुचि उत्पन्न की और इस प्रकार ऐसे लोगों ने अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीयता के भाव अपने देशवासियों के हृदय में उत्पन्न किये। कुछ काल पश्चात् मैकियावेली (Machiavelli) ने इटली में राष्ट्रवाद का पूर्ण-रूप से प्रचार किया और वह इस कार्य में

सफल हुआ। जिस समय मैकियावेली ने राष्ट्रवाद का प्रचार किया वह समय आधुनिक काल का आरम्भ समझा जाता है। आधुनिक काल के आरम्भ में इटली की दशा बड़ी हीन थी। उस समय इटली छोटे छोटे राज्यों में विभाजित था। पास-पड़ोस के अन्य देशों के सम्राटों ने अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिये उसे रण-भूमि बना रखा था। इटली के लोगों का आचरण भी भ्रष्ट हो गया था। थोड़े से लोभ में फंसकर वे अन्य देश के सम्राटों के लाभ के लिये अपने देश का अहित करने के लिये तत्पर हो जाते थे। मैकियावेली ने अपने देश निवासियों को संगठित किया। उनके दोषों को दूर किया। एक शक्तिशाली राज्य स्थापित करने के लिये जोर दिया और धीरे-धीरे इटली को एक शक्तिशाली राज्य बना दिया। उसने इटली निवासियों में राष्ट्रीयता के भावों का संचार किया। इस प्रकार इटली एक शक्तिशाली राष्ट्र बन गया। इटली की राष्ट्रीयता यूरोप के लिये आदर्श बन गई और अन्य यूरोपीय देशों ने उसका अनुकरण किया। उन्नीसवीं शताब्दी में मेजिनी (Mazzini) ने इटली को इस दशापर पहुंचा दिया

चौदहवीं शताब्दी में इंगलैण्ड में चौसर (Chaucer) लैंगलैंड और वाइक्लिफ (Wycliffe) ने राष्ट्रीय भावना का प्रचार करने में बड़ी सहायता की। चौसर ने दक्षिणी मिडलैंड भाषा में अनेक साहित्यिक ग्रन्थ रचकर अंग्रेजी को राष्ट्रीय भाषा बनाने का प्रयत्न किया। उसकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक कैन्टरबरीटेल्स (Canterbury Tales) है जिसमें उसने चौदहवीं शताब्दी की इंगलैण्ड की सामाजिक दशा का दिग्दर्शन कराया है। लैंगलैन्ड के साहित्य का भी यहीं प्रभाव हुआ। उसकी पुस्तक 'विजन्स-आफ पियर्स प्लाउमैन' (Visions of Piers Plowman.) नामक पुस्तक में उस समय के निर्धन तथा दरिद्र लोगों की दशा का वर्णन है और उसमें ईसाई धर्म के भ्रष्टाचारों और श्रमिकों की हीन दशा का भी वर्णन है। वाइक्लिफ ने ईसाइयों की धर्म-पुस्तक बाइबिलका अनुवाद अंगरेजी भाषा में किया। इन तीनों पुरुषों ने वास्तव में इंगलैण्ड में राष्ट्रीय साहित्य और संस्कृति का विकास किया और इंगलैण्ड एक राष्ट्र के रूप में परिवर्तित होने लगा।

पन्द्रहवीं शताब्दी के शतवर्षीय युद्ध ने अंग्रजों और फ्रांसीसियों में राष्ट्रीय भाव पूर्णरूप से भर दिये। फ्रांस के एक छोटे से डोम्रेमी Domremi नामक ग्राम में उत्पन्न हुई जन आफ आर्क (Joan of Arc)

नामक एक ग्रामीण लड़की ने फ्रांस को अंग्रेजों द्वारा विजित होने से बचाया। जेन फ्रांस में राष्ट्रीयता की रक्षक और राष्ट्रीयता की जन्मदात्री कही जाती है। उसने फ्रांस निवासियों के हृदयों में राष्ट्रीयता के भाव कूट-कूट कर भरे वह कहा करती थी कि "अंग्रेजो के साथ शान्ति तभी रह सकती है जब वे अपने देश को लौट जायं।" उसने अपने देश के लिये अपनी बलि देकर यह उच्च आदर्श स्थापित किया कि "प्रत्येक सभ्य राष्ट्र में जब पूर्ण रूपसे चैतन्य जीवन जागृत हो जाय तो उसे अपने भाग्य का निर्णय करने का पूर्ण अधिकार है और फिर वह दूसरी जाति के अधीन होना सहन न करेगा।" * फ्रांस में आज भी जेन फ्रेंच राष्ट्र की देवी समझी जाती है।

इसी समय में धार्मिक युद्धों (Crusades) के कारण स्पेन (Spain) में भी राष्ट्रीयता के जागृत भावों को प्रोत्साहन मिला। पश्चिमी यूरोप में राष्ट्रीयता के भाव जागृत तो अवश्य हो गये थे परन्तु आपस के राजनीतिक और धार्मिक झगड़ों ने इन देशों में राष्ट्रीय भावना की प्रगति में बड़ी बाधा डाली।

'पुनरुत्थान' तथा 'सुधार' (Renaissance and Reformation) के समय से यूरोप में आधुनिक काल आरम्भ होता है। पुनरुत्थान तथा सुधार ने यूरोप में राष्ट्रीयता के भावों को प्रोत्साहित करने में बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है। मुद्रणयंत्रों के आविष्कार के कारण प्राचीन विद्याओं का स्वाध्याय बढ़ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों का ध्यान मानव समाज की ओर आकर्षित हुआ और राष्ट्रीय भावों का उनमें पूर्णरूपसे विकास हुआ। इसी को 'पुनरुत्थान' कहते हैं। पुनरुत्थान द्वारा यूरोप में राष्ट्रीय संस्कृति का विकास हुआ। 'सुधारण' द्वारा यूरोप में राष्ट्रीय धर्म का विकास हुआ। सोलहवों शताब्दी के आरम्भ में मार्टिन लूथर (Martin Luther) ने जर्मनी में उस समय में प्रचलित ईसाई धर्म का खंडन किया क्योंकि उस समय ईसाई धर्म में अनेक प्रकार के दोष थे और धर्म के नामपर पादरी बड़ा अत्याचार करते थे और उनमें बड़ा भ्रष्टाचार भी फैला हुआ था। सुधार आन्दोलन ने राज्यों को पोप से स्वतंत्र होकर राष्ट्रीय धर्म स्थापित करने में सहायता दी। इंगलैंड, स्काटलैन्ड, जर्मनी आदि देशों में राष्ट्रीय धर्म स्थापित हुए। इस प्रकार पुनरुत्थान

* जे० ऐच रोज–नेशनैलिटी न माडर्न हिस्ट्री।

तथा सुधार आन्दोलनों ने क्रमशः सांस्कृतिक धार्मिक, राष्ट्रीयता स्थापित करने में बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया।

सुधार आन्दोलन ने राष्ट्रीय क्षेत्र में भी बड़ा महत्वपर्ण कार्य किया। इस आन्दोलन ने राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना करके राष्ट्रीय सम्राट गद्दी पर बैठाये और इन राष्ट्रीय राजाओं के प्रति अन्ध राज-भक्ति के भाव उत्पन्न किये। लोग इन राष्ट्रीय सम्राटों को देवतुल्य समझ कर उनके आदेशों को आंखें बंद करके मानने लगे। इस आन्दोलन ने राष्ट्रीय राज्य तो स्थापित किये परन्तु इसमें दोष यह था कि इस आन्दोलन के कारण अनेक धार्मिक यु हुए और प्रोटेस्टैन्ट (Protestant) तथा कथौलिक (Catholic) धर्म के अनुयायियों ने एक दूसरे पर बड़े बड़े अत्याचार किये जिसके कारण यूरोप में बड़ा रक्तपात हुआ। ऐलीजाबेथ (Elizabeth) के समय में इंगलैण्ड में अवश्य पूर्ण रूप से शान्ति स्थापित रही। इस शान्ति के कारण वहां राष्ट्रीय जीवन की प्रगति को बड़ा प्रोत्साहन मिला। धार्मिक युद्धों के कारण फ्रांस और जर्मनी में भी बड़ा रक्तपात हुआ। सन् १६४८ में वैस्टफालिया की संधि (Treaty of Westphalia) हुई। इस संधि के द्वारा राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हुई। इन राष्ट्रीय राज्यों को अन्य राज्यों ने स्वीकार किया। सत्रहवीं शताब्दी तक पश्चिमी यूरोप के देशों में राष्ट्रीयता के भावपूर्ण प से उत्पन्न हो गये थे परन्तु जर्मनी और इटली में राष्ट्रीयता का प्रचार कुछ काल पश्चात् हुआ। सन् १७७२ के लैन्ड भंग ने जर्मनी में राष्ट्रीयता की लहर उत्पन्न कर दी और वहां राष्ट्रीयता के भाव शीघ्रता से उन्नति करने लगे।

अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में राष्ट्रीयता को उत्तेजना देने वाली अत्यन्त महत्वपर्ण घटना फ्रेंच-क्रान्ति थी। फ्रेंच क्रान्ति ने फ्रांस में राष्ट्रीयता की प्रस्थापना की। फ्रेंच क्रान्ति ने "मनुष्य समाज को जातियों के रूप में संगठित करने की प्रणाली को पूर्णरूप से स्थापित किया।* फ्रेंच क्रान्ति ने जनतन्त्रात्मक राष्ट्र वाद का समर्थन किया, मातृ-भूमि के प्रति प्रेम-भाव की वृद्धि की, राष्ट्रीय शिक्षा आरम्भ की, राष्ट्रपताका, राष्ट्रीय चिन्ह तथा राष्ट्रीय गान का प्रचार किया। फ्रेंच-क्रान्ति ने "लोकप्रिय-शासन सिद्धान्त और राष्ट्रीय आत्म-निर्णय सिद्धान्त का संस्थापन किया।" †

* बी० जोजफ—नेशनैलिटी पृष्ठ १७३।
† सी० जे० ऐंच० हेज़—एसेज आन नेशनलिज्म पृष्ठ-४४

इसका परिणाम यह हुआ कि फ्रांस निवासी एक शक्तिशाली जाति के रूप में परिवर्तित हो गये । इसका प्रभाव यूरोप के अन्य देशों पर पड़ा। नैपोलियन (Napoleon) के युद्धों, औद्योगिक क्रान्ति तथा उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में होने वाले स्वच्छन्दवाद अथवा रोमांचवाद (Romanticism) ने यूरोप के देशों में राष्ट्रवाद को प्रोत्साहित किया।

नैपोलियन के युद्धों का यूरोप के देशों पर बड़ा प्रभाव पड़ा । देश देश में राष्ट्रीयता के भाव जागृत हुए। उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मनी में कुछ राजशास्त्रवेत्ताओं ने राजनीतिक चेतना को उत्तेजित किया, फिख्टे (Fichte) ने कहा कि "हम जर्मनों में ऐक्य की वह भावना उत्प्रेरित करना चाहते हैं जो उनके अंग-अंग को फड़का दे।" फिख्टे की राष्ट्रीय उमंग का हैगिल (Hegel) पर बड़ा प्रभाव पड़ा । हैगिल ने राष्ट्रीय उमंग से उत्प्रेरित होकर राज्य को देव तुल्य पूज्य समझा और राष्ट्रीय राज्य स्थापित करने के लिये बड़ा प्रयत्न किया। उसने राष्ट्रीय राज्य को सर्वोच्च स्थान दिया और राज्य के प्रति लोगों में अत्यन्त प्रेम के भावों का संचार किया । विस्मार्क (Bismark) ने फिख्टे और हैगिल के विचारों से प्रभावित होकर राष्ट्रीय भावना को कार्यरूप में परिणत किया। जर्मनी को पूर्णरूप से शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्य बनाने के लिये उसने 'रक्त तथा लौह' (Blood and Iron) नीति का अनुसरण किया । विस्मार्क की 'रक्त तथा लौह' नीति ने जर्मनी को एक शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्य बना दिया। उसने इस नीति द्वारा सम्पूर्ण जर्मन जाति को राष्ट्रीयता के एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया । इस नीति के अनुसार उसने ऐल्सास-लोरेन (Alsace Lorraine) को जर्मनी में अनुयोजित (annex) किया । विस्मार्क के समकालीन ट्रीट्शके (Treitsche) ने 'केवल राष्ट्रीय राज्य' स्थापित करने से सिद्धान्त की प्रस्थापना की। उसने इस बात की घोषणा की थी कि एक दिन ऐसा आयेगा जब संसार की सब जातियां राष्ट्रीय राज्य स्थापित करेंगी । उसके राष्ट्रीय विचारों ने अतिक्रमणकारी (aggressive) रूप धारण किया । ट्रीट्शके ने सैनिक वाद (Militarism) का भी प्रचार किया । उसका मत है कि शक्ति के दृष्टिकोण से राज्य का प्रतिनिधित्व "केवल राष्ट्र ही करता है।" उसने राष्ट्र का आध्यात्मिक अस्तित्व नहीं माना है। उसके विचारों से प्रभावित होकर हिटलर (Hitler) ने राष्ट्रवादी सिद्धान्त को

और अधिक उग्ररूप दिया। राष्ट्रीयता का उग्ररूप हिटलर के कृत्यों में पूर्ण रूप से प्रकट हुआ।

इटली पर भी नैपोलियन के युद्धों का प्रभाव पड़ा और जर्मनी के समान वहां भी राष्ट्रीयता के भाव जागृत हुए। इसी समय में (अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी में) इटली में भी राष्ट्रीय ऐक्य स्थापित हुआ। इटली का राष्ट्रीय संगठन करने में दांते (Dante) मैकियावेली (Machiavalli) और कैवूर (Cavour) ने जो प्रयत्न किया वह सबको विदित है। परन्तु वास्तव में मेजिनी (Mazzini) को ही इटली में राष्ट्रवाद का जन्मदाता कहा जाता है। मैजिनी का आदर्श बड़ा उच्च था। उसने राष्ट्रवाद को आध्यात्मिक सिद्धान्त का रूप दिया। उसका कथन है कि "मेरे लिये राष्ट्रीयता एक ऐसी पवित्र वस्तु है जो मानव-हित तथा मानव प्रगति का श्रमोपकरण (instrument of labour) है।" एक स्थान पर उसने यह भी लिखा है कि "प्रत्येक जाति का एक विशेष उद्देश्य है जो मानव समाज के साधारण उद्देश्य की पूर्ति के लिये सहयोग करता है। यही उद्देश्य राष्ट्रीयता है। राष्ट्रीयता एक पवित्र वस्तु है।" मेजिनी के मतानुसार राष्ट्रीयता निर्धारित करने के लिये भौगोलिक आधार अधिक महत्व रखता है। उसने लोकमत को राष्ट्रीयता की आधारशिला बतलाया है। वह वंशीय मूल को राष्ट्रीयता के लिये आवश्यक नहीं समझता है। मेजिनी का विश्वास है कि "सच्चे सिद्धान्त के अनुसार अपने देश के लिये श्रम करने में हम मानव समाज के लिये श्रम करते हैं।" मेजिनी के देश भक्ति के विचार संकुचित न थे। वह एक धार्मिक पुरुष था और मानव जाति में उसे पूर्ण विश्वास था। उसी की प्रेरणा से प्रेरित होकर इटली-नवयुवक दल (Young Italy Party) ने यह शपथ ली थी कि "ईश्वर के नामपर, इटली के नामपर, इटलीके पवित्र ध्येय पर न्यौछावर होने वालों के नामपर जिन्होंने देशी तथा विदेशी अत्याचारों के कारण अपने प्राण दिये हैं,........जिस देश ने मुझे जन्म दिया है और जो मेरे बच्चों की जन्म भूमि होगा उस देश के प्रति जो मेरा प्रेम है उसकी शपथ लेकर........उस शर्म की शपथ लेकर जो मुझे उस समय सहन करनी पड़ती है जब मैं अन्य देशों के नागरिकों के सन्मुख खड़ा होकर यह अनुभव करता हूं कि मेरा अपना कोई देश नहीं और मेरी कोई राष्ट्रीय पताका नहीं है उस अश्रुधारा की शपथ लेकर जो इटली की माताएं अपने फांसी पर चढ़े हुए, कारा-

वास में सड़ने वाले तथा निर्वासित पुत्रों के लिये बहाती हैं तथा लाखों दुःख सहन करने वालों की शपथ लेकर, इटली को एक स्वतंत्र तथा स्वाधीन जनतंत्र राष्ट्र बनाने का सदैव प्रयत्न करने के लिये, मैं अपने आपको पूर्ण-रूप से समर्पित करता हूं।" इस दल ने अपनी शपथ के अनुसार देश का निर्माण करने में पूर्ण सहायता दी थी।

प्रथम महायुद्ध ने यूरोप को राष्ट्रीय राज्यों के रूप में संगठित करने में बड़ी सहायता की। राष्ट्रीयता के आधार पर यूगोस्लैविया (Yugoslavia) रूमानिया (Roumania), जैको-स्लोवाकिया (Czecho-Slovakia) आदि स्वयं शासित राज्यों की स्थापना की गई और पोलैन्ड का विस्तार बढ़ाया गया। इसी आधार पर ऐलसास-लौरेन (Alsace Lorraine) फ्रांस को दिये गये और दक्षिणी श्लैस्विग (Schleswig), डेनमार्क (Denmark) को सौंपा गया। नाजी जर्मनी में राष्ट्रीयता की भावना पराकाष्ठा पर पहुंची। जर्मनी से यहूदी आदि अन्य जातियों का निष्कासन करके एक जाति, एक भाषा, एक धर्म, एक वंश, तथा एक देश के आधार पर जर्मनों का संगठन करके हिटलरने सम्पूर्ण संसार को युद्ध की अग्नि में झोंक कर एक बड़ी संख्या ँ संसार के मानव समाज की आहुति दी और स्वयं भी उसी में स्वाहा हुआ।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रथम महायुद्ध से पूर्व कुछ तुर्की देश भक्त विद्वानों ने यू ोप की अन्य जातियों की देखा-देखी अपने देश में राष्ट्रीयता स्थापित करने का प्रयत्न किया परन्तु उस समय उन्हें कुछ विशेष सफलता प्राप्त न हो सकी। अंतमें मुस्तफा कमाल पाशा ने टर्की में पूर्ण रूप से राष्ट्रीय राज्य स्थापित किया। उसने सम्पूर्ण तुर्कों को राष्ट्रीयता के सूत्र में बांध कर एक शक्तिशाली राज्य स्थापित किया। उसने एक ेश, एक भाषा, एक साहित्य और एक संस्कृति स्थापित की उसने टर्की के उच्च राजकीय कर्मचारियों को आदेश दिया कि अन्य देश की जातियों से किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित न कें। आज वही देश एक सुसंगठित राष्ट्रीय राज्य है।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रथम महायुद्ध के पश्चात् स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध संगठन करके लोगों ने बोल्शेविक (Bolshevic) आन्दोलन किया और सम्राट की हत्या करके राष्ट्रीय संगठन करने का प्रयत्न किया। आज रूस में अनेक प्रकार की भाषा, संस्कृति जातियां तथा धर्मों के

होते हुए भी रूसी लोग राष्ट्रीयता के संगठन में बंधे हुए हैं। द्वितीय महायुद्ध में राष्ट्रीय संगठन के कारण रूस ने हिटलर जैसे दिग्विजयी के दांत खट्टे किये और अपने को संसार में सबसे शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्य सिद्ध किया।

उन्नीसवी शताब्दी के मध्य से जापान में राष्ट्रीयता के भाव जागृत हुए। जापान में राष्ट्रीयता के भावों को उत्तेजना देने वाला विशेष कारण था, यूरोपियन जाति के लोगों का जापान में पदार्पण करना। जापानवालों को यह सहन न हुआ कि वहां कोई अन्य जाति आकर उनके देश पर अपना अड्डा बनाये। जापान की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि उसके कारण जापान को एक राष्ट्रीय राज्य बनाने में बड़ी सहायता मिली जापान को पहले से ही संसार की अन्य सब जातियों से प्रकृति ने ही पृथक कर रखा था। उनका वंश, उनकी भाषा उनकी संस्कृति, उनके रीति रिवाज अन्य सब जातियों से भिन्न हैं। वहां केवल एक ही धर्म है। इन बातों ने वहां राष्ट्रीयता स्थापित करने में बड़ी सहायता दी। जापान राष्ट्रीय राज्य का सबसे श्रेष्ठ उदाहरण है।

चीन और भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का अभाव रहा है चीन में धार्मिक विभिन्नता तो अवश्य है परन्तु वहां भाषा, साहित्य, संस्कृति तथा जाति की विभिन्नता नहीं है। चीन में बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में विदेशियों के विरुद्ध बड़ा आन्दोलन हुआ और राष्ट्रीयता के भावों की जागृति हुई। वहां राष्ट्रीय राज्य भी स्थापित हुआ परन्तु कुछ राजनीतिक कारणों के प्रभाव से चीन में लगभग १३ वर्ष से गृह युद्ध हो रहा है जिसके कारण वहां राष्ट्रीयता पूर्ण-रूप से स्थापित न हो सकी। आज चीन राष्ट्र सबसे हीन दशा में है।

भारतवर्ष एक ऐसा देश है जिसमें लगभग २०० भाषायें बोली जाती है। जहां सब धर्मों के मानने वाले रहते हैं और जहां अनेक प्रकार के रीति रिवाज है। अंग्रेजी राज्य ने भारतवर्ष को संगठित करने का प्रयत्न किया। भारतवर्ष में अंग्रेजी का प्रचार करके भारत-वासियों को इस योग्य कर दिया कि वे एक दूसरे से बातचीत कर सकें। भारतवर्ष में कई वंश के लोग रहते हैं। इतनी विभिन्नता होते हुए भी बहुत सी बातें ऐसी हैं जो भारतवर्ष को एक राष्ट्ररूपी सूत्र में बांधने में सफल ई हैं। भारतवर्ष की भौगोलिक दशा ने भारत को एक राष्ट्र बनाने में बड़ी सहायता की है। इसके अतिरिक्त अन्य कारण भी हैं। सम्पूर्ण भारतवर्ष

कृषि प्रधान देश है जिसमें लगभग ८५ प्रतिशत लोग कृषक हैं। भारतवर्ष में हिन्दुओं का बहुमत है सम्पूर्ण भारत वर्ष में लोग होली, दशहरा आदि त्यौहारों को समान रीति से मनाते हैं। ये त्यौहार भी भारतवर्ष के निवासियों को राष्ट्रीय सूत्र में बांधते हैं। अंग्रेजों के अत्याचारों तथा स्वेच्छाचारी शासन के कारण सन् १८८५ में इन्डियन नेशनल कांग्रेस स्थापित हुई। गोखले, तिलक और महात्मा गांधी ने भारत वासियों में राष्ट्रीयता के भाव फूंके और सन् १९४७ में भारतवर्ष में स्वतंत्र राष्ट्रीय राज्य स्थापित हुआ। सरदार पटेलने बड़ी बुद्धिमानी और चतुराई से साढ़े पांच सौ से अधिक राज्यों में विभाजित भारतवर्ष को एक महान राष्ट्र में संगठित किया और उन सब राज्यों का अन्त किया। आज भारतवर्ष सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्यों में गिना जाता है।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जगलुल पाशा ने मिश्र देश में राष्ट्रीय संगठन किया। मिश्र को अंग्रेजों की अधीनता से मुक्त किया। सन् १९२२ में अंग्रेजों ने मिश्र को स्वतंत्र किया। आज मिश्र भी एक उन्नतशील राष्ट्रीय राज्य है।

अरब लोग अभी तक पूर्ण रूप से राष्ट्रीय राज्य स्थापित करने में सफल नहीं हुए हैं। इसका कारण यह है कि अरब निवासी उत्तरी अफ्रीका, अरब सिरिया, ईराक, ईरान आदि देशों में फैले हुए हैं। इसलिये उनका संगठन होना कठिन है। अरब देश में भी मुस्लिम अरब और ईसाई अरब लोगों में परस्पर ऐसा वैमनस्य चला आ रहा है कि वे अपने अरब देश में भी राष्ट्रीयता का बंधन सफलता पूर्वक स्थापित नहीं कर सकते हैं। इस धार्मिक विरोध के अतिरिक्त एक यह कठिनाई भी है कि वे लोग शिक्षित बहुत कम हैं। अशिक्षित होने के कारण भी उनमें राष्ट्रीयता का अभाव है। एक और कारण है जो राष्ट्र के रूप में संगठित नहीं होने देता है। वे लोग बड़े दरिद्र और निर्धन हैं निर्धनता के कार उन्हें अन्य धनी देशों के आश्रित रहना पड़ता है अतः अरब लोगों का राष्ट्र रूप में संगठित होना कठिन है।

जातीयता तथा आत्म निर्णय (Nationality and Self determination)—सन् १८१५ वियैना कांग्रेस (Congress of Vienna) की संधि के समय से यरोप में यह विचार धारा फैली कि एक जाति, एक राष्ट्र, अर्थात् एक जाति के लोगों का एक राज्य बने। प्रथम महायुद्ध

के पश्चात् इस विचार धारा में एक नवीन सिद्धान्त का सम्मिश्रण आ। वह था 'जातीय-आत्म-निर्णय-सिद्धान्त' अर्थात् प्रत्येक जाति को अपने देश पर स्वयं शासन करना चाहिये। अब राज-शास्त्र वेत्ताओं के ो मत हो गये । एक मतवाले तो कहते हैं कि एक जाति का एक राज्य हो और दूसरे मतवाले कहते हैं कि एक राज्य में अनेक जातियों वाला राज्य श्रेष्ठ है और ऐसे राज्य की उन्नति ोती है। जे० ऐस० मिल ने अपने 'रिप्रैजैन्टेटिव गवर्नमेन्ट' (Representative Government) नामक ग्रन्‍ में लिखा है कि "स्वतंत्र संस्थाओं के लिये यह एक अनिवार्य पूर्ण स्थिति है कि शासनों की सीमायें जातियों (की सीमाओं) के साथ समावृत्त (Coincide) होनी चाहिये।" रैमजे म ोर (Ramsay Muir) का कथन है कि "सम्पूर्ण आधुनिक युग का अनुभव इस बात का प्रतीक है कि जहां दृढ़ आत्मीयता के आधार पर वास्तविक जातीयता का अस्तित्व है---वहां उस जाति तथा संसार के हित के लिये यह आवश्यक है कि वह उतनी स्वतन्त्रता प्राप्त करले जितनी उसकी विशिष्ट विचारधारा तथा जीवन की प्रगति के लिये अनिवार्य है। यह स्वतन्त्रता इतनी पर्याप्त होनी चाहिये कि उसे इस बात का विश्वास अनुभव हो कि उसके विशेष मस्तिष्क तथा आचरण की अभिव्यक्ति के लिये उसके पास पर्याप्त सा न हैं । केवल सी प्रकार वह जाति उस वैचित्र (Variety) में अपना पूर्णरूप से अनुदाय (Contribution) प्रदान करने योग्य होगी जो पाश्चात्य सभ्यता की शक्ति (बनी हुई) है ।"

कुछ राजशास्त्र-वेत्ताओं का मत इस सिद्धांत के बिल्कुल विरुद्ध है। लार्ड ऐक्टन (Lord Acton) का कथन है कि "जातीयता सिद्धांत (अर्थात् 'एक जाति, एक राज्य' सिद्धांत) समाजवाद सिद्धांत की अपेक्षा आधुनिक अनर्गल (absurd) तथा अधिक अपराधी (criminal) है।" जिमर्न (Zimmern) का कथन है कि "अधिक काल व्यतीत होने पर राष्ट्रीय राज्य सिद्धांत की वही दशा होगी जो हेनरी अष्ठम (Henry VIII) तथा लूथर (Luther) के राष्ट्रीय-धर्म सिद्धांत की हुई।" बी० जोज़फ़ (B. Joseph) का मत है कि "एक जाति, एक राज्य सिद्धांत बड़ा भयानक है और संसार की उन्नति में विशे रूप से बाधक है।" एक स्थान पर वह लिखता है कि "विचार करने से यह विदित होता है कि एक जाति और एक राष्ट्र को एकात्मिकता देनेवाला

सिद्धांत नितान्त भ्रांतिपूर्ण तथा वास्तव में निराधार है।" * इसी विषय का वर्णन करते हुए आगे चलकर वह लिखता है कि 'संसार में शांति और व्यवस्था स्थापित रखने की आशा केवल उसी दशा में हो सकती है जबकि अनेक जातियों के लोग एक राज्य में सम्मिलित होकर सहयोग करें और साथ ही साथ प्रत्येक (जाति) अपना निजी राष्ट्रीय जीवन व्यतीत करें।" प्रोफेसर हार्किंग (Prof. Hocking) का भी यही मत है कि "किसी जाति को राज्य बनाने का विशिष्ट अधिकार नहीं है।" रैमज़े म्योर ने एक स्थान पर लिखा है कि "केवल अनिश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक राष्ट्र को स्वतन्त्रता और ऐक्य (स्थापित करने) का अधिकार है। मनुष्यों के समान जातियों को भी अपने अधिकारों का उपार्जन (earn) करना चाहिये। एक जाति को अपना अस्तित्व स्थापित रखने का अधिकार तभी हो सकता है जब वह अपने अधिकारों का प्रयोग अभियाचक (claimant) और जन-साधारण के लाभ के लिये करे।" हार्किंग का कथन है कि एक जाति को तभी सम्पूर्ण सत्ताधारी स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने देना चाहिये जब उनमें निम्नलिखित गुण विद्यमान हों:--

(१) वह अपनी सम्पत्ति का समुचित प्रवन्ध कर सके और प्रकृति उत्पादन स्रोत तथा मूलधन की वृद्धि कर सके।

(२) वह अच्छे विधान बना सके और श्रेष्ठ न्याय व्यवस्था स्थापित कर सके।

(३) समुचित शासन प्रबन्ध कर सके।

(४) व्यापार सम्बन्धी कार्य, ऋण चुकौती तथा पर्यटन संबंधी कर्तव्यों को समझे और उनका पालन करे।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में समुचित भाग ले, राजदूत रखे, पंच बने, संधि आदि करे और विशेष कर ऐसे स्त्री पुरुष उत्पन्न करे जो अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में उचित तथा गौरवपूर्ण प्रतिनिधित्व कर सकें।

(६) युद्ध के समय विदेशी आक्रमणों से अपनी रक्षा कर सकें।

राष्ट्रवाद सिद्धान्त की आलोचना--बहुत से पाश्चात्य विद्वानों ने राष्ट्रवाद को एक आदर्श सिद्धान्त माना है और उसे देवतुल्य पूज्य समझा है। बहुतों का मत है कि यह सिद्धान्त नितान्त अनर्गल तथा दोषपूर्ण है और

---

* बी० जोजफ़-नैशनैलिटी, पृष्ठ ३२४

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा लोक हित का तक है। सी० जे० ऐच० हेज (C. J. H. Hayes) ने राष्ट्रवाद की परिभाषा इस प्रकार की है कि "राष्ट्रवाद में जातीयता, राष्ट्रीय-राज्य तथा राष्ट्रीय देश भक्ति का सम्मिश्रण है," * बी० जोजफ (B. Joseph) आदि का विचार है कि राष्ट्रवाद व्यक्तिगत मनुष्य तथा मानव समाज रूपी शृंखलाओं के जोड़ने वाली एक कड़ी है। इन लोगों का यह भी विश्वास है कि 'राष्ट्रवाद' मनुष्य को व्यक्तिगत् स्वार्थ परायणता तथा वर्णरहित विश्व बन्धुता से उन्मुक्त करता है, इससे मनुष्य मात्र का कल्याण होता है, यह अध्यात्मिक शान्ति का साधन है और अन्तर्राष्ट्रवाद की प्रथम सीढ़ी है। एक व्यक्ति जितना अधिक राष्ट्रीय भावों से ओतप्रोत होगा उतना ही वह अन्य जातियों के राष्ट्रीयता के भावों को अनुभव कर सकेगा। इस सिद्धान्त की पुष्टि में वे यह युक्ति उपस्थित करते हैं कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने कुटुम्बियों से प्रेम करता है तो इसका यह अभिप्राय नहीं है, कि वह अन्य कुटुम्बों से घृणा करता है अथवा घृणा करेगा। जिमर्न (Zimmern) का विचार है कि यदि राष्ट्रवाद को राजनीतिक तथा आर्थिक कार्य क्षेत्रों से पृथक रखकर उसे केवल सामाजिक तथा शिक्षा सम्बन्धी कार्यों तक ही सीमित रखा जाय तो वास्तव में राष्ट्रवाद धन्य है। हमारा विचार है कि ऐसा असम्भव है अर्थात् राष्ट्रवाद राजनीति तथा आर्थिक कार्य क्षेत्र से पृथक नहीं किया जा सकता। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'नेशनलिज्म' नामक एक सुन्दर लेखमें राष्ट्रवाद को आत्मजा (Self-idolatry) तथा "स्वार्थ सिद्धि का राजनीतिक और आर्थिक संगठन" बतलाया है। उनका विश्वास है कि पाश्चात्य राष्ट्रवाद द्वेष-भावनापूर्ण, अतिक्रमणकारी और अन्य राष्ट्रों को विजय करने की प्रवृत्ति से परिपूर्ण है, अन्य जातियों का सब प्रकार से शोषण करने के लिये स्थापित किया गया है, पाश्चात्य राष्ट्रवाद में मानवता और अध्यात्मिकता का ह्रास है। यह निर्जीव यांत्रिक (Mechanical) सिद्धान्त है जो व्यक्तित्व का नाश करता है और एक जाति के लोगों को एक ही सांचे में ढालता है। इससे विश्वबान्धवता तथा मौलिकता के भावों का ह्रास होता है। हेज (Hayes) ने भी राष्ट्रवाद की तीव्र आलोचना की है। उसने राष्ट्रवाद के दो भेद किये हैं। उसके मतानुसार राष्ट्रवाद दो प्रकार का है—एक तो वास्तविक जिसे ऐतिहासिक

* सी० जे० ऐच० हेज—ऐसे आन नेशनलिज्म, पृष्ट २५७

कह सकते हैं और जिसका विकास मानव समाज के विकास के साथ हुआ है। वह इस सिद्धान्त को श्रेष्ठ समझता है और इसका समर्थन करता है परन्तु दूसरी प्रकार के राष्ट्रवाद के वह विरुद्ध है और इसका उसन खंडन किया है। दूसरी प्रकार का राष्ट्रवाद उसने "राष्ट्रवाद कृत्रिम" बतलाया है। उसका विचार है कि कृत्रिम राष्ट्रवाद स्वजाति के प्रति व्यक्तिगत मिथ्या अंहकार की चित्तवृत्ति से उत्पन्न होता है और इसके आधार पर अन्य जातियों अथवा राष्ट्रों से द्वेष किया जाता है। इस प्रकार का राष्ट्रवाद संसार में कभी उन्नति नहीं कर सकता है । शिलीटो (Shillito) का कथन है कि राष्ट्रवाद मनुष्य का द्वितीय धर्म बन गया है' उसके अपने निजी देवता, गुरू, महन्त, पूजा, रीति-रिवाज और त्यौहार है और भावुक, आवेशपूर्ण तथा अन्तः प्रेरणा युक्त है। उसके अनुयायी उसके अन्धभक्त हैं। इन राष्ट्रवादियों का एक विशेष ध्येय । वह ध्येय है अन्य राष्ट्रों को विजय करना, उनपर अत्याचार करना और उनका शोषण करना। वास्तव में यह राष्ट्रवाद सैनिकवाद है।

राष्ट्रवाद सिद्धान्त प्रत्येक जाति को अपने वंशीय मूल, साहित्य, संस्कृति, भाषा, धर्म, रीति-रिवाज के आधार पर संगठित करना सिखाता है। इस सिद्धान्त के मानने वाले अन्य जातियों से द्वेष करते हैं, उन्हें अपने देश से निर्वासित करते हैं। अन्य जातियों तथा देशों को विजय करके अपने राष्ट्र के हितके लिये उनका शोषण करते हैं। अन्य ेशों तथा जातियों से संबंध न रखने के लिये भांति-भांति के विधान बनाते हैं और आयात-निर्यात-कर-भित्ति (Tariff wall) स्थापित करते हैं। और निर्बल जातियों पर अत्याचार करते हैं । उनमें न्याय-शीलता का भाव लेशमात्र नहीं होता है । सी० जे० ऐच० हेज (C. J. H. Hayes) न अपनी 'एसे आन नेशनलिज्म' नामक पुस्तक में इस विषय पर एक अत्यन्त रोचक उदाहरण दिया है। उसने लिखा है कि "चिली में वालपरायजो नामक एक नगर में एक शराब की भट्ठी में मदिरापान करने वालों में कुछ झगड़ा हो गया। उन मदिरापान करने वालों में अमेरिका के संयुक्त राज्य का एक नाविक सैनिक भी सम्मिलित था। झगड़ में उस सैनिक की हत्या हुई। परिणाम यह आ कि संयुवत राज्य (अमेरिका) की सरकारने सन् १८९१ में चिली की सरकार से ७५००० डालर क्षति-पूर्ति के रूप में प्राप्त किये। हेजने अनेक उदाहरण देकर सिद्ध किया है कि राष्ट्रवादने ही साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन दिया

है। हेजका कथन है कि "व्यावसायिक सैनिकवादी ही वास्तव में अमर्यादित राष्ट्रवादी हैं।" राष्ट्रवाद यह सिखाता है कि "मेरा देश बुरा या भला जैसा भी है, मेरा देश है।" राष्ट्रवाद मिथ्या वंशीय अभिमान उत्तेजित करके अन्य जाति तथा वंश के लोगों पर अत्याचार करने को प्रेरित करता है। दक्षिणी अफ्रीका और अमेरिका में क्रमशः भारत वासियों और हब्शियों पर जो अत्याचार हो रहे हैं वह सबको विदित हैं। लार्ड ह्यू सिसिल (Lord Hugh Cecil) ने 'देश भक्ति' को, आलोचकों को चकनाचूर करने वाली, आततायी की गदा बतलाया है।

परन्तु वास्तव में राष्ट्रवाद इतना कुत्सित तथा घृणित सिद्धान्त नहीं है जैसा उसको ऊपर चित्रित किया गया है। राष्ट्रवाद एक अन्तः प्रेरणा है। ऐतिहासिक विकास के समान मानवजाति के विकास के साथ-साथ इसका भी विकास हुआ है। यह एक वास्तविक सिद्धान्त है और मनुष्य के जीवन के सदृश इसका भी अस्तित्व है। एक अमेरिकन यहूदी ने लिखा है कि चाहे लोग अपने वस्त्र, राजनीति, पत्नियां, धर्म तथा सिद्धान्त का परिवर्तन कर लें, परन्तु वे अपने दादाओं (grandfathers) का परिवर्तन नहीं कर सकते। वास्तव में राष्ट्रीयता मनुष्य की प्रकृति में सम्मिलित है। राष्ट्रवाद में बहुत से गुण हैं। केवल इतना ही प्रयत्न करने की आवश्यकता है कि उसमें स्वार्थ के स्थानपर परमार्थ होना चाहिये। हेज का कथन है कि यदि राष्ट्रवाद और शुद्ध देश भक्ति को एक समान समझ लिया जाय तो वह (राष्ट्रवाद) मानव हित के लिये कल्याणकारी सिद्ध होगा। बी० जोजफ ने लिखा है कि "एक आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय संसार का अभिप्राय है सर्व **श्रेष्ठ** जीवन व्यतीत करती हुई जातियों का एक संसार।* —वास्तव में शुद्ध राष्ट्रवाद संसार के हित के लिये कल्याणकारी है। वर्तमान राष्ट्रवाद से संकुचित भावों को **पृथक्** करने पर यह एक आदर्श सिद्धान्त सिद्ध होगा और अन्तर्राष्ट्रवाद स्थापित करने में सहायक होगा।

---

* बी० जोजफ नेशनैलिटी, पृष्ठ ३३८

विशेष अध्ययन के लिये देखिये:-

ए० टायनबी — नेशनैलिटी एण्ड दी वार
ए० ई० ज़िमर्न — नेशनैलिटी एण्ड गवर्नमेन्ट
जे० ऐच० रोज़ — नेशनैलिटी इन माडर्न हिस्ट्री
डब्ल्यू० बी० पिल्सबरी— साइकालौजी आफ नेशनैलिटी ऐन्ड इन्टरनेशनलिज्म
जे० ऐस० मिल — रिप्रैजैन्टेटिव गवर्नमैन्ट
ऐच० जे० लैस्की — ए ग्रामर आफ पालिटिक्स
सी० जे० ऐच० हेज — एसेज आन नेशनलिज्म
जी० पी० गूच — नेशनलिज्म
आर० ऐन० गिलक्रिस्ट—इन्डियन नेशनैलिटी
रैमजे म्यूर — नेशनलिज्म ऐन्ड इन्टरनेशनलिज्म

अध्याय २१

अन्तर्राष्ट्रवाद (INTERNATIONALISM)

प्राचीनकाल में मनुष्यों का जीवन इतना जटिल न था जितना वर्तमान काल में है। उस समय लोग ग्रामों अथवा छोटे छोटे नगरों में रहा करते थे। जीवन अत्यन्त साधारण था जीवन की आवश्यकताएं न्यूनातिन्यून थीं। भोजन, वस्त्र, रहन, सहन, रीति-रिवाज में कोई आडम्बर न था। परन्तु इस समय मनुष्य के जीवन में रती आकाश का भेद हो गया है। अठारहवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति ने मनुष्य को कुछ का कुछ बना दिया है। आधुनिक युग के वैज्ञानिक आविष्कारों ने संसार का रूप ही परिवर्तित कर दिया है। रेल, वाप्-पोत, वायुयान, जल-थल तार, दूरभाष (telephone), रेडियो आदि के अविष्कारों ने संसार के दूरस्थ देशों के नगरों को प्रान्तीय नगरों की भांति निकटवर्ती बना दिया है। आज हम संसार के किसी भी भाग के मनुष्य से कुछ क्षणों में वार्तालाप कर सकते हैं। संसार के किसी कोने में होने वाली घटना आज सम्पूर्ण संसार में खलबली उत्पन्न कर सकती है। एक राजनैतिक हत्या सारे संसार को युद्धकी अग्नि में झोंक सकती है। एक संक्रामक रोग संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक कुछ दिनों में फैल सकता है। एक सप्ताह के भीतर ही पैरिस अथवा लंदन के फैशन की नकल भारत में हो सकती है। नगर से दूर एक छोटी सी कर्मशाला (factory) में एक श्रमिक पर किये हुए अन्याय अथवा अत्याचार का प्रभाव कुछ ी दिनों में सम्पूर्ण संसार में हलचल मचा सकता है। अन्त ष्ट्रीय श्रमिक संघ (International Labour Organization) संसार के किसी कोने में किसी भी श्रमिक को अपना आदेश मनवा सकता है। सिनेमा, समाचार-पत्र, आकाशवाणी आदि द्वारा क्या नहीं हो सकता है। आज संसार के एक नगर में होने वाला साम्प्रदायिक युद्ध संपूर्ण संसार में साम्प्रदायिक युद्ध आरम्भ कर सकता है। आधुनिक काल में वास्तव में हमारा जीवन पूर्णरूप से अन्त ष्ट्रीय बन गया है। अब प्रत्येक व्यक्ति अपने को एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का सदस्य समझता है। डाक्टर नारवुड (Dr. Norwood) का कथन है कि "हम एक दूसरे से सम्बद्ध हैं" संसार में

सभ्य समाज को उन्नति करने के लिये अपनी चित्त-वृत्ति को अन्तर्राष्ट्रीय बनाना पड़ेगा। बिना ऐसा किये उन्नति नहीं हो सकती है।

अन्तर्राष्ट्रवाद केवल काल्पनिक भावुकता ही नहीं है जो स्वार्थ सिद्धि के लिये प्रयोग में लाया जाय और केवल शान्ति के समय में इसका प्रचार तथा अनुकरण किया जाय और ो जातियों में युद्ध छिड़ने पर उसकी अवहेलना करके एक या दूसरी युद्ध करनेवाली जाति का पक्ष लेकर युद्ध में सम्मिलित हो जाय। अन्तर्राष्ट्रवाद वास्तव में एक ऐसा सिद्धांत है जिस पर चलकर मानव समाज का कल्याण हो सकता है और विश्व में प र्ण शान्ति स्थापित रह सकती है, परन्तु इसके लिये स्वार्थ को सर्वथा त्याग देने की आवश्यकता है।

अन्तर्राष्ट्रवाद को केवल स्वप्नलोकवाद भी न समझना चाहिये। न राष्ट्रवाद सिद्धांत को ृगतृष्णा ही समझना चाहिये। स्वप्नलोकवादी राष्ट्रवादियों का विचार है कि एक क्षण में एक राष्ट्रवाद द्वारा संसार में एक भाषा, एक धर्म, एक संस्कृति की स्थापना हो सकती है। वास्तव में ऐसी कल्पना निर्मूल है। वास्तविक राष्ट्रवादियों का यह विचार है कि प्रत्येक राष्ट्र पूर्ण रूप से स्वतंत्र रहता हुआ अपनी व्यक्तिगत उन्नति करता हुआ, कुछ विशेष विषयों में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करके तथा कुछ विषयों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग करता हुआ अपनी तथा संसार के अन्य राष्ट्रों की उन्नति कर सकता है।

अन्तर्राष्ट्रवाद का विकास (Growth of Internationalism)—इतिहास के पढ़ने से पता चलता है कि अन्तर्राष्ट्रवाद का विकास यूनान के छोटे-छोटे नगर राज्यों से हुआ है। इन नगर राज्यों में अन्तर्राष्ट्रवाद के अंकुर विद्यमान थे। यद्यपि यूनान के नगर राज्य एक दूसरे से पूर्ण रूप से स्वतंत्र थे और प्रत्येक की शिक्षा, संस्कृति तथा शासन पद्धति भी एक ूसरे से भिन्न था परन्तु इन विभिन्नताओं के होने पर भी कुछ बातें ऐसी थीं जिनसे हमको यह विश्वास होता है कि वहां के भिन्न-भिन्न नगरों में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित था। यूनानी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधानों के अनुसार कार्य करते थे। जिस प्रकार आधुनिक काल में राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधानों का पालन करते है उसी प्रकार प्राचीन काल में यूनानी लोग भी कुछ विशे नियमों का पालन करते थे जिन्हें हम आजकल अन्त ष्ट्रीय विधान के अन्तर्गत ानते हैं। यूनानी राज्य युद्ध करते थे और संधियां भी करते थे। युद्ध के बीच में ृ्त सैनिकों की अन्तिम क्रिया-कर्म करने के लिये

अस्थायी संधियां करते थे। एक राज्य दूसरे राज्य में अपने राजदूत भेजता था। राजदूतों के सम्बन्ध में वैसे ही नियमों का पालन किया जाता था जैसे आजकल किया जाता है। राज्य संघ और राष्ट्र संघ स्थापित किये जाते थे। पारस्परिक राज्यों का झगड़ा निपटानें और निर्णय करने के लिये पंच, पंचायत तथा अस्थाई न्यायालयों की स्थापना की जाती थी। इन के खेलकूद और त्यौहारों में भी अन्तर्राष्ट्रीयता विद्यमान थी। इनका धर्म और इनकी पूजा में भी अन्तर्राष्ट्रीयता के भाव थे। इतनी बातों में अन्तर्राष्ट्रीय संबंध होने पर भी ये राज्य वास्तव में एक दूसरे से द्वेष रखते थे और विदेशी आक्रमण के समय पूर्ण रूपसे सहयोग नहीं कर सकते थे। इसीलिये न राज्यों का शीघ्र नाश हो गया और अधिक कालतक स्थापित न रह सके।

लगभग उसी काल में जब यूनान की सभ्यता उच्च शिखर पर थी वहां पर द्वन्द्वमुक्तवाद सिद्धान्त (Stoicism) का प्रचार हुआ। न्द्वमुक्तवादियों ने इस सिद्धान्तका प्रचार किया कि संसार के सब मनुष्य समान हैं और एक दूसरे के भाई हैं। प्रत्येक मनुष्य को अपने को एक विश्व-व्यापी संस्था का सदस्य समझना चाहिये। अतः यूनान के द्वन्द्ववादियों ने सबसे प्रथम संसार में विश्व-बंधुता की शिक्षा दी। द्वन्द्ववादियों ने नैर्सागक विधान (natural law) की जी स्थापना की। इन विचारों का पाश्चात्य राज-शस्त्रवेताओं पर बड़ा प्रभाव पड़ा। नैसर्गिक विधान का रोमन लोगों ने प्रयोग किया और इसी के आधार पर रोमन लोगों ने अपने विधान-निर्माण किये। अन्त में यही विधान अन्तर्राष्ट्रीय विधान के रूप में परिणत हुए।

यूनानी नगर राज्य को रोमन लोगों ने विजय किया और यूनान को रोमन साम्राज्य का एक प्रान्त बना लिया। रोम आरम्भ में नगर राज्य के रूप में था। रोमवालों ने सबसे पहले इटली के छोट २ राज्यों को एक सम्राज्य के रूप में संगठित किया। इसके पश्चात् उन्होंने अपनी सैनिक शक्ति की वृद्धि करके अन्य देशों को विजय करके रोम साम्राज्य की स्थापना की। रोमन लोगों का विचार सार्वभौम साम्राज्य स्थापित करने का था आरम्भ में रोमवालों ने अपने आस-पास के नगर राज्यों के विजय करके उनके साथ समानता का व्यवहार किया परन्तु कालान्तर में उन्होने इन नगर राज्यों को अधीन राज्य बनाकार रोमन साम्रज्य स्थापित किया। रोमन साम्राज्य में सब राज्यों के नागरिकों को समान नागरिकता के अधिकार प्राप्त थ। विशेषता केवल इतनी ही थी कि सम्पूर्ण साम्राज्य में रोमन विधान के अनुसार

ही शासन होता था और रोमन विधान ही सब रोमन साम्राज्य के नगरों में लागू था। ये रोमन विधान वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय विधान थे जिनका सब नगर पालन करते थे। इन्हीं विधानों द्वारा सम्पूर्ण साम्राज्य में न्याय होता था। न्यायालयों में सबको समान अधिकार प्राप्त थे किसी के साथ किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया जाता था। रोमन शासन की अन्तर्राष्ट्रीय नीति यह थी कि मैं अन्य राज्यों में भेद-भाव उत्पन्न करके सफलता पूर्वक शासन करने का प्रयत्न करते थे अतः अन्य राष्ट्र मिलकर कभी रोमन शासन का विरोध नहीं कर सकते थे। सर्व प्रथम भेद नीति (फूटनीति) का प्रचार रोमन लोगों ने किया और फिर अन्य साम्राज्य-वादियों ने इस नीति का अनुसरण किया। ये लोग दो राज्यों में परस्पर भेद डालकर एक राज्य का पक्ष लेकर दूसरे को दबा कर अपने अधीन कर लेते थे। कालान्तर में यही नीति अंग्रेजों ने भी भारतवर्ष में प्रयोग की थी। रोमन लोगों के विधानों में परदेशी संबंधी विधान (jus gentium) बड़ा महत्व रखता है। इसके अनुसार रोमन विधान केवल रोम साम्राज्य के लोगों पर ही लागू लोगों पर ही लागू होता था अथवा रोम के मित्र राष्ट्रों में लागू होता था अन्य लोगों पर रोमन विधान लागू नहीं होता था। रोम वालोंने सर्वप्रथम भिन्न-भिन्न जातियों और राष्ट्रों को एक शासन संगठन में संगठित किया और इस प्रकार आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीयता की नींव डाली। रोमन लोग ही वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय विधान के जन्मदाता कहे जाते हैं।

रोम साम्राज्य में सब देशों तथा नगरों के नागरिकों को समान नागरिकता के अधिकार प्राप्त थे। न्यायालयों में भी सबको समान समझा जाता था। सब प्रांतों में समान शासन-प्रणाली द्वारा शासन किया जाता था। इन्हीं बातों से आधुनिक काल के अन्तर्राष्ट्रवाद की स्थापना हुई है। रोम वालों ने अन्तर्राष्ट्रीयता के विचारों की उन्नति अनेक प्रकार से की,सम्पूर्ण रोमन साम्राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय रूप देने के लिये लैटिन भाषा की शिक्षा रोमन साम्राज्य में अनिवार्य कर दी गई थी। लैटिन भाषा के अनिवार्य करने से रोमन साम्राज्य के साहित्य में समानता आई और इसका परिणाम यह हुआ कि रोम साम्राज्य निवासियों की संस्कृति में समानता आ गई।

मध्यकालीन यूरोपियन राज्यों ने रोमन विधानों के आधार पर अपने-अपने विधान निर्माण किये। इसका परिणाम यह हुआ कि रोमन अन्य देशी विधान (jus gentium) का प्रभाव मध्यकालीन यूरोपीय साम्राज्यों पर

पड़ा। मध्यकालीन यूरोप पर रोमन विश्वबन्धुता सम्बन्धी विचारों का भी वड़ा प्रभाव पड़ा। पोप-राज्य तथा पवित्र रोमन-साम्राज्य (Holy Roman Empire) विश्वबन्धुता के भावों से पूर्णरूप से प्रभावित थे। इनका सार्वभौमिक स्वरूप था। मध्य युग में यूरोप में पोप बड़ा शक्ति शाली था। संम्पूर्ण ईसाई धर्म के माननेवाले ोप के अधीन थे। राजनीतिक सम्रा ों का कुछ भी प्रभाव न था। सब ईसाई राज्यों के निवासियों के लिये धार्मिक, बौद्धिक, सामाजिक और राजनीतिक विषयों में पोप की सम्राटों से अधिक आज्ञा पालन की जाती थी। पोप की आज्ञा का उल्लंघन सम्राट भी नहीं कर सकते थे। यदि कोई सम्राट पोप की आज्ञा अथवा इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य करते थे तो पोप घोषणा द्वारा उस सम्राट को सम्राट पद के अयोग्य घोषित कर देता था और प्रजाको उसकी आज्ञा न मानने का आदेश दे देता था ऐसे अनेकों उदाहरण यूरोप के इतिहास में पाये जाते हैं। मध्य युग के अन्त में पोपका प्रभाव कम हो गया सम्राटों ने अपने अधिकारों को बलपूर्वक प्रयोग किया और इस प्रकार पोप के प्रभाव का ह्रास हुआ। स समय में भी पोप का निर्णय स ्मान्य समझा जाता था और लोग उसके निर्णय को स्वीकार करते थे। मध्ययुग में धार्मिक तथा नैतिक अन्तर्राष्ट्रीयता का बोलवाला रहा।

आधुनिक युग का आरम्भ 'पुनरुत्थान' (Renaissance) और 'सुधारण' (Reformation) के समय से होता है। पुनरुत्थान-तथा सुधारण आन्दोलनों ने यूरोप में पोप के नैतिक तथा धार्मिक प्रभाव का अन्त किया और वहां राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना हुई। आधुनिक-काल के आरम्भ होने से पूर्व ही यूरोप के कुछ राजनीतिज्ञों ने पोपके सिद्धान्तों का विरोध करके उसकी शक्ति को राजनीतिक क्षेत्रों में बहुत कम कर दिया था। मर्सीलियो (Marsiglio) और मैकियावेली (Machiavelli) ने विशेष रूप से पोप के प्रभाव को कम करने का प्रयत्न किया और वे इस उद्देश्य में सफल हुए। लूथर ने पोपका बड़ी कठोरता से विरोध किया और सन् १५१० में अपना सर्वप्रथम लेख ·काशित किया जिसकी प्रतियां उसने धार्मिक तथा शिक्षा संस्थाओं के द्वारों पर चिपका दीं। इस लेखमें उसने पोप के दोषों का वर्णन किया, पोप मतका खंडन किया। उसने प्रोटेस्टैन्ट (Protestant) धर्म की स्थापना की। प्रोटस्टैन्ट धर्म के आरम्भ होते ही ईसाई धर्म के दो

भाग हो गये। ईसाई धर्म का विभाजन होते ही पोप की शक्ति का नाश हो गया। पोप की शक्ति का नाश होते ही अन्तर्राष्ट्रवाद का ह्रास सा प्रतीत हुआ। राष्ट्रीयता के विचारों ने जोर पकड़ा और राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना आरम्भ हुई। यद्यपि राजनैतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रवाद का ह्रास हुआ और उस समय के दार्शनिकों, कवियों तथा साहित्य लेखकों ने राष्ट्रवाद पर अनेक ग्रन्थ लिखे और कविताएं रचीं परन्तु उस समय में भी हम शिल्पि-संघ तथा व्यापार संघों के रूप में अन्तर्राष्ट्रवाद के प्रभाव को पूर्णरूप से अनुभव करते हैं। रैमजे म्योर (Ramsay Muir) का कथन है कि "जिस अनुपात में राष्ट्रीयता के भावों का विकास हुआ उसी अनुपात में सभ्यता के भावों का न रह होता प्रतीत हुआ।* नैतिक और धार्मिक राष्ट्रवाद के स्थान पर आर्थिक राष्ट्रवाद की स्थापना हुई परन्तु यह अधिक काल तक प्रचलित न रह सका। राष्ट्रवाद का प्रभाव अधिक बढ़ जाने के कारण राष्ट्रीय वैमनस्य की वृद्धि हुई। राष्ट्रीय वैमनस्य के कारण राष्ट्रीय युद्ध छिड़ गये। पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर अठरहवीं शताब्दी तक अर्थात् इन चार शताब्दियों में यूरोप लगातार पारस्परिक राष्ट्रीय युद्धों का युद्ध क्षेत्र बना रहा और इसी बीच में इन युद्धों से साम्राज्यवाद की उत्पत्ति हुई। शक्तिशाली राष्ट्रों निर्बल राष्ट्रों पर अपना आधिपत्य स्थापित करके उनका शोषण किया। अफ्रीका और एशिया में साम्राज्यवाद पराकाष्ठा पर पहुंच गया।

सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांस के सम्राट हेनरी चतुर्थ ने यूरोप के लिये एक प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय योजना तैयार की जिसके अनुसार रूस और टर्की को छोड़कर यूरोप के अन्य राज्यों को एक "ईसाई धर्म जनतं संघ" में सम्मिलित करना निश्चित किया गया था परन्तु यह योजना कार्य रूप में परिणत न हो सकी।

इसी प्रकार की एक अन्तर्राष्ट्रीय योजना अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में सेन पियरी (St. Pierre) ने भी निर्माण की थी जिसके अनुसार यह निश्चित किया गया था कि सम्पूर्ण यूरोप एक समाज है किसी को एक दूसरे पर शासन करने का अधिकार नहीं है। यूरोप में शान्ति स्थापित रखने के लिये प्रत्येक राष्ट्र को एक दूसरे पर निर्भर रहना चाहिये। प्रत्येक राज्य के सम्राट को यह

---

* रैमजे म्योर—नेशनलिज्म ऐण्ड इन्टरनेशनलिज्म पृष्ठ, १३०

प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि वे एक दूसरे की सीमा पर अतिक्रमण नहीं करेंगे, अपने अपने राज्यों में शान्ति स्थापित रखेंगे और अराजकता का नाश करके सम्राटों के अस्तित्व को बनाये रखेंगे। राज्यों के पारस्परिक झगड़ों का निर्णय युद्ध द्वारा करेंगे। इस कार्य के लिये यूट्रैक्ट (Utrecht) नगर निश्चित किया गया और यह निश्चित किया गया कि "प्रत्येक राज्य के घटकों (Agents) की वहां एक सभा होगी जिसे शान्ति का अधिकार होगा और जो मैत्रिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये और अपने निर्णयों को कार्य-रूप में परिणत करने के लिये बहुमत द्वारा विधान निर्माण करेगी।" यह योजना भी सफल न हुई।

इसके पश्चात् रूसो (Rousseau) ने भी एक अन्तर्राष्ट्रीय योजना उपस्थित की। उसकी योजना का यह अभिप्राय था कि एक विशेष विधान के अनुसार यूरोप के सब राजों को एक संघ के रूप में संगठित किया जाय और प्रत्येक राज्य को इसमें सम्मिलित होने के लिये बाध्य किया जाय। जो राज्य इस संघसे पृथक होने का प्रयत्न करे उसे बलपूर्वक संघ में रखा जाय।

रूसो के पश्चात् बेन्थम (Bentham) ने भी अन्तर्राष्ट्रवाद का समर्थन किया। उसने 'प्रिंसिपल्स आफ इन्टरनेशनलला' (Principles of International Law) नामक ग्रन्थ रचा जिसमें उसने सर्वप्रथम "अन्तर्राष्ट्रीय शब्द का प्रयोग अंग्रेजी भाषा में किया। बेन्थम शान्ति प्रिय व्यक्ति था। उसका कथन है कि "रक्षात्मक संधियों, साधारण प्रत्याभूतियों (guarantees), निःशस्त्रीकरण तथा औपनिवेशिक साम्राज्यवाद का त्याग करने से ही युद्ध रोके जा सकते हैं।* उसने अनेक देशों के लिये विधान निर्माण किये और अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रचार में सहायता दी। उसने आयात-निर्यात-कर प्रणाली, देशोत्कर्ष के लिये दी जानेवाली सहायता तथा उपनिवेश स्थापित करने का विरोध किया। उसका विचार है कि ये बातें संसार की उन्नति में बाधक हैं और इनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय सुव्यवस्था स्थापित नहीं हो सकती।

कैन्ट (Kant) ने भी अन्तर्राष्ट्रवाद का समर्थन किया। उसने अपने "टुवर्डस ऐटरनल पीस" (Towards Eternal Peace) नामक

---

* शूमैन-इन्टरनेशनल, रिलेशन्स पृष्ठ ३३५-३३६

पुस्तक में एक संघीय योजना प्रकाशित की। उसका विचार है कि इस संघीय योजनाद्वारा संसार में शान्ति स्थापित हो सकती है। उसने इस पुस्तक में तीन बातों के लिये आदेश दिया है वे ये हैं-(१) सम्पूर्ण स्वतन्त्र राज्यों का रक्षण (२) निर्हस्तक्षेप तथा (३) शनैः शनैः स्थायी सेना का अन्त करना। वह सार्वभौम नागरिकता का पक्षपाती था। उसका मत है कि कि सब देशों में जनतन्त्रीय शासन स्थापित होना चाहिये।

नैपोलियन (Nepoleon) ने भी संसार में शान्ति स्थापित करने के लिये राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को उचित समझा उसकी इच्छा थी कि यूरोप के सब राज्यों को विजय करके राष्ट्रीय राज्य स्थापित किये जायें। राष्ट्रीय राज्य स्थापित करके उन्हें फ्रांस के नेतृत्व में एक संघ के रूप में परिणत करके उनका संगठन किया जाय क्योंकि उसका विचार था कि राष्ट्रीयता के आधार पर ही अन्तर्राष्ट्रीयता स्थापित हो सकती है और ऐसी अन्तर्राष्ट्रीयता चिरस्थायी होगी। इसी लिये उसने युद्ध (Nepoleonic Wars) किये थे।

अन्तर्राष्ट्रीय विधान का विकास (Growth of International Law)—अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अंकुर हमको प्राचीन काल के हिन्दू ग्रन्थों में मिलते। सहस्त्रों वर्ष पूर्व कुछ ऐसे नियम थे जिनका पालन त्येक राज्य करता था। राजदूत के साथ किसी प्रकार का अ{ुचित व्यवहार नहीं किया जाता था। रामायण और महाभारत काल में इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। युद्ध के समय में भी कुछ नियमों का पालन किया जाता था। यूनान में भी कुछ ऐसे नियम थे जिनका पालन सब राज्य युद्ध तथा शान्ति के समय करते थे। सका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। लिखित अन्तर्राष्ट्रीय विधान का विकास रोमन विधान (Roman Law) से आरम्‍ होता है। रोमन विधान के अनसार रोमन साम्राज्य के सब नगरों में शासन प्रबन्ध होता था। न्यायालयों में भी रोमन वि ान के अनुसार न्याय होता था। मध्य-कालीन यूरोप के विधानों का आधार भी रोमन विधान (Roman Law) ही था। राज्यों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का आधार भी रोमन विधान ही था। रोमन विधान का विदेशी संबन्धी विधान (jus gentium) बड़ा महत्वपूर्ण था इस विधान के अनुसार सव विदेशियों के समान अधिकार थे और सब विदेशों पर यही विधान समान रूपसे लागू होता था। विदेशी सम्बन्धी विधान (jus gentium)

के अतिरिक्त एक प्रकार का ैतिक नियम भी लागू था। कुछ ऐसे विषय थे जिनके सम्बन्ध में लोगों को तथा अन्य राज्यों को नैतिक कर्तव्य समझ कर उनका पालन करना पड़ता था। यद्यपि राज्य की ओर से उन नियमों का उल्लंघन करने पर कुछ दंड नहीं मिलता था। परन्तु लोगों की दृष्टि में उनका उल्लंघन करना अनुचित तथा घृणित समझा जाता था। लोक लाज के भय से लोग इन नैतिक नियमों का पालन करते थे। ये नियम भी सब राज्यों के लिये बाध्य समझे जाते थे। रोमन विधान का यह एक विशेष अंग था कि न्याय की दृष्टि में सब नगरों के नागरिकों के समान अधिकार हैं। इसी विधान के आधार पर यह सिद्धान्त स्थापित किया गया कि सब नगरों के निवासी एक दूसरे के समान और स्वतंत्र हैं और कोई किसी के अधीन नहीं है। समानता के अधिकार को नैसर्गिक नियम समझा गया। इस प्रकार रोमन विदेशी संबंधी विधान और नैसर्गिक विधान (jus gentium and jus naturale) के आधार पर आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधान का विकास हुआ।

इसके पश्चात् यूरोप के कुछ न्याय-शास्त्रियों ने अन्तर्राष्ट्र-विधान सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे जिनमें उन्होंने प्राचीन काल से प्रचलित रीति-रिवाजों के आधार पर युद्ध तथा शान्ति के समय राज्यों द्वारा पालन किये जाने वाले नियमों को वर्णन किया और परिस्थितियों के अनुसार उनमें कुछ परिवर्तन भी किये। ग्रोशस (Grotius) नामक प्रसिद्ध डच शास्त्रवेत्ता ने ऐसे नियमों को लेखबद्ध किया। उसके पश्चात् बिन्कर-शूक (Bynkershock), वाटल (Vattel) आदि प्रसिद्ध विद्वानों ने अन्तर्राष्ट्रीय विधानों का निर्माण किया जिनका प्रयोग यू ोप के राष्ट्रों ने अपने पारस्परिक सं ंधों में किया। ये ूर्वकालीन अन्तर्राष्ट्र-वादी समझे जाते हैं क्योंकि इनके विधानों में विशेषकर प्राचीन काल और मध्यकाल के रीति-रिवाजों तथा प्रचलित नियमों का वर्णन विशेष से पाया जाता। इन्होंने कुछ महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय अन्वेषणाएं नहीं की है। कैन्ट (Kant), वीटन (Wheaton), मैनिंग (Manning) तथा वूलजे (Woolsey), लारेंस (Lawrence), हाल (Hall) आदि में अन्तर्राष्ट्रीय विधान की बड़ी उन्नति की है। इन्होंने नवीन अन्वेषणाएं की हैं और उनके आ ार पर अन्तर्राष्ट्रीय विधान को वह रूप दिया है जिस रूप में आज हम उसे प्रचलित देखते हैं। ग्रोशस वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय विधान का जन्मदाता

समझा जाता है परन्तु बूलजे, लारेंस, हाल आदि विद्वान आधुनिक काल के अन्तर्राष्ट्रीय विधान निर्माता समझे जाते हैं।

समय-समय पर यूरोप में होने वाली संधियों ने तथा सभाओं ने भी अन्तर्राष्ट्रीय विधान के निर्माणों में बड़ा महत्वपर्ण कार्य किया है। राज्य तथा भूमि संबंधी विषयों पर अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विधान वैस्टफालिया (Westphalia) की संधि (१६४८), यट्रैक्ट (Utrecht) की संधि (१७१३) तथा पैरिस (Paris) की संधि (१७६३) में बनाये गये। वारसाई (Varsailles) की संधि (१७८३) और पैरिस (Paris) की संधि (१८५६) में सर्वोच्चसत्ता संबंधी अन्तर्राष्ट्रीय विधानों का निर्माण किया गया। सन् १८६४ की जेनेवा की सभा (Geneva Convention) और १८९० की ब्रूसेल्स सभा (Brussels Conference) में अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्य सम्बन्धी विधान बनाये गये जिनके द्वारा यह निश्चित किया गया कि राष्ट्रों को युद्ध तथा शान्ति के समय किस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों का संचालन करना चाहिये और किन-किन कर्तव्यों का पालन करना चाहिये।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में रूस के सम्राट जार अलैक्जैन्डर (Tsar Alexander) प्रथम ने सम्पूर्ण यूरोप में संधीय शासन स्थापित करने का प्रयत्न किया। अलैक्जैन्डर "भावुकतावादी, आदर्शवादी, अहंवादी और परमार्थवादी था।" अर्थात् उसमें यह सब गु एक साथ विद्यमान थे। उसने सन् १८९४ में होली ऐलाइंस (Holy-Alliance) नामक एक महत्वपूर्ण योजना बनाई जिसका ध्येय यूरोप के सब राष्ट्रों को संगठित करके एक संघ स्थापित करना था। इसी योजनामें उसने यह रखा था कि एक अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत स्थापित की जाय और इसी योजना के अनुसार मध्यस्थ भी चुने जायें। इसी के आधार पर इंगलैंड और रूसने सन १८०५ में एक संधि की जिसके अनुसार इन दोनों राष्ट्रों ने यूरोप में संघीय शासन करने का और निर्बल राष्ट्रों की रक्षा करने का प्रयत्न किया और साथ ही साथ महान शक्तिशाली राज्यों का सामना करने के लिये एक संगठन बना लिया। यूरोप में युद्धों के कारण यह योजना केवल कागज पर ही रही और कार्य-रूप में परिणत न हो सकी। वियना सभा (Congress of Vienna)

* रैमजे म्योर–नेशनलिज्म ऐन्ड इन्टर नेशनलिज्म, पृष्ठ १५५।

के समय शान्ति स्थापित होने पर सन् १८१५ में रूस के जार ने पुनः अपनी योजना उपस्थित की और उसके अनुसार रूस, प्रशा और आस्ट्रिया (Russia, Prussia and Austria) देशों के बीच 'पवित्र संधि' (Holy Alliance) स्थापित की। इस 'एलाइंस' ` यूरोप में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सभायें कराई इस 'पवित्र संधि' ने यूरोप में सं‍ि स्थापित रखने के लिये बड़ा प्रयत्न किया और इस उद्देश्य से उसने कई सभायें की। कुछ काल पश्चात् फ्रांस भी इस 'पवित्र संधि' में सम्मिलित हो गया। एक सं‍ि-संघ (League of Peace) स्थापित किया गया परन्तु उसने कुछ काल पश्चात् अत्याचार करना आरम्भ कर दिया। लगभग ३० वर्ष तक यूरोप में इस संघ ने शान्ति स्थापित रखी परन्तु यह शान्ति न्याय युक्त शान्ति न थी। रैमजे म्योर के मतानुसार इस लीग ने ीन महत्वपूर्ण कार्य किये (१)—इस संघ ने पूर्णरूप से अन्तर्राष्ट्रीय विधान की स्थापना की (२) इस संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय विषयों को स्वीकृति दी अर्थात् स्विटजरलैन्ड का तटस्थीकरण किया (३) कुछ काल तक यूरो ी संविधा (Concert) की स्थापना रही।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक अन्तर्राष्ट्रीय विधान का पूर्ण-रूप से विकास नहीं हुआ था। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से अन्तर्राष्ट्रीय विधान की बड़ी उन्नति हुई। इसमें बड़े महत्वपूर्ण विधानों का योग हुआ। सन् १८१५ में अन्तर्देश-नौचालन (Inland navigation) संबंधी अन्तर्राष्ट्रीय विधानों का निर्माण हुआ और यह निश्चित किया गया कि जो सरितायें कई स्वतं राज्यों में होकर प्रवाहित होती हैं उनमें किस विधान के अनुसार नौचालन होगा। दास-व्यापार विरोधी विधान भी बनाये गये। सन् १८५६ की पैरिस घोषणा (Declaration of Paris) द्वारा अति लाभ (Profiteering) को अवैध बतलाया गया और नौ-सैनिक उपरोध की व्याख्या की गई। सन् १८६४ तथा १८६८ की जेनेवा सभाओं (Geneva Conferences) में इस विषय पर विधान निर्माण किया गया कि युद्ध क्षे में घायलों के प्रति कैसा बर्ताव होना चाहिये और उनकी सेवा शुश्रुषा किस प्रकार होनी चाहिये। परिणाम स्वरूप युद्ध सेवा-समाज (Red Cross Society) की स्थापना हुई। सन् १८६७ में सेन पीटसवर्ग (St. Petersburg) में एक सभा हुई जिसमें

इस बात का तीव्र विरोध किया गया कि सभ्य देशों के पारस्परिक युद्ध में फटने वाली गोलियां तथा आग लगाने वाले बमों का प्रयोग किया जाय। इसका अभिप्राय यह है कि इन वस्तुओं के प्रयोग का निषे कर दिया गया। सन् १८८५ की बर्लिन सभा (Berlin conference) में दास-व्यापार प्रथा को अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अनुसार अवैध ठहराया गया। इस प्रकार यूरोप में पूर्ण- प से अन्तर्राष्ट्रीय विधान व्यवस्था स्थापित हो गई। सन् १८८७ में पुनः बर्लिन में एक सभा की गई जिसमें समस्त यूरोपीय देशों के लिये पुनर्मुद्रणाधिकार (copyright) सम्बन्धी विधानों का निर्माण किया गया। इन सभाओं के अतिरिक्त यूरोप में और भी सभाएं बुलाई गई जिनमें रेल, डाक, तार सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय विधान बनाये गये।

सन् १८९९ और १९०७ में हेग में अन्तर्राष्ट्रीय सभाएं हुई जो हेग कानफ्रेंसेज (Hague Conferences) के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन सभाओं में लगभग सभी बड़े-बड़े देशों ने भाग लिया। ये सभायें अस्त्र-शस्त्र नियमन करने के लिये हुई थीं। इनका वास्तविक ध्येय संसार के देशों का निःशस्त्रीकरण करना था। इन सभाओं को अपने उद्देश्य में कोई विशेष सफलता प्राप्त न हुई। परन्तु वे "युद्ध के समय प्रयोग होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय विधानों के दुहराने, उनका स्पष्टीकरण करने तथा उनको विधिबद्ध (codify) करने में सफल हुई।" * प्रथम हेग सभा ने अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निपटारा करने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत (Tribunal) की स्थापना की. यह पंचायत स्थायी न्यायालय के रूप में न थी। यह केवल न्याय मर्मज्ञों की एक नामावली थी जिसमें पारस्परिक झगड़ों का निपटारा करने के लिये झगड़ा करने वाले राज्य अपना निर्णय कराने के लिये इस नामावली में से अपने पंच नियत कर सकते थे और इन पंचों का निर्णय उनको मानना अनिवार्य था। परन्तु इन पंचों से अपने झगड़ों का निर्णय कराना उनके लिये आवश्यक न था।

तटस्थ-राज्य—उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में स्विटज़रलैन्ड (Switzerland) को तटस्थता प्राप्त हुई अर्थात् संसार के सब राज्यों ने इस देश को तटस्थ (Neutral) देश स्वीकार कर लिया

* रैमजे म्योर—नेशनलिज्म ऐन्ड इन्टरनेशनलिज्म, पृष्ठ १७३

इसी प्रकार सन् १८३९ में बेल्जियम (Belgium) को भी तटस्थ राज्य मान लिया गया।

यूरोपीय-संविधा (European Concert)–सन् १८१५ में यूरोपीय संविधा की स्थापना हुई अर्थात् यूरोप के सब राज्यों ने मिलकर यह निश्चित किया कि सबको एकोन्मुख कार्य करना चाहिये। यदि कोई 'राज्य अनधिकृत अतिक्रमण की चेष्टा करेगा तो उसे सब राज्य मिलकर दबाने का प्रयत्न करेंगे। यूरोपीय-संविधाके कारण कुछ काल तक यूरोप में शान्ति स्थापित रही और जब जब किसी राज्य ने अनुचित रूप से युद्ध करने की चेष्टा की तो अन्य सब राज्यों ने मिलकर उसे दबाया। परन्तु राज्यों का यह संगठन अधिक काल तक स्थापित न रह सका। यूरोप में राष्ट्रीयता के भाव बढ़े और यूरोप तीन भागों में विभाजित हो गया। इंगलैण्ड अपनी सुरक्षित प्राकृतिक भौगोलिक दशा के कारण पृथक हो गया जर्मनी एक त्रिगुण-मैत्री (Triple Alliance) बना कर पृथक हो गया और रूस और फ्रांस ने अपना पृथक संगठन बना लिया। इसके पश्चात् सन् १९१९ तक कोई ऐसी प्रभावशाली राष्ट्रीय संस्था न थी जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित कर सकती।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सन् १९१९ में पेरिस में एक संधि सभा (Peace Conference) बुलाई गई। लोग इस महासमर से बड़े भयभीत हो चुके थे और उन्हें यह विश्वास हो गया था कि यदि कोई शान्ति स्थापित करने वाला संगठन स्थापित किया तो पृथ्वी पर से सभ्यता का नाश हो जायगा और लोग युद्ध में बलि हो जायंगे। अतःविश्व शान्ति स्थापित करने के उद्देश्य को तथा कुछ दूसरे उद्देश्यों को सामने रख कर अमरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति वुडरो विलसन (President Woodrow Wilson) ने अपने चौदह विषयों की एक सूची इस संधि सभा के सामने उपस्थित की। इस सूची की चौदहवीं बात यह थी कि विशिष्ट प्रतिश्रव (covenant) द्वारा समान रूप से छोटे-बड़े राज्यों की शासन पद्धतियों की प्रादेशिक प्रतिष्ठा तथा राजनैतिक स्वतंत्रता की पारस्परिक प्रत्याभूति (guarantee) के लिये राष्ट्रों की एक साधारण सभा अवश्य बनानी चाहिये। अतः सन् १९२० में लीग आफ नेशन्स (League of Nations) की स्थापना हुई।

लीग के सदस्य--आरम्भ में वारसाई (Versailles) के संधि-पत्रपर हस्ताक्षर करने वाले ही लोग लीग के सदस्य थे। यदि कोई राष्ट्र इस बात का वचन देता था कि वह अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्यों का पालन करेगा और वायु , जल तथा स्थल सेना सम्बन्धी लीग के आदेशों का पालन करेगा, तो वह ऐसेम्बली के **दो** तिहाई मत से सदस्य बनाया जा सकता था। यदि कोई राष्ट्र लीग को छोड़ना चाहे तो छोड़ सकता था। आरम्भ में केवल २४ राष्ट्र लीग के सदस्य थे। बाद में उनकी संख्या ६० तक पहुंच गई थी। अमरीका लीग का सदस्य न था।

लीग का कार्य-क्रम–लीग का कार्य-क्रम चलाने के लिये निम्नलिखित संस्थाएं थीं:–

(१) व्यवस्थापिका सभा (Assembly)
(२) परिषद् (Council)
(३) सचिवालय (Secretariat)
(४) स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (Permanent Court of International Justice)
(५) अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ (International Labour Organization)

(१) **लीग व्यवस्थापिक सभा** (League Assembly)–इस सभा के सदस्यों की संख्या इस प्रकार निश्चित की जाती थी कि प्रत्येक सदस्य राज्य को तीन सदस्य भेजने का अधिकार था । प्रत्येक राज्य की कार्यकारिणी इन सदस्यों को भेजती थी । ये तीनों सदस्य केवल एक सम्मिलित मत दे सकते थे। अर्थात् प्रत्येक राज्य केवल एक मत (Vote) दे सकते थे । लीग की व्यवस्थापिका सभा में सब सदस्य राज्यों को समान अधिकार प्राप्त थे। वहां **छोटे** बड़े राज्यों का कोई विचार नहीं किया जाता था। इस सभा के सदस्य अपने अपने राज्य के शासन का प्रतिनिधित्व करते थे। वे जनता के प्रतिनिधि न थे । कभी-कभी राज्यों के मंत्री तथा प्रधानमंत्री भी इस सभा में सम्मिलित होते थे। यह सभा स्वयं ही अपना सभापति चुनती थी। लीग के उद्देश्य के अन्तर्गत जितने कर्तव्य आ सकते थे उन सब पर यह सभा विचार कर सकती थी। इस सभा की बैठक सितम्बर मास के प्रथम सोमवार को जेनेवा (Geneva) में हुआ करती थी । सदस्यों के बहुमत से सभा का कोई भी सदस्य इस सभा की बैठक करा सकता था। केवल फ्रेंच

तथा अंग्रेजी भाषाओं का ही प्रयोग इस सभा में किया जाता था। लीग का कार्य विशेषकर उप-सभाओं द्वारा किया जाता था। अतः सकी छः उप-सभाएं थीं। इन उप-सभाओं द्वारा निश्चित प्रस्तावों पर संपूर्ण सभा में वाद-विवाद करके उनपर अन्तिम निर्णय दिया जाता था। स सभा की कार्य सूची सभापति के परामर्श से महामंत्री (Secretary General) बनाता था। इस कार्य सूची में पहले से ही वह इन लिख लिये जाते थे जिनपर सभा, परिषद् अथवा कोई सभासद विचार कराना अथवा पूछना चाहते थे।

व्यवस्थापिका सभा का कार्य—यह सभा दो-तिहाई बहुमतानुसार नये सदस्य बना सकती थी। बहुमत से यह सभा प्रतिवर्ष परिषद के स्थायी नौ सदस्यों में से तीन को चुना करती थी। यह सभा परिषद के साथ मिलकर स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के १५ न्ययाधीशों तथा चार सहायक न्यायाधीशों को बहुमतद्वारा चुना करती थी। यह सभा परिषद द्वारा मनोनीत किये हुए महामंत्री का बहुमत द्वारा अनुमोदन करती थी। धारा ३ के अनुसार यह सभा संसार में शान्ति स्थापित करने के लिये किसी भी कार्य पर विचार कर सकती थी। ारा ११ के अनुसार लीग के प्रत्येक सदस्य का यह कर्तव्य था कि संसार की शांति भंग करनेवाली बातों की लीग को सूचना दे।

व्यवस्थापिका सभा के सदस्य अपने अपने राज्यों के शासनों ारा भेजे हुए सदस्य होते थे अतः उनका निर्णय स्वतंत्र नहीं होता था। वे अपने अपने राज्य के शासनों के विचार प्रकट करते थे और उन्हीं का प्रतिनिधित्व करते थे। यह सभा अन्तर्राष्ट्रीय वि यों पर विचार तथा वादविवाद करती थी और उनपर पूर्णरूप से प्रकाश डाला जाता था।

(२) परिषद् (Council)—लीग के परिषद में तीन प्रकार के सदस्य होते थे—स्थाई, अस्थाई और विशेष।

स्थायी सदस्य—अर्थात् वे मित्र राष्ट्र जिन्होंने प्रथम महायुद्ध में विजय प्राप्त की थी वे इस लीग के स्थायी सदस्य थे। ये सदस्य ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान थे। संयुक्त राज्य (अमेरिका) के लिये भी लीग में एक स्थायी स्थान रखा गया था परन्तु वहां की जनता अपने देश को लीग में सम्मिलित करना नहीं चाहती थी अतः अमेरिका का संयुक्त राज्य लीग का सदस्य न बन सका। जर्मनीको भी सन् १९२६ में लीग की स्थायी सदस्यता प्राप्त हुई परन्तु अन्त में उसने भी लीग

को छोड़ दिया। स्थायी सदस्य ४ थे। व्यवस्थापिका सभा द्वारा इनकी संख्या न्यूनाधिक की जा सकती थी। कुछ काल पश्चात् इनकी संख्या ९ हो गई थी। इन सदस्यों को व्यवस्थापिका सभा चुनती थी अतः ये उसकी इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य नहीं कर सकते थे। वर्ष में चार-बार परिषद की बैठक होती थी और आवश्यकतानुसार अधिक हो सकती थीं। परिषद का कोई एक सदस्य बैठक करने की प्रार्थना कर सकता था और जो परिषद के सदस्य नहीं थे ऐसे ३ सदस्य उसकी बैठक करा सकते परिषद के सभापति तथा उप-सभापति का चुनाव बहुमतद्वारा प्रतिवर्ष हुआ करता था और परिषद के सदस्य ही उनको चुना करते थे। अग्रिम वर्ष के लिये इनका पुनः निर्वाचन नहीं हो सकता था। परिषद का अ कार व्यवस्थापिका सभा के समान था। लीग संबंधी किसी भी कार्य पर परि द विचार कर सकता था। यह अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निर्णय करता था। धारा ३ के अनुसार यदि लीग के सदस्य राज्यों में झगड़ा होने पर वे लीग की पंचायत तथा न्यायालय की शरण लेते थे तो उन्हें परिषद में अवश्य अपना निर्णय करना पड़ता था। जब तक वह झगड़ा व्यवस्थापिका सभा अथवा परिषद में विचाराधीन होता । तब तक वे राज्य परस्पर झगड़ा अथवा युद्ध नहीं कर सकते थे। सदस्य राज्यों की इच्छानुसार पारस्परिक संधियों द्वारा परिषद के अधिकार बढ़ाये जा सकते थे। परिषद की कार्यकारिणी (executive) शासन तथा निरीक्षण संबंधी कार्य करती थी। परिषद व्यवस्थापिका स । द्वारा पास किये हुए प्रस्तावों को कार्यान्वित करता था। व्यवस्थापिका सभा तथा परिषद के अधिकार ठीक ठीक निर्धारित नहीं किये गये थे। एक प्रकार से परिषद पर व्यवस्थापिका सभा का नियंत्रण था। व्यवस्थापिका सभा अस्थाई सदस्य बना कर परिषद में अपनी शक्ति बढ़ा सकती थी। बहुत सी बातों में परिषद और व्यवस्थापिका सभा मिल कर कार्य करते थे। पंच तथा न्यायाधीशों का चुनाव दोनों मिलकर करते थे। व्यवस्थापिका सभा अस्थाई सदस्य चुनकर 'आय-व्यय लेखा, (budget) पर च्छानुसार निर्णय करा सकती थी। परन्तु वास्तव में व्यवस्थापिका सभा का कार्य वैधानिक था अर्थात् उसका कार्य विधान बनाना था और परिषद का कार्य उन विधानों को मनवाना था। परिषद तथा सचिवालयों की सूचनाओं (Reports) पर व्यवस्थापिका सभा वाद-विवाद करती थी।

(३) **सचिवालय** (Secretariat)—लीग की स्थापना से पू ं जो अन्तर्राष्ट्रीय सभाएं हुआ करती थीं उनमें यह ोष था कि उनके साथ कोई स्थाई सचिवालय न था, अतः प्रस्ताव पास करने के पश्चात् उन सभाओं का अन्त हो जाता था। लीग की स्थापना के साथ एक स्थायी सचिवालय की स्थापना हुई। इस से लीग का अस्तित्व ढ़ हो गया। स्थायी सचिवालय हो जाने के कारण कोई भी प्रस्ताव चाहे जब उसमें भेजा जा सकता था। वास्तव में स्थायी सचिवालय पूर्ण-रूप से एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था बन गई जो प्रत्येक अन्त ष्ट्रीय कार्य पर आवश्यक कार्रवाई करने लगा। सचिवालय का सबसे बड़ा अधिकारी महासचिव (Secretary General) होता था। इसकी नियुक्ति व्यवस्थापिका सभा के बहुमत से परिषद करता था। यह अपने सहायक-सचिव तथा अन्य कार्यकर्त्ता परिषद की स्वीकृति द्वारा नियुक्त करता था। सचिवालय में ५०० कार्यकर्ता थे। सचिवालय का सम्पूर्ण-कार्य १२ भागों में विभाजित था जिनमें आर्थिक, व्यावसायिक, यातायात, निःशस्त्रीकरण, स्वास्थ्य, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, राजनैतिक आदि विभाग अधिक प्रसिद्ध हैं। राजनैतिक और अन्तर्राष्ट्रीय विभाग सहायक सचिवों के अधीन थे अन्य विभाग संचालकों (directors) के अधीन थे। सचिवों का कार्य तत्वनिचय (data) एकत्र करना था। यह परिषद तथा व्यवस्थापिका सभा के लिये कार्य सूची (agenda) भी तैयार करते थे। सभाएं कराना, उनका निर्णय लेखबद्ध करना, उनके निर्णयों की अन्य सदस्य राष्ट्रों को सूचना देना और उनकी स्वीकृति लेना और स्वीकार न करने पर उचित कार्रवाई करना, ये सब कार्य सचिव ही करते थे। ये विभिन्न भाषाओं में पत्रिकाएं भी प्रकाशित करते थे जिनमें लीग के कार्यों का संपूर्ण विवरण होता था।

(४) **स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय-न्यायालय** (Permanent Court of International Justice)—सन् १८९९ में प्रथम हेग सभा (First Hague Conference) ने एक स्थायी ंचायत की स्थापना की परन्तु वह सफल न हुई। वास्तव में यह एक न्यायाधीशों की सूची थी। सन् १९०७ में द्वितीय हेग सभा (Second Hague Conference) हुई। इस सभा ने कुछ न्यायाधीशों का एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय स्थापित किया परन्तु यह निश्चित न होने के कारण कि इसमें कितने न्यायाधीश हों और किस

प्रकार इनकी नियुक्ति हो, यह योजना भी असफल रही। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सन् १९२० में एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना की गई। इसमें ११ न्यायाधीश और ४ सहायक न्यायाधीश थे। ५ वर्ष पश्चात् न्यायाधीशों की संख्या १५ कर दी गई थी। न्यायाधीशों का कार्य काल ९ वर्ष था। छोटे बड़े सब राज्यों से न्यायाधीश चुने गये थे। यदि कोई ऐसा राज्य अपना निर्णय कराना चाहता था जिसका कोई न्यायाधीश इस न्यायालय में न होता था तो वह राज्य न्यायाधीश चुन सकता था। यह न्यायालय हेग में था। इसके अधिकार और कार्य क्षेत्र विस्तृत थे यह न्यायालय चार प्रकार के मुकदमे कर सकता था। (१) अन्त र्ष्ट्रीय संधियों का तात्पर्य समझाना, (२) अन्तर्राष्ट्रीय विधान की व्याख्या करना, (३) अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्यों का उल्लंघन करने पर क्षति-पूर्ति (reparation) निर्धारित करना और (४) किसी दशा के अस्तित्व को ऐसा निर्धारित करना कि जिसका उल्लंघन करना अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्य का उल्लंघन करना समझा जाये।

यह चारों नियम अनिवार्य नहीं थे। लीग परिषद ने एक वैकल्पिक धारा द्वारा इस विषय को ऐच्छिक कर दिया था अर्थात् जो राज्य सदस्य चाहें अपना निर्णय लीग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से करायें और जो न चाहें न करायें। लीग के सदस्यों ने इस बात को भी स्वीकार किया कि जिन विषयों का निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में न हो सकेगा उसे पंचायत से निर्णय करायें। कुछ ऐसे भी अनिवार्य विषय रखे गये जिन का निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में कराना आवश्यक था। पत्तन (बन्दगाह), जल मार्ग रेल, अस्त्र-शस , मदिरा, यातायात, वायु-संचालन आदि विषय ऐसे थे जिनके सम्बन्‍ में की हुई संधियों की व्याख्या के लि‍ अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय की आवश्यकता थी। इस न्यायालय में बहुमत द्वारा निर्णय दिया जाता था। इसके निर्णय की अपील नहीं होती थी। निर्णय करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय रूढि (international conventions), राष्ट्रों द्वारा स्थापित किये हु नियमों, अन्तर्राष्ट्रीय रीति-रिवाजों, सभ्य राष्ट्रों द्वारा माने हुए अन्तर्राष्ट्रीय विधानों तथा विभिन्न-राष्ट्रों के न्यायामर्मज्ञों द्वारा दिये हुए निर्णय का प्रयोग करता था।

(५) **अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ** (International Labour Organization)—अन्तर्राष्ट्रवाद में श्रमिकों का बड़ा महत्वपूर्ण

स्थान है। श्रम सम्बन्धी विषयों में अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं बहुत काल से कार्य कर रही हैं। सबसे प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ 'इन्टरनेशनल वर्किंग मेन्स असोसियेशन' (International Workingmen's Association) के रूप में 'साम्यवादी घोषणा पत्र' (Communist manifesto) द्वारा सन् १८६४ में स्थापित हुआ था। यह 'प्रथम अन्तर्राष्ट्र' (First International) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सन् १८७३ में इसका अन्त हो गया। सन् १८८९ में 'द्वितीय अन्तर्राष्ट्र' (Second International) की स्थापना हुई। यह प्रथम महायुद्ध तक जीवित रहा। रूस में नवीन राजनैतिक लहर के साथ 'तृतीय अन्तर्राष्ट्र' की स्थापना हुई। इन तीनों संस्थाओं ने श्रमिकों की दशा सुधारने का बड़ा प्रयत्न किया। सन् १९०६ की अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सभा (International Labour Conference) बर्न (Berne) में हुई। इस सभा में दो प्रस्तावों पर हस्ताक्षर किये गये। एक तो यह था कि जहां तक हो सके स्त्रियों से रात्रि में कलघरों में कार्य न लिया जाय। दूसरा यह था कि दियासलाई में स्वेत फास्फरस (Phosphorous) का प्रयोग न किया जाय। अनेक राष्ट्रों ने इन प्रस्तावों को माना। महायुद्ध में श्रमिकों को बड़े-बड़े प्रलोभन दिये गये और उनसे कहा गया कि "आपलोगों को स्वामिभक्ति तथा श्रेष्ठ कार्य का बदला युद्ध के पश्चात् दिया जायगा" इसी प्रतिज्ञा के अनुसार वारसाई (Versailles) की संधि में "धारा तृतीय" (Sec. III) श्रमिकों की दशा सुधारने के लिये रखी गई। यह 'द्वारा' श्रमिकों का 'महाधिकार पत्र' (Magna Carta) समझी गई। इस श्रमिक संघ का प्रधान कार्यालय जेनेवा (Geneva) में स्थापित हुआ। अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक-संघ के तीन अंग हैं।

(१) **साधारण श्रमिक सभा**-इस सभा में प्रत्येक सहयोग करने वाला राज्य चार सदस्य भेजता है जिनमें से दो राज्यों का प्रतिनिधित्व करते है, एक पूंजीपतियों का और एक श्रमिकों का। इन सदस्यों को सदस्य राज्यों की सरकार चुन कर भेजती है। परन्तु सरकार इनको औद्योगिक संगठनों के परामर्श से चुना करती है। इन प्रतिनिधियों को व्यक्तिगत मत देने का अधिकार है। जो राज्य लीग के सदस्य नहीं हैं वे भी इस सभा में अपने प्रतिनिधि भेजते हैं। व्यक्तिगत मत देने से इन

प्रतिनिधियों को यह लाभ है कि पूंजीपतियों के प्रतिनिधियों के विरुद्ध अपना मत दे सकते हैं। दो तिहाई के बहुमत से इस सभा में निर्णय किया जाता है। इस सभा के निर्णय को कार्यान्वित करने से पूर्व वहां के राज्य की स्वीकृति लेनी आवश्यक होती है। स्वीकृति के पश्चात् यह निर्णय विधान के समान समझा जाता है। परन्तु वास्तव में राज्यों ने इसको कोई विशेष महत्व नहीं दिया है।

(२) **शासक-परिषद** (Governing Body)--इस परिषद में २४ सदस्य हैं १२ सरकार द्वारा, ६ नियोजकों (मालिकों) द्वारा और ६ श्रमिकों द्वारा भेजे जाते हैं । इनका कार्य-काल ३ वर्ष है। बारह सरकार द्वारा भेजे हुए प्रतिनिधियों में से आठ संसार के प्रसिद्ध औद्योगिक देशों के प्रतिनिधि होते हैं। ये प्रतिनिधि फ्रांस, बेल्जियम जर्मनी, इटली, जापान, कैनैडा, भारतवर्ष और ग्रेटब्रिटेन, इन आठ देशों के हैं अन्य चार सदस्यों को परिषद स्वयं चुनता है। पूंजीपति और श्रमिक अपने अपने प्रतिनिधि चुनते है। इस परिषद की बैठकें वर्ष में ४ बार होती हैं । यह परिषद अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ का एक संचालक नियुक्त करता है और अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक कार्यालय के कार्य का निरीक्षण करता है।

(३) **अन्तर्राष्ट्रीय-कार्यालय** (International Labour Office)--इस कार्यालय का एक संचालक होता था जिसको परिषद चुनता है। इस कार्यालय में ३५० विशेषज्ञ होते हैं जो श्रम सबंधी सब विषयों की जानकारी रखते है। ये विशेषज्ञ संचालक द्वारा नियुक्त किये जाते है। आर० ऐल० ब्यूअल (R. L. Buell) ने इस कार्य-के विषय में अपनी "इन्टर नेशनल रिलेशन्स" नामक पुस्तक में यह विचार प्रकट किये हैं कि "यह सचिवालय अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्बन्धी सूचनाएं एकत्र करके भिन्न-भिन्न प्रकार से उनका प्रकाशन करता है, वार्षिक सभाओं के लिये कार्य सूची बनाता है, भिन्न-भिन्न राष्ट्रों से श्रमिक संबंधी संधियों को मनवाता है और उनके शासन का निरीक्षण करता है।" वास्तव में यह कार्यालय अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ का सचिवालय है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ ने संसार में श्रमिकों के कल्याण के लिये बड़े-बड़े कार्य किये हैं। यह संस्था अब भी स्थापित है। समय-समय पर यह संस्था अब भी श्रमिकों के हित के लिये कार्य करती रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ संसार में सबसे शक्तिशाली और दृढ़ संगठन है।

इतना शक्तिशाली और दृढ़ संगठन संसार में कोई और नहीं है। श्रमिकों के हित संबं ी जो कार्य इस संघ ने किये हैं उनमें से यह भी हैं कि श्रमिकों से ८ घंटे से अधिक कार्य न लिया जाय। सप्ताह में ४८ घंटे से अधिक कार्य न लिया जाय। १४ वर्ष की आयु से कम के बालकों के लिये श्रम वर्जित है। भारतवर्ष में १४ वर्ष से कम आयुवाले बालक कोयले की खानों और कारखानों में कार्य नहीं कर सकते। अनेक देशों ने इन बातों को अपने अपने विधानों में सम्मिलित कर लिया है।

अन्य बातों में लीग को सफलता प्राप्त न हुई। वह जर्मनी से ऋण न चुकवा सकी, इटली का अबीसीनिया पर और जापान का मंचूरिया पर अत्याचार न रोक सकी। परिणाम यह हुआ कि सन् १९३९ में द्वितीय महा-युद्ध आरम्भ हो गया। लीग उसे भी न रोक सकी। द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होते ही लीग का भी अन्त हो गया। लीग ने इन कार्यों के अतिरिक्त अन्य अनेक अन्तर्राष्ट्रीय कार्य भी किये। उसने संसार के देशों के अल्प-संख्यकों की रक्षा करने के लिये बहुत से विधान बनवाये जिनम अल्प संख्यकों को उनकी संख्या के अनुपात के अनुसार शासन में भाग मिला। लीग ने अनेक सामाजिक, शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग तथा अथ संबंधी सुधार किये। भीषण बीमारियों के रोकने तथा ज्ञान विज्ञान का प्रसार करने का भी उसने बड़ा प्रयत्न किया। जहां जहां दासता की प्रथा प्रचलित थी उसको भी मिटाने का प्रयत्न किया। स्त्री तथा बच्चों के क्रय-विक्रय की प्रथा को भी संसार से मिटाने का बड़ा प्रयत्न किया। उसने शिशु-रक्षा तथा शिशु-कल्याण संबंधी कार्य किये। औषधि संबं ी अनेक नियम बना कर अफीम तथा अन्य हानिकारक वस्तुओं के क्रय-विक्रय पर रोक लगाई।

संयुक्त राष्ट्र संघ (United Nations Organization)—जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने पर लीग का अन्त हो गया और इस महायुद्ध में संसार के लगभग सभी देशों ने भाग लिया। अन्तमें सन् १९४५ में महायुद्ध का अन्त हुआ परन्तु इस महायुद्ध के समाप्त होने से पूर्व मि राष्ट्रोंने पुनः एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न के फलस्वरूप संयुक्त सं की स्थापना की गई। पचास राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने जिन के निवासियों की संख्या १ अरब ७० करोड़ थी, २६ जून १९४५ को सान फ्रांसिस्को में एक होकर यह निश्चय किया कि अपनी शक्ति को

संगठित करके एक नवीन विश्व-व्यापी संस्था बनाई जाय। उस दिन सब प्रतिनिधियों ने एक अधिकार पत्र (Charter) पर हस्ताक्षर किये जिसके अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ स्थापित हुआ।

संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य---अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना जनता के समान अधिकारों और आत्म निर्णय के आधार पर राष्ट्रों में मैत्रीपूर्ण संबंध बढ़ाना शान्ति व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिये अन्य उपाय करना, अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा मानवीय समस्याओं को सुलझाने में सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से मानव अधिकारों तथा जाति भाषा, धर्म अथवा स्त्री-पुरुषों के भेदभाव से रहित सब के मूल अधिकारों के प्रति सम्मान उत्पन्न करना और उन उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु राष्ट्रों के कार्य में सामंजस्य स्थापित करने के लिये एक केन्द्र रूपसे कार्य करना।

संयुक्त राष्ट्र के आधारभूत सिद्धान्त--चार्टर की धारा में उन सिद्धान्तों का उल्लेख है जिनके अनुसार यह अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और इसके सदस्य कार्य करेंगे। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं--

(१) राष्ट्र सदस्य सार्वभौम-शक्ति सम्पन्न और समान हैं।

(२) सब राष्ट्र चार्टर के अनुसार अपने कर्तव्यों का सद्भावना से पालन करने के लिये वचन बद्ध हैं।

(३) सब राष्ट्र अपने झगड़ों का शान्ति पूर्ण ढंग से इस प्रकार निर्णय करने के लिये वचनबद्ध हैं, जिससे किसी प्रकार शान्ति, सुरक्षा और न्याय के भंग होने का भय न हो।

(४) अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में कोई राष्ट्र सदस्य किसी प्रदेश अथवा किसी देश की राजनैतिक स्वतंत्रता के विरुद्ध न शक्ति का प्रयोग करेगा और न उसकी धमकी देगा और न ऐसा आचरण करेगा जो संयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यों के विपरीत होगा।

(५) जो चार्टर के अनुसार संयुक्त राष्ट्र कोई कार्रवाई करेगा तो सब राष्ट्र सदस्य उसे उस प्रकारकी सहायता देने के लिये वचन ब हैं और वे किसी ऐसे देश को सहायता नहीं देंगे जिसके विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र शान्ति और सुरक्षा के लिये कोई कार्रवाई कर रहा हो।

(६) शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिये जहां तक आवश्यक होगा, यह संस्था व्यवस्था करेगी कि जो देश सदस्य नहीं हैं वे भी चार्टर के सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करेंगे।

(७) शान्ति रक्षा के लिये जब तक आवश्यक न होगा संयुक्त राष्ट्र उन विषयों में हस्तक्षेप न करेगा जो किसी देश के आन्तरिक-कार्य क्षेत्र में आते हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य–इस सं के मूल सदस्य वे राष्ट्र हैं जिन्होंने संयुक्त राष्ट्र सभा (United Nations Conference) में, जो सान फ्रांसिस्को में हुई थी, ाग लिया था या जिन्होंने पीछे चार्टर पर हस्ताक्षर किये और उसको स्वीकार किया था। राष्ट्र संघ का कोई भी राष्ट्र सदस्य हो सकता है जो शान्ति में विश्वास करता हो ौर जो चार्टर के सिद्धान्तों से सहमत हो और उसके अनुसार कार्य करने को उद्यत हो। न ीन सदस्यों को सुरक्षा-समिति की अ स्तुति (सिफारिश) पर सा ारण सभा भरती करेगी। जो सदस्य चार्टर के सिद्धान्तों के विरुद्ध आचरण करेगा वह सुरक्षा समिति (Security Council) की अ स्तुति पर साधारण सभा के निर्णय से सं से निकाला जा सकता है। अब तक ५७ राष्ट्र इस संस्था के सदस्य बन चुके हैं।

यह अन्तर्राष्ट्रीय संघ ्तर्राष्ट्रीय संसद (Parliament) नहीं है जिसमें संसार की जनता का प्रतिनिधित्व हो। इसकी सदस्यता के लिये राष्ट्र ही इकाई है। राष्ट्र की सार्वभौमिकता पू रूप से मान्य कर ली गई है। संघ किसी राष्ट्र की जनता से सीधा संबंध स्थापित नहीं करता। रा अब भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वतंत्र और सर्व शक्ति सम्पन्न हैं। 'लीग आफ ेशन्स' (League of Nations) के समय से अभी तक राष्ट्र की इस सार्व-भौमिक भावना में कोई अन्तर नहीं आ है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज में विश्व-रा अथवा विश्व सरकार जैसी कल्पना अभी कार्य प में परिणत होने में और समय लेगी। जब राष्ट्र सर्व-शक्ति सम्पन्न ौर सार्व-भौमिक मान लिया गया है तो रा पर केवल नैतिक तिबन्ध ही है जिसके कारण वह सं की आज्ञा का पालन करें। संघ की आज्ञाएं किसी रा की जनता पर बिना राष्ट्र की इच्छा के लागू नहीं हो सकती और राष्ट्र का ोई वैधानिक कर्तव्य नहीं हैं कि वह सं के आदर्शों का पालन करे। ंघ के आदेश राष्ट्र के हित में कहां तक साधक हैं और उनका पालन करना चाहते हैं या नहीं, इसके निर्णय कर की स्वतं ता राष्ट्र की सरकार को । केवल प्रतिबन्ध यही है कि यदि कोई रा चार्टर के सिद्धान्तों के विरुद्ध

कार्य करेगा तो वह संघ से निकाल दिया जायेगा। यह प्रतिबन्ध इतना पर्याप्त नहीं जो प्रत्येक राष्ट्र को संघ के हितों की रक्षा के लिये अपने स्वार्थ का त्याग करने पर बाध्य कर सके। यही संघ की ।स्थरता तथा उसके सफल होने में एक बड़ी भारी त्रुटि है जिसके कारण यह संघ लीग के समान ही सि होगा।

संयुक्त राष्ट्र संघ का निर्माण तथा उसके अंग— युक्त राष्ट्र घ का कार्य क्षेत्र बड़ा विस्तृत है अतः उसकी व्यवस्था विभिन्न विभा ों के रूप में है। चार्टर ने इन विभागों के लिये एक-एक समिति बनाई ।

(१) साधारण सभा (General Assembly)
(२) सुरक्षा परिषद (Security Council)
(३) आर्थिक और सामाजिक परिषद (Social and Economic Council)
(४) संरक्षण परिषद (Trusteeship Council)
(५) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice)
(६) सचिवालय (Secretariat)

(१) **साधारण सभा**—साधारण सभा संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रमुख विचारक विभाग है। राष्ट्र में जो स्थान संसद (Parliament) को है वही रूप इसका है। इसके सदस्य राष्ट्र-संघ के सदस्य राष्ट्रों के प्रतिनिधि होते हैं। यद्यपि प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र इस सभा के अधिवेशनों में ५ प्रतिनि तक भेज सकता है परन्तु प्रत्येक राष्ट्र को केवल एक मत देने का अधिकार है। साधारण विषयों में प्रायः सभा का निर्णय उपस्थित सदस्यों के बहुमत से लिया जाता है और महत्वपूर्ण विषयों के लिये दो-तिहाई मतों की आवश्यकता ोती है। ये निर्णय संयुक्त राष्ट्र संघ के दूसरे विभागों तथा राष्ट्र सदस्यों के पास अभिस्तुति (Recommendations) के रूप में भेजे जाते हैं। सभा का अधिवेशन वर्ष में एकबार ोता है। और सभा चार्टर में दिये अथवा उसके उद्देश्य के अन्तर्गत संपूर्ण विषयों पर विचार कर सकती है। संघ के अन्य विभागों के अधिकार और कर्तव्यों पर विचार करने का स सभा को अधिकार है। राजनैतिक, सामाजिक आर्थिक, सांस्कृतिक, और शिक्षा तथा स्वास्थ्य संबंधी विषयों पर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाने के लिये यह सभा स्वयं कार्यारम्भ कर सकती है अथवा

संघ के अन्य विभागों तथा राष्ट्र सदस्यों के पास अपनी अभिस्तुति भेज सकती है। सुरक्षा-परिषद के विचाराधीन विषय या विवाद पर साधारण सभा बहस तो कर सकती है परन्तु अपना मत वह उस समय तक नहीं प्रकट कर सकती जब तक कि उसकी मांग परिषद न करे। दूसरे विभागों के कार्यों और कर्तव्यों पर विचार करने का अधिकार प्राप्त होने के कारण साधारण सभाका संयुक्त राष्ट्रों में महत्वपूर्ण स्थान है। सुरक्षा-परिषद सहित संघ के सभी अंग अपनी वार्षिक रिपोर्ट साधारण सभाको देते हैं। सभा इन रिपोर्टों पर विचार करती है। सुरक्षा परिषद के ६ अस्थायी सदस्यों, आर्थिक और सामाजिक परिषद के १८ सदस्यों और संरक्षण-परिषद के आवश्यक सदस्यों का निर्वाचन साधारण सभा करती है। सुरक्षा परिषद और साधारण सभा पृथक-पृथक मत निर्णय करके अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों को चुनती हैं। सुरक्षा-परिषद की अभिस्तुति पर सभा नवीन सदस्यों को ग्रहण करती है और प्रधान सचिव (Secretary General) को नियुक्त करती है, जो सचिवालय (Secretariat) का प्रबन्ध करता है। संयुक्त राष्ट्र संघ का आर्थिक नियंत्रण साधारण सभा के हाथ में है। वह बजट स्वीकार करती है और सदस्य राष्ट्रों में संघ के व्यय को बांटती है संयुक्त राष्ट्र संघ का व्यय सदस्य राष्ट्रों के चंदे से चलता है।

(२) **सुरक्षा परिषद**—इस परिषद में ११ सदस्य होते हैं जिनमें ५ स्थायी सदस्य हैं। चीन, फ्रांस, रूस, ब्रिटेन और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका परिषद के स्थायी सदस्य हैं। अस्थायी सदस्य दो वर्ष के लिये सा ारण सभा द्वारा चुने जाते हैं। उनका तुरन्त ही पुनः निर्वाचन नहीं हो सकता। सुरक्षा परिषद के प्रत्येक सदस्य का एकमत होता है। परिषद का सभापति के महीने के लिये परिषद अपने सदस्यों में से चुनता है। कार्य प्रणाली सम्बन्धी विषयों का निर्णय ११ सदस्यों में से ७ सदस्यों के बहुमत से हो सकता है। दूसरे विषयों के सम्बन्ध में भी निर्णय के लिये ७ मतों की ही आवश्यकता होती है लेकिन इन सातों में ५ स्थाई सदस्यों की सहमति से निर्णय हो सकता है। इनमें से यदि कोई सदस्य अपना मत न दे या वह मत लेते समय अनुपस्थित हो जाय तो प्रस्ताव गिर जाता है। सुरक्षा-परिषद किसी भी ऐसे वाद-विवाद अथवा स्थिति की जांच कर सकता है जिससे दो या अधिक देशों के बीच आपसी संघर्ष बढ़ने की सम्भावना हो। ऐसे वाद-विवाद या स्थिति

की सूचना परिषद को इसके सदस्य, सदस्य-राष्ट्र, साधारण सभा अथवा प्रधान सचिव दे सकते हैं और कुछ दशाओं में वे राष्ट्र भी दे सकते हैं, जो संयुक्त राष्ट्र के सदस्य नहीं हैं। इस परिषद का कार्य शान्ति स्थापित रखना है। जब शान्ति भंग होने की आशंका हो अथवा शान्ति भंग हो गई हो अथवा जब आक्रमण हुआ हो तो सुरक्षा परिषद सुरक्षा और शान्ति की पुनः स्थापना के लिये आवश्यक कार्रवाई कर सकता है। इसके अन्तर्गत यातायात, आर्थिक और कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद किया जा सकता है और यदि आवश्यकता हो, तो वायु, जल, तथा स्थल सेनाओं का प्रयोग भी किया जा सकता है। सुरक्षा-परिषद की मांग पर और विशेष समझौतों के अनुसार संयुक्त राष्ट्र के सब सदस्य शान्ति व सुरक्षा स्थापित रखने के लिये सैन्य बल तथा अन्य आवश्यक सुविधाएं देने के लिये चार्टर द्वारा वचन-बद्ध हैं। सुरक्षा-परिषद के अधीन एक सैन्य दल समिति (Military Staff Committee) है, जिसमें ५ स्थाई सदस्यों के चीफ आफ स्टाफ या उनके प्रतिनिधि रहते हैं। यह परिषद को सैनिक विषयों के सम्बन्ध में परामर्श और सहायता दे हैं। सधारण सभा ने जनवरी सन् १९४६ में अणु-शक्ति समिति (Atomic Energy Commission) स्थापित की थी जो सुरक्षा परिषद के निर्देशों के अनुसार कार्य करती है। फरवरी सन् १९४७ में सुरक्षा-परिषद ने शस्त्रीकरण (conventional armament) के सम्बन्‍ में भी एक कमीशन की स्थापना की थी।

(३) **आर्थिक और सामाजिक परिषद्**—यह परिषद अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ, समाज, संस्कृति, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि विषयों तथा मानव अधिकारों, और मूल स्वतंत्रता का अध्ययन करती है और इन पर अपनी रिपोर्ट और सिफारिशें प्रस्तुत करता है। जब आवश्यकता होती है, यह परिषद अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों को भी बुलाता है। साधारण सभा की अनुमति से यह अपने अधिकार क्षेत्र में सदस्य–राष्ट्रों के लिये सेवा-कार्य की व्यवस्था भी करता है। इस परिषद के १८ सदस्यों का निर्वाचन साधारण सभा द्वारा किया जाता है और कार्य के अनुसार समय-समय पर इसके अधिवेशन बुलाये जा सकते हैं। परिषद में निर्णय उपस्थित सदस्यों के बहुमत से होते हैं। संयुक्त राष्ट्र की स्थापना से पूर्व विशेष समस्या संबंधी कई अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं कार्य कर रही थीं। इनमें से एक अन्तर्राष्ट्रीय

श्रम-संघ है जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है और दूसरी संयुक्त राष्ट्रीय खाद्य और कृषि संस्था है जिसकी स्थापना द्वितीय महायुद्ध के पश्चात हुई थी। आर्थिक और सामाजिक परिषद का एक महत्वपूर्ण कार्य यह भी है कि इन विशेष संस्थाओं का संबंध संयुक्त राष्ट्र से स्थापित किया जाय और नके कार्यों में समीकरण उत्पन्न किया जाय।

(४) **संरक्षण परिषद्**–जो देश अभी तक स्वाधीन नहीं हुए हैं और जो सदस्य राष्ट्र इन शों का शासन प्रबन्ध करते वे इन प्रदेशों के संबंध में कुछ विशेष कर्तव्य स्वीकार करते हैं। वे कर्तव्य हैं–राजनैतिक आर्थिक, सामाजिक और शिक्षण-प्रगति के लिये व्यवस्था करना, दुराचारिता को दूर करना, अच्छा व्यवहार करना, स्वायत्त शासन का विकास करना आदि। जो राष्ट्र सदस्य गैर स्वाधीन प्रदेशों का शासन प्रबन्ध करते हैं वे प्रधान सचिव को इन प्रदेशों की स्थिति के संबंध में रिपोर्ट देंगे। ये रिपोर्टें साधारण सभा तथा अन्य विभागों के सामने विचारार्थ प्रस्तुत की जाती हैं ताकि संसार को इन प्रदेशों की प्रगति के सम्बन्ध पूर्ण जानकारी प्राप्त होती रहे। ऐसे प्रदेशों के निरीक्षण और शासन प्रबन्ध के लिये संरक्षण परिषद् बनाया गया है। संरक्षण परिषद अपना कार्य साधारण सभा की अधीनता में करता है । सामयिक प्रदेशों के संबंध में सुरक्षा परिषद् राजनैतिक आर्थिक, सामाजिक और शिक्षण विषयों पर संरक्षण परिषद की सहायता प्राप्त करता है। संरक्षण परिषद में ।

१–वे राष्ट्र सदस्य हैं जो शासित प्रदेशों का प्रबन्ध करते हैं,

२–सुरक्षा परिषद के वे स्थाई सदस्य है जो संरक्षित प्रदेशों का शासन प्रबन्ध नहीं करते, और

३–इतने निर्वाचित सदस्य हैं जिनसे शासनादिष्ट राष्ट्रों और अशासनादिष्ट राष्ट्रों की संख्या में समानता रहे। ये सदस्य ३ वर्ष के लिये साधारण सभा द्वारा चुने जाते हैं।

(५) **अन्तर्राष्ट्रीय न्यायलय**–अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय संयुक्त राष्ट्र का प्रधान न्यायालय है जिसका कार्य-स्थान हालैन्ड स्थित हेग नगर में है। इस न्यायालय के १५ न्यायाधीश सुरक्षा परिषद और साधारण सभा द्वारा पृथक-पृथक रूप से निर्वाचित किये जाते हैं। न्यायालय का कार्य विधान द्वारा संचालित होता है, जो संयुक्त राष्ट्र के चार्टर का एक अंग है। अतः संयुक्त राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र की पहुंच इस न्यायालय तक है।

प्रत्येक सदस्य राष्ट्र यदि वह वादी अथवा प्रतिवादी है तो न्यायालय के निर्णय को मानने के लिये वचन-बद्ध है। चार्टर तथा प्रचलित संधियों के अनुसार अथवा अन्तर्राष्ट्रीय प्रथाओं ने जिन विषयों की व्यवस्था की है, उनके संबंध में भी मुकदमे इस न्यायालय के अधिकार क्षेत्र में आते हैं। वैधानिक झगड़ों का निर्णय करने के अतिरिक्त न्यायालय का एक महत्वपूर्ण कार्य उन वैधानिक विषयों के संबंध में परामर्श देना है जिनके संबंध में साधारण सभा, सुरक्षा परिषद तथा अन्य विभाग और विशेष संस्थाएं, जिनको साधारण सभा द्वारा अनुमति प्राप्त हो चुकी वैधानिक मत जानना चाहें।

(६) **सचिवालय**–संयुक्त राष्ट्र का विशाल प्रबन्ध कार्य सचिवालय द्वारा दिन प्रति-दिन संचलित होता है। इसका कार्य दूसरे विभागों द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार कार्य-क्रम की व्यवस्था करना है। स का प्रमुख कर्मचारी प्रधान सचिव (Secretary General) है, जिसे सुरक्षा-परिषद की सिफारिश पर सधारण सभा नियुक्त करती है। फरवरी १९४६ में नार्वे के तात्कालिक वैदेशिक मंत्री, ट्रिगवीली को प्रधान सचिव की पदवी पर ५ वर्ष के लिये नियुक्त किया गया था। सचिवालय का कार्य आठ भागों में विभक्त है। ये क्रमशः सुरक्षा परिषद, आर्थिक, समाजिक, संरक्षण तथा देशों की जानकारी, विधान, सार्वजनिक जानकारी, सम्मेलन तथा सामान्य सेवायें और प्रबन्ध तथा अर्थ विषयक कार्यों से संबंध रखते हैं। सचिवालय के कर्तव्य पूर्ण-रूप से अन्तर्राष्ट्रीय हैं। सचिवालय का प्रत्येक सदस्य, चाहे वह किसी भी राष्ट्र का हो, अन्तर्राष्ट्रीय कर्मचारी है। वह संसार की सेवा करता है और इस प्रकार अपने देश का सबसे अधिक हित साधन करता है।

आधुनिक काल में संसार के सब देशों की दृष्टि संयुक्त राष्ट्र की ओर लगी हुई है और आशा की जाती है कि यह संस्था अन्तर्राष्ट्रीय पारस्परिक झगड़ों का निर्णय करने का पूर्ण प्रयत्न करेगी और विश्व में शान्ति स्थापित करने वाली एक शांन्ति–संस्था बन जायगी।

आलोचना–जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है आधुनिक काल में सार्वभौम नागरिता के विचारों का प्रसार अधिकाधिक होता जा रहा है। अब से सहस्त्रों वर्ष पूर्व भारतवर्ष में वैदिक काल में मानव समाज में सार्व-भौमिकता के विचार विद्यमान थे। मनुष्य अपने को एक ग्राम अथवा नगर का ही निवासी नहीं समझता था, वह अपने आपको

सार्वदेशिक संगठन की एक इकाई समझता था। वैदिक काल में भारत वासियों के विचारों का पता निम्न श्लोक से चलता है—

अयं निजःपरोवेति गणना लघुचेतसाम्।
उदार चरितानान्तु बसुधैव कुटुम्बकम॥

अर्थात्—"यह मेरा है और यह दूसरे का है" ऐसा विचार तो क्षुद्र और संकुचित विचार वाले लोगों का होता है। उदार पुरुषों के लिये तो संपूर्ण संसार ही एक कुटुम्ब के समान है।

इस संसार में जब तक इस प्रकार के विचारों का प्रसार न होगा तब तक मानव समाज के कल्याण की आशा नहीं की जा सकती है। ज्यों-ज्यों विज्ञान तथा कलाकौशल की उन्नति होगी त्यों-त्यों यातायात तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क के साधन अधिकाधिक बढ़ते जायेंगे। इस प्रकार के संधानों की वृद्धि के कारण स्वाभाविकतया मनुष्य का अन्य देशों के मनुष्यों से घनिष्ट संबंध होता जायगा। इसका परिणाम यह होगा कि संसार की जातियों की पारस्परिक निर्भरता बढ़ती जायगी और एक दूसरे के सहयोग की आवश्यकता अनिवार्य हो जायगी। मानव समाज सार्व-भौमिकता की ओर बढ़ा चला जा रहा है। विश्व बन्धुता के भावों में वृद्धि होती जा रही है और वह समय निकट है जब प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को एक विश्व-व्यापी संगठन का आवश्यक अंग समझेगा। अतः यह आवश्यक है कि मनुष्य समाज में पारस्परिक प्रेम का संचार किया जाय। दो महायुद्धों के अनुभव ने यह प्रकट कर दिया है कि युद्ध संसार में मानव समाज की उन्नति में बाधक होता ह। युद्ध-चित्तवृत्ति के कारण अनेक प्रकार के घातक तथा संहार करने वाले अस्त्र-शस्त्र तथा वस्तुओं का आविष्कार हो चुका है और दिन-प्रति-दिन इसी चित्त-वृत्ति के कारण मनुष्यों के हृदयों में शान्ति का अभाव हो रहा है। आणविक शक्ति का अनुचित प्रयोग करके प्रलयकारी अणु-बम (Atom bomb) का आविष्कार किया गया है और इसी प्रकार के अन्य पदार्थों के अविष्कार में संसार के सभ्य कहलाने वाले राष्ट्र अब भी संलग्न है। जब तक इस प्रकार की मनोवृत्ति में परिवर्तन न होगा, संसार का कल्याण होना असंभव है। विश्व में शान्ति स्थापित करने के लिये इस प्रकार की आणविक शक्ति का प्रयोग मानव-समाज की उन्नति के लिये करना चाहिये। महात्मा गांधी के दिखाये हुए मार्ग पर चलना चाहिये और सत्य और अहिंसा को आदर्श बना कर

प्रत्येक कार्य करना चाहिये। ऐसा करने से मानव समाज की आत्मिक तथा अध्यात्मिक उन्नति होगी और विश्व में शान्ति-स्थापित होगी।

विशेष अध्ययन के लिये देखिये:–

ऐच० जे० लैस्की — ग्रामर आफ पॉलिटिक्स

ऐच० ए० गिबन्स — वर्ल्ड पॉलिटिक्स

आर० ऐल० ब्युअल — इन्टरनेशनल रिलेशन्स

पी० टी० मून० — सिलैबस आन इन्टरनेशनल रिलेशन्स

ऐल० ऐस० वुल्फ — इन्टरनेशनल गवर्नमैन्ट

ए० टायन बी० — सरवे आफ इन्टरनेशनल रिलेशन्स

ऐफ० ऐल० शूमैन — इन्टरनेशनल रिलेशन्स

रैमजेम्नूर — नेशनलिज्म ऐन्ड इन्टरनेशनलिज्म

अध्याय २२

साम्राज्यवाद (IMPERIALISM)

समाज विज्ञान के कोष (Encyclopædia of Social Sciences) में साम्राज्यवाद का अर्थ इस प्रकार दिया आ है "साम्राज्यवाद एक ऐसी नीति है जिसका उद्देश्य एक साम्राज्य उत्पन्न तथा संगठित करना और उसे स्थापित रखना है, अर्थात् एकल तथा केन्द्रीयकृत इच्छा के अधीन न्यूनाधिक विभिन्न जातीय काइयों को संघटित किया हुआ एक बड़ा विस्तृत राज्य * । अतः साम्राज्यवाद के तीन विशिष्ट लक्षण थे, एक विस्तृत राज्य, दूसरा जातीय विभिन्नता और तीसरा शासन की केन्द्रीयता। ब्रिटिश साम्राज्य में एकल शासनीय केन्द्रीय के अतिरिक्त अन्य दोनों लक्षण विद्यमान हैं।

कुछ विद्वानों का कथन है कि साम्राज्यवाद एक दूषित संगठन है जो विजयी जातियों ने विजय की हुई जातियों का शोषण करने के लिये स्थापित किया है। साम्राज्यवाद के विरोधियों का कथन है कि शक्तिशाली जातियां अपने आपको सभ्य जातियां घोषित करके निर्बल जातियों को विजय करके उनपर अपना शासन स्थापित कर लेती हैं और उनका आर्थिक शोषण करती हैं। शासक जातियां शासितों पर अपने स्वार्थ को पूरा करने के लिये उनसे व्यापार संबंधी लाभ उठाती हैं और युद्ध के समय उनसे अपनी इच्छानुसार धन-जन की सहायता लेती हैं । प्रोफेसर शूमन (Schuman) का कथन है कि "पाश्चात्य राष्ट्रीय राज्यों द्वारा संसार की अश्वेत (Non-European) जातियों पर सैन्य-बल द्वारा अपनी शक्ति का आरोपण करना ही साम्राज्यवाद है † इस विद्वान का यह भी कथन है कि बल तथा हिंसात्मक साधनों द्वारा पराचीन राष्ट्रों पर विदेशी शासन आरोपण करना ही साम्राज्यवाद है। सी० डी० बर्न्स (C. D. Burns) का कथन है कि अनेक भिन्न-भिन्न प्रदेशों तथा जातियों पर एक ही प्रकार की शासन प्रणाली तथा विविधि-विधान स्थापित करना ही साम्राज्यवाद है। प्रौफेसर हाकिंग (Prof. Hocking)

---

* ऐनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइंसेज, ७-पृष्ठ ६०५

† ऐफ० ऐल० शूमन- न्टरनेशनल पॉलिटिक्स, पृष्ठ ४२८ ।

ने साम्राज्यवाद को "निष्ठुरता के प्रचार-शास्त्र" (Ethics of Severity) का अनुरूप "टालम ेलका आचार-शास्त्र" (Ethics of evation) बतलाया है। डी० टाकविल (De Tocqueville) का कथन है कि बड़े-बड़े साम्राज्यों के समान जन-साधारण के हित तथा स्वतन्त्रता के समान कोई अहितकर बात नहीं है।" जॉन्सन (Johnson) का कथन है कि "बड़े-बड़े साम्राज्यों की प्रतिभा सुवर्णपत्रों के समान है। जिस प्रकार सुवर्ण की दृढ़ता पत्र बनाने से जाती रहती है और उसमें नम्रता आ जाती है उसी प्रकार साम्राज्य निर्बल गौरव का प्रतीक है।"

साम्राज्यवाद के समर्थकों ने साम्राज्यवाद को लोकहित का साधन बतलाया है। उनका मत है कि सभ्य जातियां असभ्य जातियों को अपना साम्राज्य स्थापित करके उनको सभ्य बनाती ह और उनकी सब प्रकार की उन्नति करती हैं। साम्राज्यवादी बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित करने में अपना बड़ा गौरव समझते हैं। वई बार कैप्टेन जान स्मिथ (Captain John Smith) ने स्पेन के साम्राज्यवादियों के विचारों को उद्धृत करते हुए कहा था कि स्पेन वालों का मत है कि "स्पैनिश राज्य पर कभी सूर्य अस्त नहीं होता है। सन् १९०४ में जे० चैम्बरलेन (J. Chamberlain) ने अपने भाषणों में कहा था कि "साम्राज्यवादियों के समान विचार करना सीखो!" ड्रायडन (Dryden) का कथन है कि "सम्पूर्ण साम्राज्य प्रन्यास शक्ति (powers in trust) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" ऐलैक्जैंडर हैमिल्टन (Alexander Hamilton) का कथन है कि "महादेशों के विषय में विचार करना सीखो" आधुनिक काल में चर्चिल (Churchill) जो द्वितीय महायुद्ध के समय में इंगलैण्ड का प्रधान सचिव था बड़ा कटट्र साम्राज्यवादी समझा जाता है।

सर जार्ज कार्नवाल, लुइस (Sir George Cornewall Lewis) नामक विद्वान थे अपनी "ऐसे आन दी गवर्नमैन्ट आफ डिपैन्डैन्सीज (Essay on the Government of Dependencies) नामक पुस्तक में साम्राज्य की परिभाषा इस प्रकार की है "सर्वोच्च शासन के अधीन अनेक राज्यों (अर्थात एक प्रबल राज्य तथा उसके अधीन राज्यों सहित सम्पूर्ण राज्य) को यः

साम्राज्य के नाम से संबोधित किया जाता है।"* सरजार्ज के मतानुसार अधीन राज्य प्राप्त करने की जो रीतियां हैं। एक रीति है उनको विजय करके अथवा स्वेच्छावश विलयन (voluntary cession) द्वारा और दूसरी रीति है व्यवस्था पत्र द्वारा अथवा उपनिवेश द्वारा राज्य प्राप्त करना (by settlement)।

सर जार्ज के मतानुसार प्रभुताशील देश (dominant country) को अधीन देश से निम्नलिखित लाभ हैं †:—

१—प्रभुताशील देश को अधीन देश से प्राभृत (Tribute) अथवा भेंट और भूकर (revenue) मिलता है। प्राचीन काल में यूनान में ऐथेन्स नगर राज्य के अधीन जो राज्य थे वे एथेन्स (Athens) को प्राभत देते थे। यह प्राभृत धन अथवा सैनिक सहायता के रूप में दिया जाता था। रोमन साम्राज्य के अधीन देश भी सर्वोच्च शासन को इसी प्रकार का प्राभृत अथवा भूकर दिया करते थे। एशिया और भारतवर्ष में भी पिछली शताब्दी के आरम्भ तक ऐसी ही प्रथा थी। संयुक्त राज्य (अमेरिका) का आरम्भ उपनिवेशों के रूप में हुआ है। कैनैडा और संयुक्त राज्यों में सबसे पहले यूरोपीय निवासियों ने उपनिवेश स्थापित किये थे। ये उपनिवेश पहले यूरोपीय राष्ट्रों के साम्राज्यों में सम्मिलित थे। शनैः शनैः उनमें राजनैतिक तथा राष्ट्रीय चेतना हुई और उन्होंने साम्राज्यों से पृथक होने का प्रयत्न किया। संयुक्त राज्य (अमेरिका) पूर्ण रूप से स्वतंत्र होने में सफल हुआ। परन्तु कैनैडा अबभी ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत है। कैनैडा अब ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत अधिराज्य (dominion) है।

२—प्रभुताशील देश को अधीन देश से नौ-सेना संबंधी सहायता मिलती है। प्रभुताशील देश अधीन देश में अपने सैनिक केन्द्र स्थापित करता है।* प्राचीन काल में जब फारस वालों ने यूनान पर आक्रमण किया था तो उन्होंने अनेक अधीन देशों के सैनिकों से अपनी सेना का संगठन किया था। नैपोलियन (Nepoleon) ने भी अपनी सेना का संगठन भी उन्हीं देशों के सैनिकों से किया था जिन देशों को

---

* सर जार्ज कार्नवाल लुइस—एसे आन दी गवर्नमेंट आफ डिपैन्डैन्सीज, पृष्ठ ७३
† " " " " " " २०६
* " " " " " २१२–२१४

उसने विजय किया था। जिब्राल्टर (Gibralter), माल्टा (Malta) और भूमध्य सागर के आयोनियां (Ionia) द्वीपों में पिछले महा युद्धों में अंग्रेजों ने अपने सैनिक केन्द्र स्थापित किये थे।

३—जब प्रभुताशील देश को अधीन देश से प्राभूत अथवा भूकर प्राप्त करना कठिन और असंभव हो गया तब प्रभुताशील देश ने अधीन देश से व्यापार करना आरम्भ किया और पूर्ण रूप से व्यापार संबंधी लाभ उठाया। प्रभुताशील देशों ने अधीन देशों से व्यापार संबंधी लाभ उठाने के लिये अनेक स्वार्थपूर्ण विधान बनाये और उन विधानों को बल पूर्वक अधीन देशों में प्रचलित किया। अधीन देशों से अपना व्यापार सुरक्षित रखने तथा पूर्ण रूप से लाभ उठाने के लिये ऐसे विधान बनाये जिनके अनुसार अधीन देश बिना प्रभुताशील देश की आज्ञा के किसी अन्य देश से व्यापार नहीं कर सकते थे और न अन्य देशों के पोतों (जहाजों) का ही प्रयोग कर सकते थे। यातायात तथा सामान लादने के लिये प्रभुताशील देशों के पोतों का प्रयोग करना अनिवार्य था। संयुक्त राज्य (अमेरिका) का इतिहास पढ़ने से पता चलता है कि उसके ब्रिटिश साम्राज्य से पृथक होने का विशेष कारण ऐसे ही व्यापार संबंधी विधान थे। भारतवर्ष में ईस्ट इंडिया कम्पनी (East India Company) को व्यापार संबंधी एकाधिकार (Monopoly) प्राप्त था। इस कम्पनी को वस्तुनिर्माण, वितरण, निर्यात, तथा आयात का एकाधिकार प्राप्त था जिसका परिणाम यह होता था कि व्यापार में भ्रष्टाचार फैलता था। लोग बिना महसूल दिये चोरी से माल ले जाते थे।

४—चौथा लाभ प्रभुताशील देशों को अधीन देशों से यह होता था कि अपनी अतिरिक्त जनसंख्या को प्रवास के लिये अधीन देशों में भेज देते थे। अथवा लोग स्वयं स्वेच्छा से देश प्रवास कर जाते थे। मध्यकाल में धार्मिक अत्याचारों के कारण बहुत से लोग यूरोपीय देशों से अमेरिका चले गये थे। प्राचीन काल में रोम साम्राज्य के अपराधियों को सार्डिनिया (Sardinia) के अस्वस्थ द्वीप में भेज दिया जाता था। इंगलैंड के अपराधियों को मध्यकाल में आस्ट्रेलिया (Australia) भेजा जाता था। आधुनिक काल में अंग्रेज भारतीय अपराधियों को अन्डमन (Andaman) द्वीपों को भेजते थे।

सर जार्ज के मतानुसार अधीन देशों को प्रभुताशील देशों से निम्नलिखित लाभ हैं:- *

१—यदि अधीन देश स्वतंत्र रहेंगे तो उनकी निर्बलता के कारण उनपर शक्तिशाली देशों के अभिधावन (aggression) का भय रहेगा। शक्तिशाली निकटवर्ती देश उनकी निलता का अनुचित लाभ उठायेंगे।

२—अधीन देशों को समय-समय पर प्रभुताशील देशों से आर्थिक सहायता मिलती रहती है और अन्य शक्तिशाली देश उनपर आक्रमण करने से भय खाते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि यदि वे उनपर आक्रमण करेंगे तो प्रभुताशील देश धन-जन से उनकी सहायता करेगा†। प्राचीन काल में रोमन-साम्राज्य में रोम ने समस्त अधीन देशों में अच्छी अच्छी सड़कें बनवाई थीं और अन्य प्रकार के लोकहित सम्बन्धी कार्यों में धन से सहायता की थी। आधुनिक काल में ब्रिटिश पार्लमेंट ने अधीन देशों की सहायता के लिये अनेक आर्थिक सहायता सम्बन्धी बिल पास किये थे। कैनैडा में नहर बनाने के लिये तथा भारतवर्ष में शिक्षा तथा उद्योग सम्बन्धी उन्नति करने के लिये ब्रिटिश सरकारने पर्याप्त आर्थिक सहायता दी थी। सन १८१३-१४ में जब माल्टा (Malta) में प्लेग की महामारी फैली थी उस समय ब्रिटिश सरकारने वहां की स्थानीय सरकारको पर्याप्त आर्थिक सहायता दी थी।

३—अधीन देशों को तीसरा लाभ यह होता है कि उन्हें प्रभुताशील देशों की सहायता के कारण अनेक प्रकार के व्यापारिक लाभ होते हैं। अधीन देश अन्य देशों से व्यापार करने के लिये अनुकूल व्यापारिक विधान बनवाने में सफल होते हैं और इस प्रकार अधीन देशों की व्यापारिक उन्नति होती है।

सरजार्ज के मतानुसार अधीन देशों के कारण प्रभुताशील देशों को निम्नलिखित हानि होती है:- †

---

* सर जार्ज कार्नवाल लुइस—ऐसे आन दी गवर्नमेंट आफ डिपैन्डैंसीज, पृष्ठ २३५-२३८

† सर जाज कार्नवाल लइस—एसे आन दी गवर्नमैंट आफ डिपैन्डैंसीज, पृष्ठ २४१-२४५

१–प्रभुताशील देशों को अधीन देशों पर अधिक धन व्यय करना पड़ता है।

२–अधीन देशों के कारण प्रभुताशील देशों को अनेक व्यापार सम्बन्धी अवरोधों का सामना करना पड़ता है। अधीन देशों से जो सामान प्रभुताशील देश मोल लेता है उसपर अन्य देशों से मोल लिये हुए सामान पर लिये हुए आयात कर की अपेक्षा न्यून कर लेना पड़ता है और इस प्रकार अधीन देश को व्यापारिक लाभ पहुंचाना आवश्यक होता है।

३–कभी-कभी अधीन देशों के कारण प्रभुताशील देश को युद्ध में भी भाग लेना पड़ता है और इस प्रकार प्रभुताशील देश को धन-जन की हानि होती है। इसका कारण यह होता है कि अधीन देश से अन्य निकटवर्ती शक्तिशाली राष्ट्र आर्थिक तथा भूमि सम्बन्धी लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार युद्ध आरम्भ होने पर प्रभुताशील देश को युद्ध में भाग लेना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि ऐसी दशा में यदि प्रभुताशील देश युद्ध में भाग न ले तो अधीन देश से प्रभुताशील देश के प्रभुत्व पर अनेक प्रकार के संकट उपस्थित हो जाते हैं।

४-अधीन देशों के कारण प्रभुताशील देश में राजनैतिक भ्रष्टाचार फैलता है "इससे प्रभुताशील देश में शासकीय संरक्षण पद्धति की (system of official patronage) उत्पत्ति अथवा उसका विस्तार होता है और इस प्रकार राजनैतिक नैतिकता (political morality) का स्तर नीचा होता है।"

सर जार्ज के मतानुसार एक अधीन देश को अपनी अधीनता के कारण निम्नलिखित हानि होती है:–

१–अधीन देश के हित का विचार न करते हुए प्रभुताशील देश अपने ही हितों को ध्यान में रखते हुए उस पर शासन करते है। प्रभुताशील देश सदैव स्वहित पूर्ति के ही लिये अधीन देश पर शासन करते हैं। उनकी सम्पूर्ण-नीति स्वहित पर ही निर्भर रहती है।

२–बहुधा अधीन देश के लोगों की जाति प्रभुताशील देशों से भिन्न होती है। अधीन देश की भाषा, धर्म, संस्कृति आदि भी प्रभुताशील देश की भाषा, धर्म, संस्कृति आदि से बिलकुल भिन्न होती है, इसलिये प्रभुताशील देश सदैव अधीन देश में अपनी भाषा, धर्म, संस्कृति आदि का प्रचार करने का प्रयत्न करता है। परिणाम यह होता है कि अधीन देश का पतन होता है।

३—प्रभुताशील देश जिस देश को विजय करके अपने अधीन करता है वह सर्वैव उस देश का चरित्र भ्रष्ट करने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार उसका नैतिक पतन करके अपने प्रभुत्व की स्थायी स्थापना करने का प्रयत्न करता है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अमेरिका ने जापान पर अधिकार करके इस प्रकार का नैतिक पतन करने का प्रयत्न किया। अमेरिकन सैनिक तथा जनता का जापानियों के साथ सामाजिक संपर्क अनुचित रूपसे से घनिष्ट हुआ। परिणाम यह हुआ कि वर्णसंकर सन्तान की वृद्धि हुई और इस प्रकार जापान का नैतिक पतन हुआ।

४—प्रभुताशील देश अधीन देश में अपने ही विधि-विधान चलित करता है और इस बात का ध्यान रखा जाता है कि अधीन देश ही किसी प्रकार से भी राजनैतिक उन्नति न होने पाये जिससे अधीन देश राजनैतिक चेतना के कारण प्रभुताशील देश से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर ले।

५—प्रभुताशील देश अधीन देश में कभी शिक्षा की उन्नति नहीं होने देता। वह अधीन देश की जनता को अशिक्षित रखने का प्रयत्न करता है। परिणाम यह होता है कि अधीन देश के निवासी पूर्ण रूप से शिक्षित न होने के कारण मानसिक उन्नति नहीं कर सकते हैं।

६—प्रभुताशील देश अपने युद्धों में अधीन देश को सम्मिलित कर के उससे धन-जन सम्बन्धी अनुचित लाभ उठाता है। अपने धन-जन को सुरक्षित रखते हुए अधीन देश के धन-जन का नाश करता है। प्रथम महायुद्ध में अंग्रेजों ने अपने अधीन देश भारत वर्ष से इस प्रकार का धन-जन सम्बन्धी अनुचित लाभ उठाया था और लाखों भारतवासियों को बलिदान के बकरों के समान युद्ध में कटवा दिया था।

७-प्रभुताशील देश अधीन देश के निवासियों को शासन से प्रथक रखने का प्रयत्न करता है। जनता के प्रतिनिधियों को शासन में भाग लेने से वंचित रखता है और अधीन देश के केवल ऐसे ही व्यक्तियों को शासन में भाग लेने देता है जो प्रभुताशील देश के हितों के लिये सहयोग दे सकें।

ऐफ० ऐल० शूमैन (F. L. Schuman) का कथन है कि साम्राज्यवाद अपने शिकारों (अधीन देशों) की भलाई करके अपने ही देश की भलाई करता है। (It is no more the

purpose of imperialism to confer benefit upon its victims than confer benefits upon the home country)*

साम्राज्यवाद की उत्पत्ति तथा विकास–अब से लगभग ५० हजार वर्ष पूर्व महाभारत काल में भारतवर्ष में एक विशाल आर्य साम्राज्य स्थापित था। महाभारत के पढ़ने से पता चलता है कि सम्पूर्ण भारतवर्ष तथा उत्तर में हिमालय पर्वत के उस पार वर्तमान चीन का कुछ भाग तथा पूर्व में पूर्वी द्वीपों तक आर्योंका साम्राज्य फैला हुआ था और अमेरिका की गिन्ती मित्र राष्ट्रों में थी। अमेरिका के राजा बभ्रुवाहन ने महाभारत में भाग लिया था। महाभारत काल के पश्चात् साम्राज्यवाद का अन्त आ और भारतवर्ष छोटे२ राज्यों में विभक्त हो गया।

इसके पश्चात् मिश्र, मैसोपोटामिया और चीन में साम्राज्यों की स्थापना हुई और इन देशों में साम्राज्यवाद का विकास हुआ। लगभग इन साम्राज्यों में परस्पर अनेक युद्ध हुए। ईसासे ३२०० वर्ष पूर्व मिश्र साम्राज्य स्थापित था। ईसासे लगभग १९४५ वर्ष पूर्व हामूरबी (Hammurabi) ने बाबुल साम्राज्य (Babylonian Empire) की स्थापना की थी। असीरिया (Assyria) में भी उस समय में साम्राज्य स्थापित था।

ईसा से लगभग ३३० वर्ष पूर्व मखदूनिया के फिलिप (Philip of Macedon) ने यूनान के नगर राज्यों को विजय करके साम्राज्य की स्थापना की। उसके पुत्र अलक्षेन्द्र महान (Alexander the Great) ने एक बड़े विशाल साम्राज्य की स्थापना की। उसके साम्राज्य में यूनान, पश्चिमी एशिया, सीरिया, मैसोपोटामिया, मिस्र, बाबुल, अफगानिस्तान फारस, तुर्किस्तान और रत के पश्चिमोत्तर प्रदेश सम्मिलित थे। परन्तु यह साम्राज्य चिरस्थायी न रह सका। उसकी मृत्यु के पश्चात् कोई ऐसा योग्य शासक न हुआ जो इस विशाल साम्राज्य को संगठित रख सकता परिणाम यह हुआ कि अलक्षेन्द्र की मृत्यु के पश्चात् सम्पूर्ण साम्राज्य उसके सेनापतियों में विभक्त हो गया और कुछ काल पश्चात् इस साम्राज्य का अन्त हो गया।

ईसा से लगभग ३०० वर्ष पूर्व इटली में रोमन साम्राज्य की स्थापना हुई। लगभग २५ वर्ष तक रोमन साम्राज्य की वृद्धि होती रही और रोम वालों ने अपनी सैनिक शक्ति तथा शासन व्यवस्था को संगठित करके

---

* ऐफ० ऐल० शूमैन–इम्पीरिअलिज्म ऐन्ड वर्ल्ड पालिटिक्स, पृष्ठ ४२६

मध्य सागर के तटवर्तीय देशों में रोमन साम्राज्य की स्थापना की। रोम वालों का साम्राज्य लगभग ६०० वर्ष तक स्थापित रहा। रोमन लोगों ने अपने साम्राज्य की बड़ी उन्नति की। उन्होंने अपने साम्राज्य में बड़ी अच्छी सड़कें बनवायीं और एक समुचित विधि-व्यवस्था स्थापित की जो आज तक विद्यमान है। रोमन-विधि (Roman Law) आधुनिक काल में भी संसार में प्रसिद्ध है। रोमन साम्राज्य अपनी सबसे उन्नत दशा में सार्वभौम साम्राज्य हो गया। रोमन साम्राज्य की सीमा पश्चिम में इंगलैंड तक पहुँच गयी थी। पूर्व में इसकी सीमा लगभग भारतवर्ष की सीमा तक पहुँच गयी थी। सीजर्ज (Caesars) सम्राटों के समय में रोमन साम्राज्य ने सब प्रकार की उन्नति की। रोमन साम्राज्य में भिन्न भिन्न प्रकार की जातियां तथा राष्ट्र सम्मिलित थे। रोमन साम्राज्य भी ६०० वर्ष से अधिक स्थिर न रह सका। रोमन साम्राज्यकी राजनैतिक स्थिति में एक बड़ा भारी दोष यह था कि इस साम्राज्य में रोमन साम्राज्य के संपूर्ण निवासियों को नागरिकता के अधिकार प्राप्त न थे। लगभग ५० प्रतिशत लोग दास थे और अधिकांश नागरिकों की नैतिक दशा अच्छी न थी अन्त में हूण तथा गॉथ (Huns and Goths) असभ्य जातियों ने जर्मनी तथा मध्य यूरोप से इटली में आक्रमण किया और रोमन साम्राज्य का अन्त किया।

रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात् बहुत काल तक साम्राज्यवाद का संसार से अन्त सा हो गया था। मध्यकालीन यूरोप में साम्राज्यवाद का ह्रास था और उस काल में राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना तथा उन्नति हुई। इसके पश्चात् सन् १४९७ ईस्वी में पुर्तगाल निवासी वास्कोडिगामा (Vasco de-Gama) नामक नाविक ने भारतवर्ष का पता लगाने के लिये अपने देश से प्रस्थान किया और वह इस कार्य में सफल हुआ। पुर्तगाल निवासियों ने अफ्रीका, दक्षिणी एशिया और ब्राजील आदि देशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया। इसी बीच में स्पेन ने मैक्सिको, पेरू, नेदरलैंड्स आदि देशों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित किया और यह साम्राज्य संसार में सबसे विस्तृत समझा जाने लगा और यह बात प्रसिद्ध हुई कि स्पेन साम्राज्य में कभी सूर्यास्त नहीं होता है। परन्तु स्पेन साम्राज्य भी बहुत समय तक स्थिर न रह सका क्योंकि स्पेन की शोषण-नीति, व्यापारिक एकाधिकार तथा धार्मिक अत्याचारों के कारण अधीन देशों में विद्रोह फैल गया और यह साम्राज्य भी छिन्न भिन्न हो गया।

१७वीं शताब्दी के आरम्भ में हालैण्ड वालों ने अफ्रीका, भारतवर्ष तथा दक्षिणी समुद्र के द्वीपसमूहों में अपना साम्राज्य स्थापित किया। लगभग इसी समय में अंग्रेजों तथा फ्रांसीसियों ने भारतवर्ष, कैनेडा और उत्तरी अमेरिका के मध्य भाग में अपना साम्राज्य स्थापित किया। सन् १७५६ से १७६३ तक यूरोप में सप्तवर्षीय युद्ध आरम्भ हुआ। इस युद्ध में संसार में जहां जहां अंग्रेज और फ्रांसीसी थे वहां वहां वे आपस में लड़ने लगे। इस युद्ध का परिणाम यह हुआ कि फ्रांसीसी साम्राज्य का अन्त हुआ और ब्रिटिश साम्राज्य स्थायी रूप से स्थापित हो गया। परन्तु ब्रिटिश शासकों के दुर्व्यवहार के कारण अमेरिका ब्रिटिश साम्राज्य से पृथक होगया। सन् १८०४ में यूरोप में नैपोलियन ने फ्रेंच साम्राज्य की स्थापना की। परन्तु यह साम्राज्य स्थायी न रह सका। नैपोलियन के समय में कॉर्सिका (Corsica) इटली, नेदरलैण्ड्स, स्पेन, नेपिल्स स्वीटजरलैंड्स आदि सब देश फ्रेंच साम्राज्य में सम्मिलित थे। फ्रेंच साम्राज्य अधिक काल तक स्थिर न रह सका और नेपोलियन के जीवनकाल में ही इसका अन्त हो गया।

ब्रिटिश नौसेना की शक्ति इस समय संसार में सबसे अधिक शक्तिशाली थी। इसी शक्ति ने फ्रेंच साम्राज्य का अन्त किया था। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ब्रिटिश साम्राज्य की उन्नति होनी आरम्भ हुआ और लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक ब्रिटिश साम्राज्य संसार के इतिहास में सबसे प्रसिद्ध साम्राज्य रहा है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् ब्रिटिश शक्ति का ह्रास होगया। और भारतवर्ष स्वतंत्र हो गया।

सन् १८८० से १९४६ तक के समय में ब्रिटिश साम्राज्य सबसे समृद्धिशाली समय समझा जाता है। सन् १८८१ में मिस्र पर ब्रिटेनका अधिकार हुआ। सी समय अफ्रीका में अन्य यूरोपीय जातियों ने सम्पूर्ण अफ्रीका को आपस में बांटना आरम्भ कर दिया। सुदूर पूर्व में जापान ने एशिया में फैलना आरम्भ कर दिया। अमेरिका ने भी प्रशान्त महासागर के द्वीपसमूहों में अपना प्रभुत्व स्थापित करना आरम्भ कर दिया। परिणाम यह हुआ कि बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में संसार में साम्राज्यवाद सबसे अधिक उन्नत दशा में था। चीन, भारतवर्ष, अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका तथा पौलीनेशिया में साम्राज्यवाद का बोल बाला हो गया। ऐफ० ऐस० शूमन का कथन है कि इस काल में "संसार के भूक्षेत्र का आधे से अधिक भाग और जनसंख्या का लगभग आधा भाग उपनिवेशों (colonies)

रक्षित राज्यों (protectorates), नियोजित प्रदेशों (Mandates) और प्रभाव क्षेत्रों (Spheres of influence) के रूप में साम्राजिक राज्यों (Imperial States) के अधीन है।"*

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् संसार में तीन बड़े साम्राज्य थे। उनमें सबसे विस्तृत ब्रिटिश साम्राज्य था। ब्रिटिश साम्राज्य में संसार के भूक्षेत्र का १।५ भाग और जनसंख्या का १।४ भाग सम्मिलित था। इस जनसंख्या का केवल १।६ भाग यूरोपियन जातियां थीं। दूसरे नम्बर का विस्तृत साम्राज्य फ्रांस का था। हालैण्ड का साम्राज्य क्षे फल तथा जनगणना तीसरे नम्बर पर था।

इन साम्राज्यों के पश्चात् जापान, संयुक्त राज्य (अमेरिका), पुर्तगाल और स्पेन का नम्बर था। परन्तु रूस की क्रांति के पश्चात् रूस के क्षेत्रफल तथा जनसंख्या में बहुत वृद्धि हो गयी है। और प्रथम महायुद्ध के लगभग २० वर्ष पश्चात् अर्थात् द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ में क्षेत्रफल तथा जन-संख्या में रूस का ब्रिटिश साम्राज्य के पश्चात् दूसरा नम्बर हो गया था। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व संसार में साम्राज्यवाद निम्न रूपों में स्थापित था:—

(१) **रक्षित राज्यक्षेत्र** (Protectorates)—इस प्रथा के अनुसार अधीन देश के वैदेशिक तथा रक्षाविभाग प्रभुताशील देश के अधीन रहते थे तथा आन्तरिक विभागों में अर्थ विभाग पर प्रभुताशील देश का अधिकार रहता था। सन् १९२८ से पूर्व मिस्र ब्रिटेन का रक्षित राज्य क्षेत्र था।

(२) **अर्द्ध रक्षित राज्य-क्षेत्र** (Semi-protectorates)—सन् १९२८ में ब्रिटेन ने मिस्र में स्वतंत्रता की घोषणा की थी। परन्तु वास्तव में उस समय मिस्र को पूर्ण रूप से स्वतंत्रता न ीं दी गयी थी। उस समय उसकी दशा अर्द्धरक्षित राज्य क्षेत्र की सी थी। क्योंकि उस घोषणा के अनुसार मिस्र संबंधी चार निम्नलिखित बातों पर ब्रिटेन ने अपना पूर्ण अधिकार कर रखा था :—

(क)—मिस्र में ब्रिटिश साम्राज्य संबंधी यातायात की रक्षा,

(ख)—प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष विदेशी अभिधावन (aggression) तथा हस्तक्षेप से मिस्र की रक्षा,

(ग)—मिस्र में अल्पमतों तथा वैदेशिक हितों की रक्षा, तथा

(घ)—सूडान (Sudan)

* एफ० एल० शूमैन—इम्पीरियलिज्म एण्ड वर्ल्ड पालिटिक्स, पृष्ठ ३७४

इसी प्रकार क्यूबा (Cuba) तथा हेटी (Haiti) संयुक्त राज्य अमेरिका के अधीन अर्द्धरक्षित राज्य थे।

(३) **अन्तर्राष्ट्रीय रक्षित राज्य क्षेत्र** (International Protectorates)—सन् १९०६ की संधि द्वारा ब्रिटेन, फ्रांस, और इटली ने मिलकर अबीसीनिया (Abyssinia) को अपना रक्षित राज्य क्षेत्र बनाया था और यह निश्चय किया था कि इनमें से कोई देश अबीसीनिया पर अनुचित लालच की दृष्टि नहीं डालेगा, परन्तु वास्तव में इस संधि के अनुसार न तीनों देशों ने अबीसीनिया पर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर लिया था और यह संधि केवल संसार की आंखों में धूल झोंकने के लिये थी।

(४) **पट्टेदारी राज्यक्षेत्र** (Leaseholds)—इस प्रथा के अनुसार प्रभुताशील देश अधीन देश को अपने राज्य का कुछ भाग एक निश्चित दीर्घकाल के लिये पट्टे पर सौंपने के लिये वाध्य करते थे। साधारणतया ९९ वर्ष के पट्टे पर भूमि लेने की प्रथा थी। वास्तव में इस प्रकार पट्टे पर प्राप्त की हुई भूमि का शासन प्रबंध प्रभुताशील देश के अधीन रहता था और केवल नाममात्र को अधीन देश का उसपर अधिकार रहता था। अथवा यों कह सकते हैं कि पट्टेदारी के समय में पट्टे पर लिया हुआ राज्यक्षेत्र प्रभुताशील देश का उपनिवेश बना रहता था। आर० एल० ब्युअल (R. L. Buell) का कथन है कि "पट्टेदारी का अन्त होने तक पट्टेदारी पर लिया हुआ राज्यक्षेत्र (प्रभुताशील देश का) उपनिवेश बना रहता है।"* सन् १८९८ में चीन ने रूस को मंचूरिया के पत्तन (बन्दरगाह) २५ वर्ष के लिये पट्टे पर दिये थे। चीन के पोर्ट आर्थर (Port Arthur) और डेरियन (Darien) पत्तनों पर जापान का पट्टेदारी अधिकार था। वीहाइ-वैप (Weihaiwap) पर ब्रिटेन का पट्टेदारी अधिकार था। पनामा नहर (Panama Canal) के दोनों ओर पांच पांच मील की भूमि पर संयुक्त राज्य (अमेरिका) का पट्टेदारी अधिकार था।

(५) **प्रभाव क्षेत्र** (Spheres of Influence)—यह एक ऐसी प्रथा थी जिसके द्वारा प्रभुताशील देश किसी देश में व्यापारिक सुविधायें प्राप्त करके शनैः शनैः कालान्तर में उस पर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर लेता था अथवा उसे अपने साम्राज्य में सम्मिलित करके उसे अपना एक प्रांत

* आर० एल० ब्लुअल—इन्टरनेशनल रिलेशन्स, पृष्ठ ४४३।

बना लेता था। साधारणतया जो देश अनुन्नत समझे जाते थे उन्हें फुसला कर सभ्य राष्ट्र उनसे व्यापारिक संधियां करके उनसे व्यापारिक संबंध स्थापित कर लेते थे। फिर शनैः शनैः अनुचित व्यापारिक अनुमोचन (Concessions) प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे। जब उन्हें इस प्रकार की सुविधाएं नहीं दी जाती थीं तो बलपूर्वक उनको बाध्य किया जाता था। यदि उनकी इच्छानुसार सुविधाएं उनको न मिलती थीं तो कुछ न कुछ बहाना करके वे उनसे युद्ध करके उनका कुछ राज्य छीन लेते थे अथवा उनको अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लेते थे। अफ्रीका, एशिया, तथा प्रशान्त महासागर के द्वीपसमूहों में इस प्रकार का प्रभावक्षेत्र स्थापित करने का प्रयत्न किया गया और स्थापित भी हुआ परन्तु सन् १९२१-२२ की वाशिंगटन कान्फ्रेंस (Washington Conference) ने चीन में इस प्रकार का प्रभाव स्थापित होने से रोकने का सफल प्रयत्न किया। आर० एल० ब्यूअल के मतानुसार प्रभाव क्षेत्र का अभिप्राय यह है कि जो राज्य प्रभाव क्षेत्र स्थापित करता है उसको "सब प्रकार की उत्कृष्टता (रियायत) अर्थात ऋण देने, रेलें बनाने, खानें खोदने अथवा लोक-निर्माण (Public Works) संबंधी कार्य करने का एकाधिकार प्राप्त होता है।"* इसी प्रकार स्याम (Siam) ब्रिटेन तथा फ्रांस का प्रभाव क्षेत्र था।

(६) **बहुराजकता** (Condominium)—इस प्रथा के अनुसार एक निश्चित भूमि पर दो अथवा दो से अधिक देशों का अधिकार रहता है। ऐसा अधिकार इस आधार पर न्यायसंगत तथा उचित बताया जाता है कि यदि ऐसा न किया जायगा तो शक्तिशाली देश उस भूमि पर अधिकार करने के लिये आपस में युद्ध करेंगे और इस प्रकार शांति भंग होने की संभावना होगी अतः दो अथवा दो से अधिक शक्तिशाली प्रदेश पारस्परिक संधियों द्वारा किसी भूक्षेत्र पर अपना अधिकार कर लेते हैं और अन्य देशों के हड़पने से उसकी रक्षा करते हैं। इस प्रकार के उदाहरण निम्नलिखित हैं

(क) फ्रांस और ब्रिटेन का न्यू हीबरीड्स (New Hebrides) पर संयुक्त अधिकार।

(ख) फ्रांस, स्पेन और ब्रिटेन का मराक्को (Morocco) में टेंजियर (Tangier) पर संयुक्त अधिकार।

---

* आर० ऐल० ब्युअल—इन्टरनेशनल रिलेशन्स, पृष्ठ ४४७।

(ग) ब्रिटेन और मिस्र का सूडान (Sudan) में नील (Nile) नदी पर संयुक्त अधिकार।

(७) **आर्थिक नियंत्रण** (Financial Control)—इस प्रथा के अनुसार एक अथवा अनेक शक्तिशाली तथा धनी राज्य किसी निर्धन अथवा आर्थिक संकट प्राप्त देश को आर्थिक सहायता देकर उसपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेते हैं। आर० एल० ब्युअल का कथन है कि "अनेक ऐसे उदाहरण हैं कि पूंजीपति देश अपने सरकारी अधिकारियों द्वारा अथवा अपने देश के महाजनों (Bankers) के प्रतिनिधियों द्वारा स्वतंत्र अनुन्नत देशों के शासनों के भू-कर (Revenue) तथा व्यय का नियंत्रण करते हैं।"*

(८) **आयात-निर्यात-कर नियंत्रण** (Tariff Control)—इस प्रथा के अनुसार सभ्य कहलाने वाले शक्तिशाली देश अनुन्नतशील तथा निर्बल देश में अपनी व्यापारिक वस्तुओं का ढेर लगा देते हैं और उनको वहां उन देशों में बनी हुई वस्तुओं से अधिक सस्ता बेचते हैं। परिणाम यह होता है कि उन देशों की व्यापारिक उन्नति नहीं होती है और न वहां स्थानीय उद्योग-धंधों की भी उन्नति होती है। इस प्रकार वस्तुओं के मूल्य के रूप में वहां का धन शक्तिशाली देशों को चला जाता है, वे देश अनुन्नत तथा निर्धन ही रह जाते हैं। सन् १९११ में जापान में इस प्रकार का नियंत्रण स्थापित किया गया था। चीन, फारस, स्याम, मराक्को और टर्की में भी इस प्रकार का आयात-निर्यात-कर नियंत्रण स्थापित किया गया था। इस नियंत्रण का परिणाम यह होता था कि विदेशीय मालों पर अधिक कर नहीं लगाया जा सकता था और विदेशी व्यापारियों को खूब लाभ होता था।

(९) **बहिर्देशीयता** (Extra-territoriality)—इस प्रथा के अनुसार शक्तिशाली देश निर्बल देशों में अपने देश के रहने वालों के लिये अपने ही देश के विधि-विधान लागू करते हैं और जिन विदेशी राज्यक्षेत्रों में ये लोग रहते हैं वहां निर्बल देशों का विधि-विधान विदेशियों पर लागू नहीं होता है। शक्तिशाली देश यह कहकर उसको अपना राजनैतिक क्षेत्र बना लेते हैं कि असभ्य तथा अनुन्नत देशों के विधि-विधानों का स्तर उनके देशों के विधि-विधानों से कहीं नीचा है इसलिये उन्हीं के विधि-विधानों द्वारा

* आर० एल० ब्युअल—इन्टरनेशनल रिलेशन्स, पृष्ठ ४५८।

उनका न्याय होना चाहिए। संयुक्त राज्य (अमेरिका) का जापान पर १८९४ तक बहिर्देशीय नियंत्रण था। रूस का सन् १९२४ तक चीन पर इसी प्रकार का बहिर्देशीय अधिकार था। इस प्रकार का न्याय संबंधी अधिकार राजदूतों के न्यायालयों को था। वे अपने अधिकारों का अनुचित प्रयोग भी किया करते थे और अपने देशवासियों के ही हितों के अनुसार न्याय करते थे। कहीं कहीं अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों द्वारा इस प्रकार का न्याय किया जाता था। ये न्यायालय भी पक्षपात से काम करते थे।

(१०) **अनियमित नियंत्रण** (Informal Control)—आर० ऐल० ब्युअल का मत है कि इस प्रथा के अनुसार शक्तिशाली देश भांति-भांति के विधि-विधान-विरुद्ध अनुचित हस्तक्षेप द्वारा अनुन्नत देशों के शासन को उस समय तक स्वीकार नहीं करते जबतक उनकी कुछ अनुचित आर्थिक राजनैतिक तथा शासन संबंधी शर्तें अनुन्नत देश द्वारा स्वीकार नहीं कर ली जातीं। संयुक्त राज्य (अमेरिका) ने अपनी नौसेना द्वारा निकारागुआ, सेन्टो र्मिगो तथा अन्य कैरिबियन स्थित द्वीपों में इस प्रकार की शर्तें बलपूर्वक मनवा कर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था। ब्रिटेन ने बलपूर्वक अपने वैदेशिक अर्थमंत्री फारस, मैसोपोटामिया और मिस्र में नियुक्त किये थे।

(११) **मुक्त-द्वार-नीति** (Open Door policy)—स नीति के अनुसार शक्तिशाली देश मिलकर निर्बल देश को बलपूर्वक बाध्य कर के अपने व्यक्तिगत हितों की पूर्ति के लिये उनसे ऐसी संधि कर लेते हैं जिनके द्वारा सब शक्ति-शाली देशों को समान व्यापार संबंधी अधिकार प्राप्त होते हैं। इस प्रकार शक्तिशाली देश निर्बल देशों से खूब व्यापारिक लाभ उठाते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोपीय जातियों ने चीन में इस नीति को प्रचलित करने के लिये उनसे युद्ध किया था। इंगलैण्ड और अमरीका ने चीन में इस नीतिद्वारा बहुत सी व्यापारिक सुविधाएं प्राप्त की थीं।

(१२) **नियोजित प्रदेश** (Mandated territory)—प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सन् १९१९ में वारसाई की शान्ति सभा (Versailles Peace Conference) में सम्मिलित राष्ट्रों ने यह निश्चय किया था कि युद्ध में पराजित राज्यों से मुक्त किये हुए अनुन्नत उपनिवेश का शासन प्रबन्ध सभ्य तथा उन्नत विजयी राष्ट्रों को सौंप देना चाहिये। जिन देशों को यह शासन सौंपा

जायगा व अपने अपने देशों के सुशासन के लिये उत्तरदायी होंगे और जब तक शासित देश पूर्ण-रूप से स्वराज्य के योग्य न हो जायंगे तब तक उनका शासन विजयी देशों के सुपुर्द रहेगा। इस विचार से नियोजित प्रदेशों को तीन भागों में विभाजित किया गया। इन देशों का प्रबन्ध लीग आफ नेशन्स (League of Nations) को सौंपा गया और यह निश्चित किया गया कि प्रतिवर्ष शासक देश नियोजित प्रदेशों के शासन प्रबन्ध की विस्तृत रिपोर्ट लीग में प्रस्तुत किया करें। नियोजित प्रदेशों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया गया था। *

नियोजित प्रदेश	क्षेत्रफल (मीलों में)	जनसंख्या	नियोजक प्रदेश
(अ)			
इराक	१७७,१४८	२,८४९,२८२ (१९२०)	ब्रिटेन
पैलेस्टाइन तथा ट्रान्सजॉर्डन	७०,०००	१,२९५,१५४ (१९३१)	ब्रिटेन
सीरिया तथा लैबनान	६०,०००	२,०४६,८५७ (१९२६)	फ्रांस
(ब)			
टान्गैनिका	३७३,४९४	४,३६३,४३८ (१९२१)	ब्रिटेन
आन्डा-उरुन्डी	२१,४२९	५,६०५,००० (१९२६)	बेल्जियम
टोगोलैन्ड (ब्रिटिश)	१३,२४०	२७५,९६८ (१९३१)	ब्रिटेन
टोगोलैन्ड (फ्रेंच)	२१,८९३	७३०,५०४ (१९३१)	फ्रांस
कैमरुन (ब्रिटिश)	३४,२३६	७,०५० (१९३०)	ब्रिटेन
कैमरुन (फ्रेंच)	१६६,४८९	१,९००,००० (१९२८)	फ्रांस
(स)			
दक्षिणी-पश्चिमी-अफ्रीका	३२२,२९४	२७५,५२० (१९३०)	द० अफ्रीका
न्यूगिनी	९१,३००	४०४,४०० (१९३०)	आस्ट्रेलिया
उत्तरीय प्रशान्तसागर स्थितद्वीप समूह	८३०	९१,५९० (१९३०)	जापान
पश्चिमी सैमोआ	१,१३३	४४,५३५ (१९३१)	न्यूज़ीलैन्ड
नौ	९	२६९२ (१९३१)	ब्रिटेन

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार निम्न प्रकार से था–

* ऐफ० ऐल० शूमैन–इम्पीरियलिज्म ऐन्ड वर्ल्ड पॉलिटिक्स, पृष्ठ ६१२

ब्रिटिश साम्राज्य का क्षेत्रफल १३,२९०,००० वर्ग मील था। इसकी जनसंख्या ४८,७०,००,००० थी अर्थात् संसार की सम्पूर्ण जन संख्या की पांचवां भाग थी। इस साम्राज्य में निम्नदेश सम्मिलित थे:–

(१) ग्रेट ब्रिटेन तथा उत्तरी आयर्लैन्ड का संयुक्त राज्य

(२) स्वयं शासित अधिराज्य–

(क) कैनैडा–इसका क्षेत्रफल ३,६९५,००० वर्ग मील और जन-संख्या ११,२००,००० है। पहले यह देश ब्रिटेन के अधीन था। १८६७ ऐक्ट के अनुसार वहां एक राज्य-संघ स्थापित हो गया था। इसमें ९ राज्य है।

(ख) आस्ट्रेलिया–इसका क्षेत्रफल १८,०८,६८० वर्ग मील तथा जन-संख्या ६,८००,००० है पहले यहां इंगलैण्ड के अपराधी भेजे जाते थे। शनैः शनैः यह उपनिवेश बन गया। सन १९०१ के ऐक्ट के अनुसार यह देश भी स्वायत्त शासित अधिराज्य है। इसमें ६ राज्य सम्मिलित हैं।

(ग) न्यूजीलैन्ड–इसका क्षेत्रफल १०३,४०० वर्गमील है। सकी जन-संख्या १,६००,००० है।

(घ) दक्षिणी अफ्रीका–इसका क्षेत्रफल ४७२००० वर्गमील तथा जनसंख्या ९,६००,००० इसमें २०,००,०००यूरोपियन हैं। ५८ प्रतिशत सन संख्या हब्शियों की है। अन्य लोग भिन्न भिन्न यूरोपियन जातियों के हैं।

(ङ०) उत्तरी आयरलैण्ड–इसका क्षेत्रफल ५,२०० वर्ग मील तथा जन-संख्या १,३००,००० है।

(३) औपनिवेशिक तथा अधीन साम्राज्य:–

(क) ब्रह्मा-इसका क्षेत्रफल २६२,००० वर्गमील तथा जन-संख्या १५,०००,००० थी। सन् १९३५ से पूर्ण यह भारतवर्ष में सम्मिलित था परन्तु सन् १९३५ से यह भारतवर्ष से पृथक कर दिया गया था।

(ख) भारतवर्ष–इसका क्षेत्रफल १,८०८,६८० वर्ग मील तथा जन-संख्या ३७५,०००,००० थी।

ब्रह्मा तथा भारतवर्ष अब जनतन्त्र राज्य हैं।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व अन्य यूरोपीय साम्राज्यों का व्यौरा निम्न प्रकार से था:–

(१) फ्रेंच साम्राज्य– समें उत्तरी तथा मध्य अफ्रीका का बहुत बड़ा भाग, दक्षिणी चीन और भारतवर्ष का मध्यवर्तीय बत बहुत बड़ा भाग,

भारतवर्ष का बहुत थोड़ा-सा भाग तथा मडगास्कर सम्मिलित थे।

(२) डच साम्राज्य–इसमें ईस्ट इन्डियन द्वीप समूह, जावा, सुमात्रा तथा ऐशिया और दक्षिणी अमेरिका के कुछ भाग सम्मिलित थे।

(३) इटालियन साम्राज्य–इसमें उत्तरी अफ्रीका में लीबिया, अफ्रीका का कुछ अन्य भाग जो लाल सागर के निकट था, रोड्स (Rhodes), ईजियन द्वीप समूह तथा डैलमैटिया के कुछ नगर सम्मिलित थे।

(४) स्पेनिश साम्राज्य–आधुनिक काल के आरम्भ में स्पेन का साम्राज्य बहुत बड़ा था। इसके लिये कहावत प्रचलित थी कि स्पेन के साम्राज्य में सूर्यास्त नहीं होता है। परन्तु द्वितीय युद्ध से पूर्व इस साम्राज्य में केवल पश्चिमोत्तर अफ्रीका सम्मिलित था।

(५) पौर्चुगीज साम्राज्य–इसमें दक्षिणी अफ्रीका का कुछ भाग सम्मिलित है।

(६) डेनिश साम्राज्य–डेनमार्क के साम्राज्य में ग्रीनलैन्ड तथा आइसलैन्ड सम्मिलित थे।

(७) संयुक्त राज्य (अमेरिका) का साम्राज्य–इसमें हवाई, फिलीपाइन्स ऐलास्का तथा प्रशान्त महासागर स्थित कुछ द्वीप सम्मिलित थे।

(८) जापान साम्राज्य- साथ में फारमोसा, कोरिया, सरवालीन का कुछ भाग, मन्चूरिया, जेहोल, मंगोलिया का कुछ भाग, तथा उत्तरी-चीन सम्मिलित थे।

साम्राज्यवाद की आलोचना–सी० डी० बर्न्स (C. D. Burns) का कथन है कि साम्राज्यवाद संकुचित ग्रामीण राजनीतिका अन्त करके सार्वभौम नागरिकता तथा विश्व-बन्धुता के भावों को फैलाता है। परन्तु बहुत कम लोग ऐसे हैं जिनके ऐसे विचार हैं। अधिकतर लोगों का यही विश्वास है कि साम्राज्यवाद का ध्येय प्रतियोगितावाद तथा शोषण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। बड़े-बड़े विस्तृत साम्राज्य प्रभुताशील देशों के हितों की पूर्ति के लिये ही स्थापित किये गये हैं। साम्राज्यवाद का आरम्भ सामुद्रिक डकैती तथा दास-वाणिज्य के रूप में हुआ था। बार्न्स (Barnes) का कथन है कि यही बात ब्रिटिश साम्राज्य की आधारशिला थी। * साम्राज्यवाद के समर्थकों का यह कहना है

* आर० ऐल० बार्न्स—दी ड्यूटी आफ ऐम्पायर, पृष्ठ ११

कि असभ्य तथा पिछड़ी ई जातियों को सभ्य तथा उन्नतशील बनाने के लिये साम्राज्यवाद स्थापित किया गया है। परन्तु यह उद्देश्य मुख्य नहीं है। यह तो गौण उद्देश्य है। साम्राज्यवाद का मुख्य उद्देश्य वास्तव में अधीन देश से पूर्ण आर्थिक, व्यापारिक तथा युद्ध के समय में धन, जन सम्बन्धी लाभ उठाना है। यह घोषित करना कि साम्राज्यवाद लोक के लिये स्थापित किया जाता है अथवा शासितों को शिक्षित, उन्नत तथा सभ्य बनाने को किया जाता है, असत्य तथा निर्मूल है। साम्राज्यवाद का मुख्य उद्देश्य आर्थिक लाभ और गौण उद्देश्य राजनैतिक अधिकार है। वास्तव में हम स परिणाम पर पहुंचे हैं कि जिन राज्यों पर साम्राज्य स्थापित किया गया उन राज्यों के लोगों की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक नैतिक तथा राजनैतिक, किसी भी प्रकार की उन्नति नहीं हुई। अधीन देशों में प्रभुताशील देशों ने जो जो सुधार किये वे सब अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये ही किये। प्रत्येक सुधार में इसी बात का ध्यान प्रभुता शील देश रखता है कि मुख्यतः उसी के हितों की पूर्ति हो यदि अधीन दे त की भलाई हो जाती है तो वह गौ ा रूप से होती है। साम्राज्यवाद ही संसार में महायुद्धों का कारण बना है। भिन्न-भिन्न राष्ट्रों ने अन्य साम्राज्यों की देखा-देखी अपने अपने साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया अथवा साम्राज्यवाद का नाश करने का प्रयत्न किया परिणाम यह हुआ कि युद्ध हुए जिनमें अगण्य लोग स्वाहा हो गये और बहुत धन तथा सम्पति का नाश हुआ। इसमें संदेह नहीं कि एक अफ्रीका का उदाहरण अवश्य ऐसा है जिसके विषय में यह कहा जा सकता है कि वहां साम्राज्य की स्थापना से बड़ी उन्नति हुई है। वहां बहुत-सी कुरीतियों का अन्त किया गया है। परन्तु यह सुधार भी साम्राज्यवाद का मुख्य उद्देश्य न था। यह सुधार भी साम्राज्यवाद में गौण स्थान रखते हैं। साम्राज्य कभी इस उद्देश्य से स्थापित नहीं किया गया था कि अफ्रीका में इस प्रकार के सुधार किये जायंगे। व्यापार तथा दास व्याणिज्य ही वहां साम्राज्य स्थापित करने के मुख्य कारण थे। इन की पूर्ति के लिये वहां शान्ति स्थापित रखना अत्यन्त आवश्यक था अतः ये सुधार भी स्वार्थ की पूर्ति के साधन मात्र थे। साम्राज्यवादियों ने अधीन देशों में जो जो अत्याचार किये हैं वे सब इन साम्राज्यों का इतिहास पढ़ने से विदित होते हैं। साम्राज्यवाद किसी भी रूप में जनता का हित नहीं ो सकता है।

हालैन्ड ने डच ईस्ट इन्डीज में अपनी भाषा, धर्म तथा संस्कृति का प्रचार किया। कांगों में बेलिजयन्स ने जो अत्याचार किये वे सब को विदित हैं। ऊष्ण कटिबन्ध स्थित अनेक देशों में प्रतिज्ञाबद्ध श्रमिक प्रथा (Indentured labour), तथा दासता का प्रचार था। दक्षिणी अफ्रीका तथा केन्या में थोड़े से श्वेतवर्ण के लोगों ने एक बहुत बड़ा भू-क्षेत्र अपने अधिकार में कर रखा था। दक्षिणी अफ्रीका के हब्शियों में श्वेतवर्ण के लोगों के विषय में एक कहावत प्रचलित है। वे श्वेतवर्ण के लोगों के विषय में यह कहा करते हैं कि "जब श्वेत वर्ण के लोग यहां पहले पहल आये तो उनके पास बाइबिल और हमारे पास भूमि थी परन्तु अब हमारे हाथ में बाइबिल और उनके हाथ में भूमि है।" बार्न्स ने लिखा है कि अफ्रीका में खानवाले प्रदेशों में हब्शियों की दशा बिल्कुल दासों की सी है। जिन स्थानों में वहां के निवासी रहते हैं उन स्थानों की दशा कारागार की सी है। श्वेतवर्ण के लोगों को हब्शियों से आठगुनी अधिक मजदूरी मिलती है और उनसे कम कार्य करते हैं। श्रम सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन करने पर उनको (हब्शियों को) अधिक कठोर दंड मिलता है और अधिक अर्थ-दंड देना पड़ता है। बार्न्स का कथन है कि "खानों के भेद-भाव ने दासता की प्रथा को अनावश्यक बना दिया है क्योंकि वहां 'दासता की प्रथा' के नाम के अतिरिक्त अन्य सब बातें दासता की विद्यमान हैं।"* इस लेखक ने यह भी लिखा है कि हब्शियों के साथ बड़ा कठोर व्यवहार किया जाता है, अनुबन्ध का उल्लंघन करने पर अठारह वर्ष से कम के श्रमिक को अन्य दण्डों के अतिरिक्त बेत भी लगाये जाते हैं। लियोनार्ड वूल्फ (Leonard Woolf) का कथन है कि सन् १९२४ में कैन्या सरकारने बीस लाख पौंड भूकर आय में से ४४,००० पौंड कारावासों पर व्यय किया और ३७,००० पौंड शिक्षा पर व्यय किया और वहां की सरकार की नीति यह है कि २,५००,००० हब्शी तथा ३६,००० एशिया निवासियों की जन-संख्या से १०,००० यूरोप निवासियों के लाभ के लिये कार्य लिया जाता है। एक बार मिश्र के विषय में व्याख्यान देते हुए रशदी पाशा (Rushdi Pasha) ने यह कहा था कि "ब्रिटिश लोग जान बूझकर मिश्र निवासियों को शिक्षा से वंचित रखते हैं और संसार

---

* ऐल० बार्न्स—दी ड्यूटी आफ़ ऐम्पायर, पृष्ठ २५२

में यह घोषित करते हैं कि हम स्वराज्य के अयोग्य हैं।" पारकर मून (Parker Moon) का कथन है कि "कांगो सरकार ने सन् १९२३ में अपने कुल आय व्ययक (Budget) का केवल एक प्रतिशत् शिक्षा पर व्यय किया था। *

जब भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत था उस समय इस देश का भी ब्रिटिश लोगों ने कुछ कम शोषण नहीं किया। पारकर मून ने लिखा है कि "ब्रिटिश लोगों का भारतवर्ष में पदार्पण करने तथा वहां स्थापित होने का यह कारण है कि वे भारतवर्ष को लाभ पहुंचाना नहीं चाहते थे बल्कि ब्रिटेन को।" महात्मा गांधी ने एकबार अपने भाषण में कहा था कि "विधान द्वारा स्थापित ब्रिटिश शासन–जनसाधारण का शोषण कर रहा है और कोई युक्त्याभास अथवा हाथ की सफाई (जादूगरी) ग्रामों में दिखाई देने वाले अस्थिपंजरों के कारण के विषय में आंखों में धूल नहीं झोंक सकती है।" निर्धनता के अतिरिक्त भारतवर्ष में उस समय केवल सात प्रतिशत जन-संख्या शिक्षित थी। यही दशा अन्य लोकहित संबंधी बातों की थी। भारतवर्ष की भूकर आय का बहुत बड़ा भाग सेना, पुलिस तथा कारावासों पर व्यय किया जाता था। यहां की आय का बहुत बड़ा भाग भारतवर्ष की सेवा से अवसर प्राप्त सिविल सर्विस के अफसरों को पेन्शन के रूप में दिया जाता था। व्यापार तथा उद्योग-धंधे सम्बन्धी ऐसे विधान बनाये जाते थे जिन से भारत का हित न होकर इगलैन्ड का हित हो। यातायात कर लगाने में भी इसी बात का ध्यान रखा जाता था कि केवल ब्रिटिश लोगों की ही हितपूर्ति हो। ब्रिटिश साम्राज्य काल में सम्पूर्ण नीति भारतवर्ष में ब्रिटिशों की हित-पूर्ति के लिये ही थी।

"संयुक्त राज्य (अमेरिका) में १००० में २०० विद्यार्थी विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार १००० में हवाई द्वीपों में १७५, फिलीपाइन्स में १२०, मडगास्कर और युगान्डा में ४०, डच ईस्ट इन्डीज और ब्रिटिश भारत में ३८, हेटी में ३७, ट्यूनिस में २८, बेल्जियन कांगो में २६, कोरिया में २०, फ्रेंच पश्चिमी अफ्रीका तथा फ्रेंच कैमरून में ३, और पुर्तगीज ऐंगोला में १। † शूमैन का कथन है कि

---

* ऐल० बार्न्स–दी ड्यूटी आफ् ऐम्पायर, पृष्ठ २५२

† ऐफ० ऐल० शूमैन––इन्टरनेशनल रिलेशन्स, पृष्ठ ५९१

अनुन्नत तथा पिछड़ी हुई जातियों ने सभ्यता तथा ज्ञान की अपेक्षा श्वेतवर्ण के लोगों से संकट अधिक पाये हैं। उनका आर्थिक शोषण अधिक किया गया है और उनकी उन्नति नहीं हुई है।

वास्तव में किसी जाति को दूसरी जातिपर शासन करने का अधिकार नहीं है। साम्राज्यवादियों का ही यह सिद्धान्त है कि असभ्य जाति पर सभ्य जाति का शासन करने तथा उनकी उन्नति करने का अधिकार है। क्या संसार की सभ्य जातियों ने असभ्य जातियों का उद्धार करने का ठेका लिया है?
शूमैन का कथन है कि जब अधीन देश साम्राज्यवादी प्रभुताशील देशों के विरुद्ध स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये आग्रहपूर्वक लगातार अत्यन्त प्रयत्न करते हैं तो साम्राज्यवादी देश अधीन देश के प्रति निम्ननीति का योग करता है:—

१-अधीन देश के विरो को कम करने के लिये प्रभुताशील देश उसे निर्बल बनाने का प्रयत्न करता है और बलपूर्वक विरोध को दबाता है।

२—अधीन देश के लोगों को भक्त बनाने के लिये वह उनको शिक्षा देता है, अनुनय करता है और दबाता हैं।

३—अधीन देश की भाषा, संस्कृति, आचार विचारों के स्थान पर अपने देश की भाषा, संस्कृति तथा आचार विचारों का प्रचार करता है।

४—अधीन देश के शासन को ऐसा बनाने का प्रयत्न करता है जो देखने में ऐसा प्र ीत हो कि वह जनतंत्रीय शासन परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता।

५—शासन स्थानीय लोगों के हाथ में होता है परन्तु उसमें इतने प्रतिबन्ध होते हैं कि प्रभुताशील देश अपनी इच्छानुसार ही शासन करता है और अधीन देश के लोगों को कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्र ा नहीं होती है।

६—औपनिवेशिक शासन का प्रतिनिधित्व वहां के निवासी ऐसे राजा महाराजाओं से कराया जाता है जो प्रभुताशील शासन के अत्यन्त भक्त होते हैं और उसीकी च्छानुसार कार्य करते हैं।

७—इस बात का भी पूर्ण ध्यान रखा जाता है कि अधीन देश में कभी विधानमंडल का पूर्ण अधिकार कार्यकारिणी पर न हो जाय जिससे वह मनमानी कार्य उससे करा सके। अतः कार्यकारिणी को विधानमंडल से प्रथक तथा उससे स्वतंत्र रखा जाता है।

८—जब प्रभुताशील देश देखता है कि अधीन देश अत्यन्त शक्ति-

शाली हो गया है, और अधिक उसपर शासन करना असम्भव है तो वह बिना यद्ध किये चुपके से उसे छोड़कर भाग जाता है और उसे बड़ी सरलता से स्वतंत्र कर देता है जैसा कि ब्रिटेन ने भारतवर्ष में किया और सन् १९४७ में चुप के से चले गये।

शूमैनने ठीक कहा है कि जबतक अधीन देश निर्बल होता है और प्रभुताशील देश का विरोध पूर्ग रूपसे नहीं कर सकता तब तक प्रभुताशील देश उसपर अत्याचार करता है और उसे कुचलने का प्रयत्न करता है। अपनी शक्ति को पूर्ण रूप से दिखाता है और उसे अधिकाधिक शासन की श्रंखलाओं में जकड़ने के प्रयत्न करता है। अधीन देश के निवासियों में भिन्न-भिन्न प्रकार से फूट डालने का प्रयत्न करता है और उनकी किसी प्रकार की उन्नति नहीं होने देता। एकबार वारसैस्टर के डीन (Dean of Worcestor) ने भारतवर्ष के विषय में भाषण देते हुए यह कहा था कि "आओ भारतवर्ष की कठिनाइयों के कारण का अवलोकन करें। वास्तव में हमारे शासन ने भारतवर्ष को बड़ा लाभ पहुंचाया है। हमने बहुत काल तक लड़ाई झगड़ों को रोक कर वहां शान्ति स्थापित रखी है, हमने रेलें चलाई हैं। हमे अकाल में सहायता की है। हमने स्वास्थ्य की उन्नति की है। हमने उर्वरता की वृद्धि की है........... हमने भारतवर्ष की भौतिक आवश्यकताओं के लिये बहुत कुछ किया है परन्तु हमने भारत वासियों के प्रेम को प्राप्त नहीं किया है। ऐसा क्यों नहीं किया है ? क्योंकि हमने भारतवासियों की आत्मा को कष्ट पहुंचाया है" । नॉरमन टॉमस (Norman Thomas) नामक एक प्रसिद्ध समाजवादी नेता ने (जो संयुक्त राज्य अमेरिका का निवासी था) एकवार कटाक्ष में यह कहा था "बहुत से मनुष्य ६ फुट भूमि (जिसमें उन्हें अन्त में सोना है) के बाहर गर्व से इस कारण फूले नहीं समाते कि उनके पास एक साम्राज्य है।" प्रोफेसर हाकिंग (Prof. Hocking) का कथन है कि पाश्चात्य देशवासियों का यह विचार है कि जो बातें हमारे लिये अच्छी हैं वह हरएक के लिये भी अच्छी हैं। अज्ञानता वश वह बहुत सी वस्तुओं का नाश कर देते हैं। अरब का उदाहरण देते हुए हाकिंग ने बतलाया है कि पश्चिम ने अरब वालों की संस्कृति का नाश किया है। पश्चिम के यह देखने के लिये आंखें नहीं हैं कि "श्रेष्ठ जीवन, श्रेष्ठ विचार तथा भाषा, शिष्टाचार, आवभगत, बातचीत, भावुक कविता तथा आध्यात्मिकता में पूर्व आगे बढ़ा हुआ है।"

साम्राज्यवादी प्रभुताशील देश को भी अधीन देश से कोई विशे लाभ नहीं होता है। लीबिया के विषय में शूमैनने लिखा है कि "औपनिवेशिक अधिकारों का लीबिया एक पूर्ण उदाहरण है। कूटनीतिक शक्ति तथा गौरव के कारण प्रभुताशील देश के करदाताओं के सहारे उसपर अ कार स्थापित कर रखा है। इससे संपूर्ण राष्ट्र (देश) को किसी प्रकार का आर्थिक लाभ नहीं है और जिन पूंजीपतियों तथा बड़े व्यक्तियों ने समें धन लगा रखा है उन्हें भी साधारण ही लाभ है। * आर्थिक लाभ कभी संपूर्ण राष्ट्र को नहीं हुआ करता है वह तो केवल थोड़े से पूंजीपतियों को ही होता है। पी० टी० मून (P. T. Moon) का कथन है कि "किसी औद्योगिक साम्राज्य ने जो उपनिवेश प्राप्त किये हैं उनमें (वस्तुओं की खपत के लिये) भारतवर्ष सब से बड़ा बाजार है" † तिसपर भी इंगलैन्ड की साधारण जनता को कोई विशेष लाभ नहीं है। लियोनार्ड बार्न्स (Leonard Barnes) का कथन है कि "वास्तव में उपनिवेश वर्गीय वित्त (class assets) हैं जो ऐसे व्यक्तियों को लाभ पहुंचाते हैं जैसे पूंजी लगानेवाले तथा वस्तु-निर्माण करने वाले, परन्तु मजदूर जैसों को हानिकारक हैं। ‡

वास्तव में साम्राज्य से प्रभुताशील देश को हानि ही है, लाभ नहीं है। उपनिवेशों में उनकी रक्षा के लिये सेना रखनी पड़ती है। धन से सहायता करनी पड़ती है। प्रभुताशील देश की साधारण जनता को औपनिवेशिक व्यय का भार उठाना पड़ता है। जनता को अधिक कर देना पड़ता है। बड़े-बड़े पूंजीपतियों तथा उच्च शासन सम्बन्धी कर्मचारियों को ही इससे लाभ होता है। यह कहना कि बढ़ती हुई जन- स्ख्या को खपाने के लिये उपनिवेश आवश्यक है, निर्मूल है। उपनिवेश जन संख्या की वृद्धि की समस्या को हल नहीं कर सकता है। प्रभुताशील देश अधीन देश का वास्तव में सब प्रकार से शोषण ही करता है। अपने व्यापार की उन्नति करने के निमित्त अधीन देश के लिये अहितकर विधि-विधान बनाता है। प्रभुताशील देश सदैव अपने स्वार्थ के दृष्टिकोण से ही अधीन

---

* एफ० एल०—शूमैन—इन्टरनशनल पालिटिक्स-पृष्ठ ४०६।

† टी० मून०— म्पीरिअलिज्म ऐन्ड वर्ल्ड पालिटिक्स, पृष्ठ ५२०।

‡ ल० बार्न्स—फ्यूचर आफ़ कालोनीज़, पृष्ठ २१।

देश को देखता है और सब प्रकार उसका शोषण करके उससे लाभ उठाने का प्रयत्न करता है। प्रभुत्वशील देश के निवासी अपने को श्रेष्ठ समझते हैं और अधीन देश के लोगों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। बार्न्स का मत है कि "यह कहना सत्य तथा उचित है कि वर्तमान विशेषाधिकार प्राप्त दशा में ब्रिटेन का साम्राज्याधिकार शान्ति के लिये अक्षमणीय हैं।" लियोनार्ड बार्न्स के मतानुसार ब्रिटिश साम्राज्य का उद्देश्य निम्नलिखित है:–

(क) सब सदस्य राज्यों में शान्ति स्थापित रखना।

(ख) बाह्य अभिधावन के विरुद्ध रक्षा के लिये सहयोग की योजना।

(ग) सब सदस्य राज्यों के लिये व्यक्तिगत, आर्थिक तथा राष्ट्रीय स्वतंत्रता। बार्न्स के ये सिद्धान्त अधीन राज्यों के लिये लागू नहीं हैं। ये केवल स्वयं शासित उपनिवेशों के सम्बन्ध में ठीक समझे जा सकते हैं।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व साम्राज्यवाद का बोलबाला था। संसार में वह दृढ़ता से स्थापित था। कोई नहीं जानता था कि कभी ऐसी भी लहर आ सकती है कि जो साम्राज्यवाद की जड़ को हिला सकती है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् संसार में राजनीतिज्ञों के विचारों में बड़ा परिवर्तन हो गया है। शोषक तथा शोषितों में भेदभाव बढ़ता चला जा रहा है। संसार साम्यवाद की ओर बड़ी शीघ्रता से बढ़ा चला जा रहा है। कोई नहीं कह सकता कि इन विचारों की लहर कहां जाकर रुकेगी। यूरोप तथा एशिया का बहुत बड़ा भाग साम्यवाद से प्रभावित हो चुका है। ऐटम बम तथा हाइड्रोजन बम संसार को भय से कम्पायमान कर रहे हैं। वास्तव में आधुनिक काल एक नवीन प्रकार के साम्राज्यवाद के आगमन की ओर ध्यान आकर्षित कर रहा है। यह साम्यवादी साम्राज्यवाद के नाम से सम्बोधित किया जा सकता है। ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य (अमेरिका) इस लहर को रोकने का भरसक प्रयत्न कर रहे हैं। अब देखना यह है कि इस कार्य में इन राष्ट्रों को कहां तक सफलता प्राप्त होती है। दूसरी ओर रूसी साम्यवादी साम्राज्य के विचारों की लहर बड़ी शीघ्रता से फैलती चली जा रही है। यह कहावत प्रसिद्ध है कि 'दूर के ढोल सोहावने लगते हैं।'

संसार की साधारण जनता इस प्रकार के विचारों से बड़ी शीघ्रता के

* ल्यूनार्डबार्न्स––फ्यूचर आफ कॉलोनीज, पृष्ठ २१-२२।

साथ प्रभावित होती चली जा रही है। संसार के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ शान्ति के लिये चिल्ला रहे हैं। शान्ति स्थापित रखने के लिये ये लोकसंहारी विस्फोटक पदार्थों के निर्माण में लगे हुए हैं। अभी ठीक ठीक यह ज्ञात नहीं हुआ है कि ये प्रलयकारी विस्फोटक पदार्थ किस राष्ट्र के पास अधिक संख्या अथवा अधिक मात्रा में हैं। इसीलिये राष्ट्र एक दूसरे से भयभीत हैं और इसी कारण अभी शान्ति स्थापित है। जिस दिन किसी राष्ट्र को यह पता चल गया कि हमारे पास अन्य राष्ट्रों से अधिक इस प्रकार की वस्तुएं एकत्र हो गई हैं उसी समय तृतीय महायुद्ध आरम्भ होने की सम्भावना हो जायगी और संसार का बहुत बड़ा भाग प्रलय को प्राप्त होगा ।

साम्राज्यवाद के विशेष अध्ययन के लिये देखिए:--

एफ० एल० शूमैन — इन्टरनेशनल पालिटिक्स ।
डब्ल्यू० ई० हॉकिंग — स्पिरिट आफ वर्ल्ड पॉलिटिक्स ।
पी० टी० मून — इम्पीरियलिज्म ऐण्ड वर्ल्ड पालिटिक्स ।
ल्यूनार्ड वुल्फ — इम्पीरियलिज्म ऐण्ड सिविलीज़ेशन ।
एम० ई० ज़िमर्न — थर्ड ब्रिटिश एम्पायर ।
ल्यूनार्ड बार्न्स — ड्यूटी आफ एम्पायर ।
ल्यूनार्ड बार्न्स — फ्यूचर आफ कॉलोनीज़ ।
एच० ए० गिबन्स — इन्ट्रोडक्शन टु वर्ल्ड पालिटिक्स ।
जे० ए० हाब्सन — इम्पीरियलिज्म, ए स्टडी ।
सर जार्ज कार्नवाल लुइस— एसे आन दी गवर्नमेंट आफ डिपैन्डैन्सीज ।

The Pioneer Press, Lucknow—5402.